ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

चतुर्थ खण्ड ।

वेदों की शिक्षा ।

इसके पूर्व तीन खण्डों में हमने वेदों की प्राचीनता, वेदों की अपौरुषेयता और वेदों की उपेक्षा पर प्रकाश डाला है। हमने यथाशक्ति यह दिखलाने का यत्न किया है कि, वेद अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त हैं, अतः जब तक आर्यों ने उनके अनुकूल अपनी रहन–सहन, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-कर्म और नीति-आचार क़ायम रक्खा तब तक उनकी हर प्रकार से उन्नति रही, परन्तु जब से उनमें आलस आया, जब से उनमें विदेशियों का मिश्रण हुआ और जबसे उन्होंने मिश्रित सिद्धान्तों पर विश्वास करके अपनी रहन-सहन, शिक्षा–सभ्यता, धर्म–कर्म और नीति-आचार को आसुरी बना लिया और वेदों की उपेक्षा कर दी, तब से उनमें अनैक्य, अनाचार और अविद्या ने घर कर लिया और उनका हर प्रकार से पतन हो गया। इसलिए यह निर्विवाद और निस्संशय है कि जब तक हम समस्त आर्य हिन्दू संपूर्ण दूषित साहित्य को छोड़कर केवल वेदोंपर ही विश्वास करनेवाले न हो जायँ, वेदों की शिक्षा के अनुसार ही अपना आचरण न बना लें और वेदों के ही अनुकूल न हो जायँ, तब तक हमारी अनैक्यता, हमारी कुरीतियाँ और हमारा अज्ञान दूर नहीं हो सकता। परंतु वेदों के विषय में बड़े बड़े पण्डितों में भी अनेक प्रकार के असमञ्जस फैले हुए हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वेद और ब्राह्मण एक ही वस्तु हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि पहिले तीन ही वेद थे, अथर्ववेद बहुत दिन के बाद बना लिया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि वेदों की बहुत सी शाखाएँ लुप्त हो गई हैं, इसलिए अब वेद पूरे पूरे प्राप्त नहीं होते। कई लोग विचार करते हैं कि इन वेदों में बहुत सा ब्राह्मणों का भाग मिल गया है। अनेकों का विश्वास है कि वेदों में बहुत सी पुनरुक्ति है। कुछ का ख्याल है कि वेदों में लिखे हुए ऋषि, देवता और छन्दों का मतलब समझ में नहीं आता। अनेकों का कहना है कि वेदों में पशुहिंसा और अश्लीलता भरी हुई है और बहुत से लोग समझते हैं कि केवल वेदों के ही पठनपाठन से अथवा केवल वेदानुकूल ही अपनी रहन-सहन, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-कर्म और नीति-आचार बना लेने से काम नहीं चल सकता। इसलिए जब तक इन आक्षेपों का समुचित उत्तर न दिया जाय, वैदिक शिक्षा की एक पर्याप्त मंत्रसूची सप्रमाण न उपस्थित की जाय और जब तक प्राचीन आर्यसभ्यता का विस्तृत वर्णन न किया जाय

तब तक वेदों के अपौरुषेय सिद्ध हो जाने पर और यह सिद्ध हो जाने पर भी कि हमारा पतन वेदों की उपेक्षा से ही हुआ है, वेदों का जैसा चाहिये वैसा महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। इसलिए हम यहाँ इन आक्षेपों का यथामति उत्तर देते हुए, वेदमन्त्रों से ही वेदों की शिक्षा की एक विस्तृत सूची देते हैं और आर्य सभ्यता का विस्तृत वर्णन करते हैं, जिससे ज्ञात हो जायगा कि वेद कुत्सित आक्षेपों से पाक हैं और उनकी शिक्षा पूर्ण, विशाल और उपयोगी है।

हमारे इस वर्णन के तीन विभाग होंगे। पहिले विभाग में वेदों की आभ्यन्तरीय परीक्षा होगी दूसरे में वैदिक मंत्रों से वेदों की शिक्षा दिखलाई जायगी और तीसरे में आर्यसभ्यता का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

वेदों की आभ्यन्तरीय परीक्षा।

ऊपर जितने आक्षेप लिखे गये हैं, वे दो भागों में विभक्त हैं। एक विभाग वेदों की इयत्ता से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उनकी अन्तरङ्ग परीक्षा से। पहिले विभाग में वेद और ब्राह्मणों की एकता, अथर्व का वेदत्व, शाखाओं की गड़बड़, वेदों में प्रक्षेप और पुनरुक्ति आदि विषय हैं। इन विवादों के कारण यह नहीं सूचित होता कि, वेदों का परिमाण कितना है। दूसरे विभाग में ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का तात्पर्य तथा इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता आदि विषय सम्मिलित हैं। ये विषय वेदों की अन्तरङ्ग परीक्षा से संबंध रखते हैं। इस तरह से ये दोनों विभाग विचारणीय हैं। हम यहाँ क्रम से इनकी आलोचना आरंभ करते हैं और दिखलाते हैं कि वेदों की इयत्ता और अन्तरङ्गपरीक्षा से क्या तथ्य उपलब्ध होता है।

वेद और ब्राह्मण।

प्राचीन काल में वेद शब्द बड़े महत्त्व का समझा जाता था। जिस प्रकार शास्त्र शब्द किसी समय अनेक विषयों के लिए प्रयुक्त होने लगा था और धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि नामों से अनेकों विद्याएँ कही जाती थीं, जिस प्रकार किसी ज़माने में सूत्रों का महत्त्व बढ़ा और धर्मग्रंथ, क्रियाग्रंथ, व्याकरण और दर्शन आदि समस्त ग्रंथ सूत्रों में ही लिखे, पढ़े जाने लगे, जिस प्रकार स्मृतिकाल में अनेकों ग्रंथ स्मृति के नाम से, ब्राह्मणकाल में अनेकों ग्रंथ ब्राह्मणों के नाम से, पुराणकाल में पुराण शब्द का महत्त्व होने से अनेकों ग्रंथ पुराण शब्द से लिखे, पढ़े जाने लगे, ठीक उसी तरह वैदिक काल में वेद शब्द की महत्ता के कारण अनेकों विद्याएँ अनेकों पुस्तकें वेद के ही नाम से कही जाती थीं। यही कारण है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद कहा जाने लगा।

इतना ही नहीं किंतु वेद के नाम से अनेकों विद्याएँ प्रसिद्ध हो गईं। गोपथ ब्राह्मण १।१० में प्रसिद्ध चारों वेदों के अतिरिक्त पाँच प्रकार के अन्य वेदों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि 'ताभ्यः पंचवेदान्निरमिमत। सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति' अर्थात् उससे सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद निर्माण हुए। यहाँ इतिहास और पुराण भी वेद ही के नाम से कहे गये हैं। भरतकृत नाट्यशास्त्र में लिखा है कि—

सङ्कल्य भगवानेहं सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चैकं चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र)

अर्थात् चारों वेदों से संकलन करके भगवान् ने नाट्यवेद बनाया । ऋग्वेद से पाठ (Part) लिया, सामवेद से गीत लिया, यजुर्वेद से अभिनय लिया और अथर्ववेद से रसों का ग्रहण किया । यहाँ स्पष्ट ही नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहा गया है । यही क्यों, चरक और सुश्रुत को आयुर्वेद, नारदसंहिता को गान्धर्ववेद और एक अन्य पुस्तक को धनुर्वेद सभी लोग कहते हैं और इन्हीं नामों से व्यवहार करते हैं । यहाँ तक कि महाभारत को भी पञ्चम वेद के नाम से लिखा गया है और अल्लोपनिषद् भी वेद ही के नाम से प्रसिद्ध है । हमने तो एक कवि को एक राजा के सम्मुख यह कहते हुए सुना है कि, ' भूपति तिहारो गुन वेदन में गायो है । ' इसने अपनी इस कविता को भी वेद ही बना दिया है । कहने का मतलब यह कि वेद शब्द की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए केवल वेद शब्द के द्वारा हम अपने अभीष्ट वेदों तक नहीं पहुँच सकते और न श्रुति, आम्नाय आदि विवादास्पद शब्दों से भी हमारा अभिप्राय सिद्ध हो सकता है । अतएव हम इस नाम के जाल से हटकर अब यह जानना चाहते हैं कि वह कौनसी पुस्तक या वाक्यसमूह है, जो आदिसृष्टि से आज तक ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है । इस विचार के उपस्थित होते ही समस्त वैदिक साहित्य एक स्वर से कहता है कि—

अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ (बृहदारण्यक उपनिषद्)
त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत ।
यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात् । (ऐतरेय ब्राह्मण)
त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदः ।
वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः । (शतपथ–ब्राह्मण)
अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ (छान्दोग्य–उपनिषद्)
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयो ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ (मनुस्मृति)
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचःसामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (ऋग्वेद)
यस्मिन्नृचःसामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ॥
(यजुर्वेद)
यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । (अथर्ववेद)

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि, अपौरुषेयता और ईश्वरदत्तता, ऋग्यजुस्साम और अथर्व को ही प्राप्त है, अन्य को नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि बृहदारण्यक २।४।१० में लिखा है कि इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्या और अनुव्याख्या भी अपौरुषेय ही हैं। परन्तु हम गत पृष्ठों में उपनिषदों को मिश्रित सिद्ध करते हुए इस वाक्य के विषय में लिख आये हैं कि इसमें वर्णित सूत्रग्रन्थ बहुत ही आधुनिक हैं और वेदों में सूत्रों का पता भी नहीं है, इसलिए यह वाक्य प्रक्षिप्त है। इतना ही क्यों ? प्रक्षिप्त वचन तो लोगों ने यहाँ तक डाल हैं कि पुराणों को वेद के पहिले का बतला दिया है। मत्स्यपुराण ५३।३ में लिखा है कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्य विनिर्गतः ॥ (मत्स्यपुराण)

अर्थात् ब्रह्मा ने सब शास्त्रों के पूर्व पुराण बनाये और पुराणों के बाद वेद बनाया। यहाँ पुराणों को वेद से भी पहिले का कह दिया है, इसलिए इस प्रकार के वाक्य विश्वासयोग्य नहीं हैं। कहने का मतलब यह कि अपौरुषेयता ऋग्यजुस्साम और अथर्व को ही प्राप्त है, अन्य को नहीं। इसलिए अब देखना चाहिये कि, क्या कभी किसी ने ब्राह्मणों को ऋग्यजु आदि कहा है ? और क्या कभी ऋग्यजु आदि के अतिरिक्त भी किसी ने किसी अन्य ग्रन्थ को अपौरुषेय कहा है ? उत्तर एक स्वर से यही आता है कि नहीं। इस विषय का बहुत ही अच्छा निर्णय मीमांसाशास्त्र में किया गया है। यहाँ हम उस स्थल के समस्त सूत्र लिखते हैं—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः । विधिमन्त्रयोरकार्थ्यमैकशब्द्यात्
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या । शेषे ब्राह्मणशब्दः । अनाम्नातष्व-
मन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः । तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।
गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुः शब्दः । निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।

अर्थात् प्रेरणात्मक लक्षणवाला अर्थ ही धर्म है। विधि (प्रेरणा) और मन्त्र का एक ही अर्थ है, क्योंकि प्रेरणात्मकों को मंत्र कहते हैं और बाक़ी को ब्राह्मण कहते हैं। अनाम्नों (ब्राह्मणों) में अमन्त्रत्व है, अतः आम्नायों (मन्त्रों) का विभाग करते हैं। उन (मन्त्रों) में जिनकी अर्थसहित पादव्यवस्था है, वे ऋक् हैं, जो गाये जाते हैं वे साम हैं, बाक़ी के यजु हैं और सरलार्थवालों को चौथा—अथर्व—कहते हैं। इन सूत्रों में दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं। पहिले सूत्र में कहा गया है कि, 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः' अर्थात् जिसको मन्त्रत्व प्राप्त है उसी का विभाग करते हैं और जिसको मंत्रत्व प्राप्त नहीं है, उसको छोड़ देते हैं। इस प्रतिज्ञा के अनुसार ऋग्यजुःसाम आदि का ही विभाग किया है और ब्राह्मण को छोड़ दिया है। इससे ज्ञात हुआ कि ऋग्यजुस्सामादि को ही मन्त्रत्व प्राप्त है, ब्राह्मणों को नहीं। दूसरे सूत्र में स्पष्ट ही कह दिया है कि, 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या' अर्थात् प्रेरणात्मकों में ही मंत्रत्व है। तात्पर्य यह कि, जो ईश्वरदत्त हैं, वही मंत्र हैं और उन्हीं मंत्रों का ऋग्यजुस्सामादि में विभाग किया गया है। अतः मालूम हुआ कि ऋग्यजुस्सामादि ही ईश्वरप्रदत्त हैं—अपौरुषेय हैं, ब्राह्मण नहीं। क्योंकि ब्राह्मण शेष भाग हैं। कुछ लोग शेष शब्द पर कहते हैं कि मूल पदार्थ ही के बचे हुए भाग को शेष कहते हैं,

इसलिए ब्राह्मण भी वेद ही का भाग है। हम भी स्वीकार करते हैं कि शेष का अर्थ बाक़ी ही है, परंतु यहाँ शेष शब्द पारिभाषिक है, बाक़ी का बोधक नहीं*। मीमांसा ३।१।२ में ही लिखा हुआ है कि—

'अथातः शेषलक्षणम्। शेषः परार्थत्वात्।' अर्थात् अब शेष का लक्षण करते हैं। दूसरे के अर्थ को शेष कहते हैं। यही बात मीमांसा की दूसरी पुस्तकों में भी लिखी हुई है। एक जगह लिखा है कि 'विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि। अर्थात् विधि (मंत्र) की स्तुति करनेवाले को शेष ब्राह्मण कहते हैं। मतलब यह कि जो मंत्रों की व्याख्या करे—विस्तार करे—वही ब्राह्मण है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात हुआ कि ऋग्यजुस्सामादि ईश्वरप्रदत्त तथा अपौरुषेय हैं और उनके अर्थ—भाष्य—आदि शेष हैं—ब्राह्मण हैं, इसलिए ब्राह्मणों को अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं है। ब्राह्मणग्रंथ तो वेदों का अर्थ प्रतिपादन करनेवाले, उनके अभिप्राय को विस्तृत करनेवाले और समस्त वेदमंत्रोंको यज्ञों में विनियुक्त करनेवाले हैं। इस बात को प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है और माना है कि ब्राह्मणभाग मंत्रों की व्याख्या हैं। आपस्तम्ब ३६-३७ में लिखा है कि, 'ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः निन्दाप्रशंसापरकृतिः पुराकल्पश्च।' अर्थात् ब्राह्मणग्रंथों में अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्प का ही वर्णन है। इसी तरह वैशेषिकदर्शन ६।१।१ में 'बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे' लिखकर 'ब्राह्मणे संज्ञा कर्मसिद्धिलिङ्गम्' लिखा गया है, जिसका अर्थ होता है कि ब्राह्मणों में शब्दों की परिभाषा और शब्दों की सिद्धि के चिह्न पाये जाते हैं। यहाँ भी ब्राह्मणग्रंथ मंत्रों के ही अर्थों के बतलानेवाले कहे गये हैं। इसी तरह मीमांसादर्शन के 'विधिशब्दाश्च' सूत्र पर शबर स्वामी कहते हैं कि 'मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दवत् इत्युच्यते' अर्थात् ब्राह्मणों के शब्द मंत्रों के व्याख्यानरूप होने से विधि शब्दों की ही भाँति हैं। छांदोग्य उपनिषद् ७।१४।१ के भाष्य में स्वामी श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि—

ऋगादीन्मन्त्रानधीतेऽधीत्य च तदर्थं।
ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते॥

अर्थात् ऋग्वेदादि के मंत्रों को पढ़कर और उनके अर्थो और विधियों को ब्राह्मणग्रंथों से सुनकर कर्म करते हैं। यहाँ ब्राह्मणग्रंथों को मंत्रों का अर्थ करनेवाला ही बतलाया है। इसी तरह तैत्तिरीयसंहिता की भाष्यभूमिका में सायणाचार्य कहते हैं कि—

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि
ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मंत्रा एवादौ समाम्नाताः॥

अर्थात् यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण दोनों वेद कहलाते हैं, तथापि ब्राह्मणग्रंथ मंत्रों के व्याख्यान ही हैं, अतः मंत्र ही आदि में प्रादुर्भूत हुए। जयपूर राज्य के राजपण्डित श्रीयुत पं०

---

* शेष शब्द बाक़ी का भी बोधक है। मीमांसा में ही लिखा है, कि 'शेषे यजुःशब्दः।' परंतु 'शेषं ब्राह्मणशब्दः' में आया हुआ शेष शब्द पारिभाषिक है, इसलिए उसका अर्थ परार्थ ही है।

मधुसूदन शर्मा ने भी अपने 'वेदधर्मव्याख्यानम्' नामी निबंध में सिद्ध किया है कि ऋगादि मंत्र ही अपौरुषेय हैं और ब्राह्मण मनुष्यकृत हैं। इसी तरह इटावानिवासी पण्डित भीमसेन शर्मा ने गुजरानवाला में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करते समय ब्राह्मणग्रंथों का प्रमाण न मानते हुए लिखा था कि, 'पहिले मूलवेद का कोई मन्त्र लिखके उसके सीधे सीधे उत्तरार्थ लिखकर यह दिखाओ कि, मनुष्य को मारने, काटने और होमने चढाने की आज्ञा कहाँ है। मूल वेद ही में गौ को मारने काटने की आज्ञा दिखाओ। और जब तक यह न दिखा दो कि नरमेध, गोमेध (मनुष्य गौ का मारना) मूलवेद में नहीं है, तब तक अन्य का प्रमाण नहीं माना जावेगा + '। इस प्रकार से प्राचीन, मध्यमकालीन और अर्वाचीन विद्वान् एक स्वरस कहते हैं कि, ऋग्यजुस्सामादि मन्त्र ही अपौरुषेय हैं-ईश्वरप्रदत्त हैं और ब्राह्मणग्रन्थ उनके व्याख्यान हैं और मनुष्यकृत हैं। यह बात भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रीति से लिखी हुई है। गीता में लिखा है कि, उपनिषद् (जो ब्राह्मणों का ही भाग हैं) ऋषियों की रचना हैं ×। तात्पर्य यह कि, ऋग्यजुस्सामादि ही अपौरुषेय—वेद हैं, ब्राह्मण नहीं। क्योंकि ब्राह्मणग्रंथों को ऋषियों ने वेदों के व्याख्यानों का विस्तार करने के लिए बनाया है। इसीलिए ब्राह्मणों में सैकडों वेदमन्त्रों का अर्थ लिखा हुआ है। इतना ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणग्रंथों में, वेदों की शाखाओं और वेदों के खैलक भागों का भी वर्णन है *। शाखाभेद और खैलिक (प्रक्षेप) भाग दोनों आधुनिक हैं, इसलिए ये ब्राह्मणग्रंथ अपौरुषेय नहीं, प्रत्युत वेदों की अपेक्षा बहुत ही नवीन हैं, अतः उनसे और मूल मन्त्रसंहिताओं से कुछ वास्ता नहीं है।

अथर्ववेद ।

बहुत से लोगों का ख्याल है कि, अथर्ववेद ऋगादि तीनों वेदों के बाद बना है। वे अपने इस विचार की पुष्टि में दो दलीलें पेश करते हैं। वे कहते हैं कि, एक तो अनेकों जगह त्रयीविद्या का ही नाम आता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ही के नाम कहे जाते हैं, दूसरे अथर्ववेद का नाम अथर्ववेद के सिवा अन्य तीनों वेदों में नहीं आता, इसलिए अथर्ववेद बाद का है। हम यहाँ इन दोनों दलीलों की आलोचना करके बतलाना चाहते हैं कि, ये दोनों दलीलें निस्सार हैं। जो लोग कहते हैं कि, त्रयीविद्या से अभिप्राय ऋक्, यजु और साम ही से है, वे ग़लती पर हैं। त्रयीविद्या का यह मतलब ही नहीं है। त्रयीविद्या का अभिप्राय तो ज्ञान, कर्म और उपासना है। ज्ञान, कर्म, उपासना ही का वर्णन चारों वेदों में आता है, इसलिए चारों वेद त्रयीविद्या कहलाते हैं, तीन ही नहीं। महाभारत में लिखा है कि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाकृतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा। (महाभारत शांति० १३५)

अर्थात् ऋग्यजुस्साम और अथर्व में ही त्रयीविद्या है। यहाँ त्रयीविद्या के साथ चारों वेदों

+ भीमज्ञानत्रिंशिका का परिशिष्ट, पृष्ठ ३।
× ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
* ऐतरेय ब्रा० १४।५ और २८।८, ऐतरेय आ० ३।५।३।

के नाम दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि, त्रयीविद्या का अभिप्राय चारों वेदों से ही है। दूसरी बात यह है कि चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मंत्र हैं, इसलिए चारों वेदों का समावेश तीन में हो जाता है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥

अर्थात् विनियोग किये जानेवाले मंत्र चारों वेदों में तीन ही प्रकार के हैं। मीमांसा में इन तीनों प्रकार के मंत्रों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि, जिन मंत्रों के अर्थ के साथ पादव्यवस्था है वे ऋक्, जो गाने योग्य हैं वे साम और जो इन दोनों के अतिरिक्त हैं वे सब यजु हैं ×। इससे ज्ञात होता है कि वेदों को तीन ही विभागों में विभक्त करने का कारण मंत्रों के तीन प्रकार और उन मंत्रों में प्रतिपादित तीन (ज्ञान, कर्म, उपासना) विषय ही हैं। रहा यह कि प्राचीन ग्रंथों में तीन ही वेदों के नाम कहे गये हैं, यह गलत है। समस्त ब्राह्मणग्रंथों में तीनों वेदों के साथ अथर्ववेद का भी वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि, 'अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'। यहाँ स्पष्ट अथर्व का नाम आया है। इसी तरह ताण्ड्य महाब्राह्मण १२।९।१० में लिखा गया है कि, 'भेषजं वा अथर्वणानि' अर्थात् अथर्व में औषधि विद्या का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह अथर्व का ही विशेष ज्ञाता होता है। उसके लिए सर्वत्र ही लिखा हुआ है कि—'अथर्ववेदी ब्रह्मा' अर्थात् ब्रह्मा अथर्ववेदवाला ही हो। इन प्रमाणों से विदित होता है कि, तीनों वेदों के साथ अथर्व की गणना समस्त प्राचीनतम साहित्य में है, इसलिए त्रयीविद्या अथवा कारणवश केवल ऋग्यजुः और साम का ही नाम आ जाने से यह न समझना चाहिये कि अथर्ववेद तीनों वेदों के बाद बना है। अथर्ववेद उतना ही प्राचीन है जितने प्राचीन ऋग्यजुः और साम हैं।

इस दलील के अतिरिक्त अथर्ववेद के नवीन होने में जो दूसरी दलील दी जाती है कि, अथर्ववेद का नाम ऋग्यजुः और साम में नहीं आता, वह भी निस्सार ही है। हम लिख आये हैं कि अथर्व में भी उसी त्रयीविद्या का वर्णन है और उसी प्रकार के मंत्रों का समावेश है, जिस प्रकार से अन्य तीनों वेदों में है, किन्तु अथर्ववेद के मंत्र कुछ सरलार्थबोधक हैं इसलिए अथर्व का पृथक् अस्तित्व स्थिर किया गया है। मीमांसा में लिखा है कि, 'निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्' अर्थात् विशेषता के कारण ही निगद नामक चतुर्थ वेद का अस्तित्व है। अथर्व का निगदत्व ही उसको तीनों से पृथक् किये हुए है। बाकी सब बातें चारों की समान ही हैं। यही कारण है कि अथर्व न तो तीनों से अलग ही हो सकता है, न तीनों में समा ही सकता है और न ऋग्यजुः और साम की तरह उसका कोई स्थिर नाम ही रक्खा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में हमको अथर्ववेद के चार नाम—निगद, ब्रह्म, अथर्व और छन्द—मिलते हैं। ये चारों नाम इसके चार गुणों के कारण पड़े हैं। निगद नाम इसका इसकी सरलता के कारण पड़ा है, जैसा कि हमने ऊपर मीमांसा के प्रमाण से लिखा है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म है। अथर्ववेद १५।७।८ ही में लिखा है कि, 'तमृचश्च सामानि च

× तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुः शब्दः ।

यजूंषि च ब्रह्म च ' यहाँ ऋग्, यजुः और साम के साथ ब्रह्म का भी नाम है। यही बात गोपथब्राह्मण में इस तरह लिखी है कि, 'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः' यहाँ स्पष्ट तीनों वेदों के साथ ब्रह्मवेदका भी खुलासा कर दिया गया है। इसका यह ब्रह्मवेद नाम इसलिए पड़ा है कि, यज्ञ का अधिष्ठाता ब्रह्मा इसी वेद के साथ नियुक्त होता है। ब्राह्मणग्रंथों में लिखा है कि ' ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः, सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा ' अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा नियुक्त करे। अथर्ववेद से ब्रह्मा का नियुक्त करने के लिए गोपथब्राह्मण में कहा गया है कि ' अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् । अथर्वांगिरोविद् ब्रह्माणम् ' अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है--अथर्व का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इसका अभिप्राय यही है कि चारों वेदों का जाननेवाला अर्थात् ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इसी से ब्रह्मा चार मुखवाला कहलाता है। तात्पर्य यह है कि, यज्ञ में ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्व से ही होती है, इसलिए अथर्व का नाम भी ब्रह्मवेद रक्खा गया है। इसी तरह इसका तीसरा नाम अथर्व है। अथर्ववेद में विराट् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम् । (अथर्व० १०।७।२०)

इस मंत्र में तीन वेदों से विराट् के अन्य अन्य अङ्ग बतलाये गये हैं, परन्तु अथर्व से विराट् का मुख बतलाया गया है। विराट् के मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद में लिखा है कि ' मुखादग्निरजायत ' अर्थात् विराट् के मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। मालूम हुआ कि अथर्व भी अग्नि ही है। ऊपर के मंत्र में स्पष्ट ही अथर्व के साथ अंगिरस शब्द आया है। अंगिरस अगारों को कहते है। इससे स्पष्ट हो गया कि, अथर्व अग्नि ही है। जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा विशेष वस्तु है, उसी तरह यज्ञ में अग्नि भी प्रधान वस्तु है। अग्नि प्रधान होने से ही अथर्ववेद का यज्ञ में विशेष स्थान है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ ने अथर्ववेद के ही अनुसार पुत्रेष्टि यज्ञ किया था *। ऋग्वेद में भी अथर्व को यज्ञ-प्रधान कहा गया है। वहाँ लिखा है कि ' यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ' अर्थात् अथर्वा ने पहिले यज्ञ से धर्ममार्ग क़ायम किया, ' अग्निर्जातो अथर्वणः ' अर्थात् अथर्वा से अग्नि उत्पन्न हुई और ' त्वमग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ' अर्थात् हे अग्नि ! तुझको पुष्कर (आकाश) में अथर्वा ने मथकर निकाला। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि अथर्व यज्ञ का भी वाचक है। अग्नि और यज्ञ का वाचक होने से ही अथर्व नाम इस वेद के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद का चौथा नाम छन्द भी है। अथर्ववेद १८।४।२४ में ही लिखा हुआ है कि ' ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह '। इस मंत्र में ऋग्, यजुः साम के साथ अथर्व को छन्दांसि कहा गया है। अन्य नामों की अपेक्षा इसका यह नाम अधिक युक्तियुक्त है। यह नाम इसके प्रधान निगद गुण के कारण पड़ा है। निगद सरलार्थ छन्दों को कहते हैं। इस वेद में हर प्रकार के छन्द हैं और सब सरलार्थद्योतक ही हैं,

* इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः । (वाल्मीकि बाल० ८।६)

इसीलिए इसका नाम छन्दवेद है। इसका यह नाम जिस मंत्र में आता है, वह मंत्र चारों वेदों में आया है। यहाँ हम उस मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यह मंत्र पुरुषसूक्त का है और पुरुषसूक्त चारों वेदों में आता है, इसलिए यह मंत्र चारों वेदों में आया हुआ समझना चाहिए और मानना चाहिये कि चारों वेदों में अथर्व को छंद कहा गया है। कुछ लोग इस छंद शब्द से वेदों में आये हुए अनेक छंदों का ग्रहण करते हैं, पर यह उनकी भूल है। क्योंकि जब चारों वेद ही छंदों में हैं *, तब वेदों का नाम आने से ही छंदों का नाम आ गया और अलग छंद कहने की कोई आवश्यकता न रही, प्रत्युत सब छंदवाले वेदों के साथ—ऋक्, यजुः, साम के साथ—छंद का नाम आने से यही सिद्ध होता है कि, यहाँ यह छंद शब्द अथर्व के ही लिए आया है। यह बात हमारी कल्पना नहीं है। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण स्वयं अथर्ववेद को छंदवेद कहने का कारण बतलाता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि, '**अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्थानम्**' अर्थात् अथर्ववेद का चन्द्रमा देवता है वही ज्योति है, सभी प्रकार के छंद हैं और जलस्थान है। यहाँ सभी प्रकार के छंद कहकर बतला दिया गया है कि, अथर्ववेद में सब प्रकार के सरलार्थबोधक छंद हैं। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।५ में लिखा है कि '**यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि**'। यहाँ ऋग्, यजुः, साम के साथ छंदवेद का वर्णन किया गया है। यही नहीं, किंतु ऋग्वेद ९।११३।६ में स्पष्ट कर दिया गया कि, '**यत्र ब्रह्मा पवमान—छन्दस्यां वाचं वदन्**' अर्थात् जहाँ यज्ञ में ब्रह्मा छंदवाणी बोलता है। यज्ञ में ब्रह्मा अथर्ववेद से ही नियुक्त होता है। यही बात इस ऋचा में कह दी गई है। ऋचा कहती है कि, ब्रह्मा छंदवाणी बोलता है। इसका मतलब यही है कि, ब्रह्मा अपने अथर्ववेद को पढ़ता है। इस तरह से स्पष्ट हो गया कि, छंद अथर्ववेद ही है। पुराणों में तो यह बात बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्याः सविस्तराः॥ (हरिवंशपुराण)

यहाँ ऋग्, यजुः साम के साथ 'छन्दांसि अथर्वणानि' कहा गया है, जिससे अब निर्विवाद हो गया कि अथर्ववेद का ही नाम छंदवेद है। इस छंदवेद का वर्णन चारों वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों में एक स्वर से अथर्ववेद के ही लिए किया गया है, इससे कह सकते हैं कि अथर्ववेद का वर्णन चारों वेदों में आता है। यही नहीं, किंतु पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रंथ गाथा में भी अथर्ववेद को छंद ही कहा गया है।

हम बचपन से यह बात सुनते आते हैं कि मुसलमानी, यहूदी और पारसी आदि धर्म अथर्ववेद से ही निकले हैं। परंतु अथर्ववेद के पन्ने उलटने पलटने पर कहीं भी हमको अल्ला

---

* तीनों वेद छंदों में ही हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएं भी किसी न किसी छंद के ही नाम से लिखी हैं।

बिसिमिल्ला का पता न मिला । हमने समझा कि सम्भव है यह बात सत्य न हो, किन्तु पारसी धर्म की पुस्तकों और उन पुस्तकों के पढ़ने से जिनको योरोपीय विद्वानों ने ढूँढ तलाश के साथ लिखा है, यह बात खुल गई कि इसलाम आदि धर्मों का स्रोत अथर्ववेद ही से कहा है । अरबी भाषा के प्रसिद्ध पण्डित और कुरानशरीफ़ के ज्ञाता सेल साहब अपनी कुरान की भूमिका में लिखते हैं कि 'हज़रत मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिए हैं और यहूदियों ने पारसियों से' + । पारसियों के विश्वासों के सम्बन्ध में मार्टिन हॉग कहते हैं कि 'पारसियों के पुराने साहित्य गाथा में महात्मा ज़रदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अङ्गिरा की प्रशंसा करते हैं, जिसका वेदों में वर्णन है' × । गाथा के जिस श्लोक में अङ्गिरा का वर्णन आता है, वह यह है—

> स्पन्तेम अतच्वा मज़्दा में गही अहुरा
> हत मा वोहु पइरि–जसत् मनंगहा
> दंक्षत् उष्या तुष्ना मइतिश वहिश्ता
> नांइत ना पोउरुश् द्रेग्वतो ख्यात् चिक्स्नुषो
> अत् तो वीस्पेंग अंग्रेंग अषाउना आदरे । (गाथा, य० १८ । १२)

अर्थात् हे अहुरमज्द ! मैंने तुझे आबादी करनेवाला जाना । जब तेरा संदेश लानेवाला अङ्गिरा मेरे पास आया, तो उसने ज़ाहिर किया कि सन्तोष सबसे अच्छी चीज़ है । एक पूर्ण मनुष्य कभी भी पापी को राज़ी नहीं रख सकता । क्योंकि वह सत्य ही का पक्ष करता है । इस श्लोक में अंग्रेग शब्द अङ्गिरा के लिए आया है । अङ्गिरा अथर्व का ही वाचक है । क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' अर्थात् अथर्व-अङ्गिरा विराट् का मुख है । इस वाक्य में अथर्व और अंगिरा एक वस्तु कहलाये गये हैं । इसलिए ज़रदुस्त देव जिस अंगिरा के द्वारा परमात्मा का संदेश अपने पास आना बतलाते हैं, वह अथर्ववेद ही है, अथर्ववेद छन्दवेद कहलाता है, इसीलिए पारसी–धर्म का उपदेश जिस साहित्य के द्वारा हुआ है वह भी ज़न्द अथवा ज़न्दावस्था कहलाता है । ज़न्द और ज़न्दावस्था छन्द और छन्दावस्था का ही रूपान्तर है । प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि ज़न्द शब्द संस्कृत के छन्द शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसे पाणिनि और अन्य विद्वानों ने वैदिक

+ Mohammed borrowed from tne jews who learned the names and offices of those beings from the Persians, as they themselves confess. (Talmud Hieros and Roshbashan. Sale's Koran, p 56.)

× In the Gatha (which are the oldest parts of the Zend-Avasta) we find Zarthushtra alluding to old revelation and praising the wisdom of Saoshyants, Atharvas, fire-priests. He exhorts his party to respect and revere the Angra (yas. XVIII, 12) i. e. the Angiras of the Vedic hymns– Hung's Essays, p. 294.

भाषा के लिए कहा है' * । छन्द शब्द वैदिक भाषा में वेदों के लिए इसी कारण प्रयुक्त हुआ है कि, वेदों का चतुर्थ भाग अथर्व छन्दवेद ही कहलाता है । पारसियों का अथर्ववेद ही से अधिक सम्बन्ध है, इसलिए उनके साहित्य का छन्द नाम अथर्ववेद ही के कारण पड़ा है । अतएव अथर्ववेद के छन्दवेद होने में अब कुछ भी संदेह नहीं है । इस प्रकार से हमने यहाँ तक देखा कि अथर्ववेद त्रयीविद्या के अन्तर्गत है, और अथर्ववेद का नाम समस्त प्राचीन साहित्य तथा ऋग्यजुः और सामवेद में उसी तरह आता है, जिस तरह दूसरों का, इसलिए अथर्ववेद भी उसी तरह अपौरुषेय है, जिस तरह ऋग्यजुः और साम तथा अथर्ववेद को भी उसी तरह वेदत्व प्राप्त है, जिस प्रकार ऋग्यजुः और साम को ।

वेदों की शाखाएँ ।

यह स्पष्ट हो जाने पर कि ब्राह्मणग्रंथों को अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं है—वे संहिताओं के व्याख्यान ही हैं—और यह भी स्पष्ट हो जाने पर कि अथर्ववेद भी अपौरुषेय है, वेदों की इयत्ता निर्धारित हो जाती है और ज्ञात हो जाता है कि अपौरुषेय वेद चार हैं और उनके नाम ऋग्, यजुः साम और अथर्व हैं । परंतु जब देखते हैं कि प्राचीन काल में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की सैकड़ों शाखाएँ थीं और अब भी आठ दश शाखाएँ उपलब्ध हैं, तब वेदों की इयत्ता का प्रश्न पहिले से भी अधिक जटिल हो जाता है । क्या वेदों की शाखाएं वृक्ष की शाखाओं की भाँति किसी अन्य स्तम्भ (मूल) से सम्बन्ध रखती हैं, क्या वेदों की अनेकों शाखाओं के लुप्त हो जाने से वेदों का बहुत सा भाग नष्ट हो गया और क्या प्राप्त शाखाओं में परस्पर कोई अन्तर नहीं है—सब एक ही प्रकार की हैं ? इत्यादि अनेकों प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका समाधान किये बिना वेदों की इयत्ता निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है । इसलिए हम यहाँ शाखाओं का तत्त्व, उनका इतिहास, प्राप्त शाखाओं का रहस्य और इयत्ता आदि विषयों को संक्षेप से लिखते हैं और दिखलाते हैं कि, वेदों का शाखाप्रकरण कितना विचारणीय है ।

शाखातत्त्व पर विचार करनेवाले देशी विद्वानों में तीन ही विद्वान् उल्लेखनीय हैं । सबसे पहिले स्वनामधन्य पंडित सत्यव्रत सामश्रमी हैं । आपने 'ऐतरेयालोचन' नामी ग्रंथ में शाखाओं पर अच्छा प्रकाश डाला है । आपके बाद स्वामी हरिप्रसाद ने 'वेदसर्वस्व' नामी ग्रंथ में शाखाओं का विस्तृत वर्णन किया है और इनके बाद रिसर्च स्कालर पं० भगवद्दत्त बी० ए० ने भी शाखाओं पर लिखा है । इन विद्वानों ने शाखाएँ क्या है, आदि में कितनी शाखाएँ थीं और अब कितनी प्राप्त हैं प्राप्त, शाखाओं का विवरण क्या है और उनमें कितना अन्तर है आदि विषयों पर प्रकाश डाला है । इनके वर्णनों को पढ़कर शाखा विषय में प्रवेश हो जाता है और अनायास ही यह प्रश्न सामने आ जाता है कि इन सब प्राप्त शाखाओं में ज्येष्ठत्व किनको है और कौन कौन सी शाखाएँ आदि हैं और अपौरुषेय हैं । इसलिए हम चाहते हैं कि यहाँ शाखाओं से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को संक्षेप-

---

* I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word छन्दः Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others.

(Chips from a German workshop. Voi. I, p. 84.)

रूप से लिखकर यह बतलाने का यत्न करें कि किन शाखाओं को ज्येष्ठत्व है और कौनसी शाखाएँ अपौरुषेय हैं।

वैदिक काल में जिस समय केवल वेदों का ही पठनपाठन होता था, वैदिक विद्वान् एक, दो, तीन अथवा चारों वेदों को पढ़ते थे और इसी पठनपाठन की योग्यता के अनुसार ऋग्वेदी, यजुर्वेदी और सामवेदी अथवा त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि कहलाते थे, उस समय केवल चार वेदों का ही पठनपाठन होता था और इन चारों वेदों का स्वरूप ऋक्, यजुः साम और अथर्व ही था। अर्थात् अर्थवश पादव्यवस्थावाले मंत्र ऋग्वेद, गाये जानेवाले साम, स्वरार्थ छन्दोवाले अथर्व और बाक़ी बचे हुए गद्याकृति छन्दोंवाले यजुः कहलाते थे +। इन्हीं चारों भेदों के ज्ञाता ऋग्वेदी, यजुर्वेदी अथवा द्विवेदी, त्रिवेदी थे, परन्तु जब इस प्रकार की योग्यतावाले और इन इन उपाधियोंवाले ब्राह्मण बहुत हो गये और प्राचीन मौलिक वेदों के पठनपाठन का प्रचार पुराना हो गया तथा वेदोंमें सन्देह होने लगा तब नवीन नवीन प्रकार की संहिताओं की सृष्टि होने लगी। आदिम मूल संहिताओं का स्वरूप संहिता ही था।

संहिता नाम ज्यों के त्यों मंत्रों का है। संहिता का अर्थ करते हुए पाणिनि मुनि अष्टाध्यायी १।४।१०९ में कहते हैं कि 'परः सन्निकर्षः संहिता' अर्थात् 'पदान्तान्पदादिभिः सन्दधाति यत्सा' अर्थात् पदों के अन्त का अन्य पदों के आदि के साथ सन्धि-नियम से बांधने का नाम संहिता है। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि 'पदप्रकृतिः संहिता' अर्थात् पदों की प्रकृति का—असली हालत का—नाम संहिता है। आदिमकालीन संहिताएँ, संहिता ही थीं। उनमें मंत्रों के पद अलग अलग न थे। सब मंत्र संधियुक्त ही थे। परन्तु कुछ दिन के बाद पदार्थ करने में तकरार होने लगी। कोई 'न तस्य' को 'नतस्य' कहने लगा और कोई 'न तस्य' ही। ऐसी दशा में आवश्यकता हुई कि पदों का विच्छेद पाठ भी जारी किया जाय। अतः वैदिक आचार्यों ने अलग अलग करके एक एक संहिता की दो दो संहिताएँ बना लीं।

यहीं से शाखाओं का आरम्भ हुआ। यह आरंभकाल बहुत प्राचीन है। यह काल ब्राह्मणकाल के बहुत पूर्व का है। क्योंकि शाखा—आरम्भकाल के बहुत दिन बाद संहिताओं में खिलि भाग—प्रक्षिप्त भाग—जोड़े गये हैं और खिलिक भागों का वर्णन ब्राह्मणों में है, इससे प्रतीत होता है कि शाखाओं का आरंभ बहुत ही पुराकाल में हुआ था। इसके अतिरिक्त शाखाओं के ही कारण गोत्रों का प्रचार भी हुआ है। शाखाप्रचारक ही प्रायः गोत्र-प्रवर्तक भी देखे जाते हैं *। इन गोत्रप्रवर्तक ऋषियों का समय बहुत प्राचीन है, इससे भी पाया जाता है कि शाखाओं का आरंभ अत्यन्त पुरा काल में ही हुआ है। उपर्युक्त प्रकृति-

---

+ प्रायः लोग समझते हैं कि चार वेदों का विभाग व्यास ने किया है, परन्तु यह भ्रम है। व्यास के पूर्व तो उपनिषद् और ब्राह्मण ही उपस्थित थे, जिनमें वेदों की शाखाओं और उन शाखाओं में प्रक्षेपों तक का वर्णन है। शाखाविभागों के पूर्व भी चार प्रकार के मंत्रों की अलग अलग योजना थी और चारों ऋक्, यजु, साम और अथर्व के नामों से अलग अलग प्रसिद्ध थे।

* वेद का पढ़ानेवाला भी पिता है। मनुस्मृति में 'गरीयान्मन्त्रदः पिता' लिखा है। यह शाखाप्रचारक मन्त्रदा पिता ही नाती पोते—शिष्य प्रशिष्य—का गोत्र हो जाता था।

संहिता और पदसंहिता का लक्षण करते हुए ऐतरेय आरण्यक ३। १३ में लिखा है कि—

'यद्धि सन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपं अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्य'

अर्थात् जिसमें संधि ज्यों की त्यों बनी रहती है, वह निर्भुजसंहिता है और जिसमें सन्धि के बिना केवल पदों का उच्चारण होता है, वह प्रतृण्णसंहिता है। उदाहरण के लिए जिसमें 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस प्रकार का पाठ है, वह निर्भुजसंहिता है और जिसमें इस प्रकृतिपाठ का 'अग्निम् ईळे पुरः हितम्' करके पदपाठ कर दिया गया है, वह प्रतृण्णसंहिता है। इन दोनों प्रकार की संहिताओं में न पाठभेद होता है और न पाद न्यूनाधिक ही होता है। इन दोनों में सब मंत्र ज्यों के त्यों बने रहते हैं। प्राचीन काल में इसी प्रकार की शाखाएँ थीं, परन्तु कुछ दिन के बाद इससे भी सन्तोष न हुआ। वेदों के शुद्ध रखने के लिए मंत्रों के पाठ करने की अनेक विधियों का आयोजन हुआ और प्रत्येक विधि भी अलग अलग एक एक शाखा बन गई। ऐतरेय आरण्यक ३। १३ में लिखा है कि 'अथ उ एवोभयमन्तरेणोभयव्याप्तं भवति' अर्थात् आगे चलकर प्रतृण्णसंहिता उक्त दोनों के योग और घन—जटा—माला आदि भेदों से विकृत रूप हो जाती है और क्रमसंहिता कहलाती है। इसका भी मतलब यह है कि जिसमें मूल मंत्र हों, उनके पद भी अलग अलग हों और इन पदों की विकृति भी हो, वह क्रमसंहिता है। क्रमसंहिता के इस विकृत प्रकरण को लेकर व्याडि मुनि ने एक विकृतवल्ली नाम का ग्रन्थ ही बना डाला है। उस ग्रन्थ में लिखा है कि—

जटा माला शिखा लेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः ॥ (विकृतवल्ली १/५)

अर्थात् जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन आदि आठ भेद हैं। इन भेदों के कारण पहिली शाखाओं के आठ भेद हो गये और उनकी संख्या दशबारह हो गई। परन्तु इतने पर भी संतोष न हुआ। गोत्रप्रवर्तन और शाखासम्प्रदाय से प्रेरित होकर वैदिक आचार्यों ने शाखाओं के भेदों में और भी अधिक वृद्धि की। बृहद्देवता १।१४ में लिखा है कि 'देवतार्षार्थछन्दोभ्यो वैविध्यं तस्य जायते' अर्थात् देवता, ऋषि, अर्थ और छन्दभेद से सूक्तों के अनेक भेद हो गये। सभी जानते हैं कि प्रत्येक मंत्र का देवता, ऋषि, छन्द और अर्थ होता है। अतः इस सूक्तक्रम से भी संहिताएँ बनीं। अमुक देवतावाले सूक्तों के बाद अमुक देवतावाले सूक्तों को रखकर जो संहिता बनाई गई, वह दैवत शाखा कहलाई। इसी तरह अमुक ऋषिवाले सूक्तों के बाद अमुक ऋषिवाले सूक्तों को रखकर जो संहिता बनाई गई, वह आर्षशाखा कहलाई। इसी तरह अमुक अर्थवाले सूक्तों के बाद अमुक अर्थवाले सूक्तों के क्रमवाली संहिता अर्थशाखा और अमुक छन्दवाले सूक्तों के बाद अमुक अर्थवाले सूक्तों के क्रमवाली संहिता छान्दशाखा कहलाई। यद्यपि मंत्रों का इतना अधिक उलट फेर हुआ, परंतु अब तक मंत्रों में पाठभेद अथवा न्यूनाधिक्यता नहीं हुई। उपर्युक्त समस्त शाखाविभागों की संख्या चौदह पंद्रह तक पहुँची—प्रत्येक संहिता इतने इतने प्रकारों की हो गई—किन्तु मन्त्रों में गड़बड़ नहीं हुई।

गोत्रप्रवर्तक वैदिक ऋषियों का शाखाभेद इतने ही दर्जे का था। वे मानते थे कि पठन-पाठन शैली में तो भेद हो, परंतु मूल मंत्रों में भेद न पड़ने पावे। मीमांसादर्शन १।१।३० में शाखातत्त्व का निर्वचन करते हुए जैमिनि मुनि ने लिखा है कि 'आख्याप्रवचनात्' अर्थात् प्रवचन के कारण ही शाखा नाम हुआ है। जो ऋषि मूल मंत्रों को जिस क्रम से पढ़ाते थे, केवल वह क्रम ही अमुक शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। शाखा का मतलब यह कभी न रहा कि वेदों का अमुक भाग शाखा है। भाग, अंश, चरण आदि भाव शाखा के नहीं है, प्रत्युत शाखा का मतलब पठनपाठन का क्रम ही है—शैली ही है—। महाभाष्य की कारिका (अष्टा० ४।१ ६३) में लिखा है कि 'गोत्रं च चरणैः सह' अर्थात् चरण के साथ गोत्र। यहाँ चरण शब्द शाखा के ही लिए आया है और चरण—आचरण—पठन—अध्ययन आदि ही अर्थ रखता है। परंतु बहुतों ने चरण शब्द का मतलब वेदों का एक देश—एक भाग—समझा है। उनको चरण शब्द का आचरण—तरीक़ा—अर्थ ग्रहण करने की नहीं सूझी। पर महाभाष्य की इस कारिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट महोदय लिखते हैं कि 'चरणशब्दोऽध्ययनवचनः' अर्थात् चरण शब्द अध्ययन का वाचक है। कहने का मतलब यह कि चरण और शाखा आदि शब्द वेदों के पठनपाठन की शैली—तरीक़ा के ही वाचक हैं, वेदों के विभाग के बोधक नहीं। इस शाखातत्त्व पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी 'ऐतरेयालोचन' में लिखते हैं कि 'स्वतो नहि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव' अर्थात् वास्तव मे वेद की शाखाएँ न तो वृक्षों की शाखाओं की भाँति हैं और न नदी की शाखाओं की भाँति है, प्रत्युत वे पठनपाठन भेद से संप्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप हैं। इन निष्पत्ति से जाना गया कि वेद की शाखाएँ वेद का अंश या भाग नहीं हैं प्रत्युत पठन पाठन का भिन्न भिन्न प्रकार हैं। यह बात हम उन शब्दों से भी जान सकते हैं, जो शाखाओं के लिए प्रयुक्त हुए है। अनेक ग्रन्थों में लिखा है कि—

एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः। (महाभाष्य)

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेद कृतवान् पुरा।
शाखानां तु शतं नाथ यजुर्वेदमथाकरोत्॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः।
आथर्वाणामथो वेदं विभेद नवकेन तु॥ (कूर्मपुराण)
पंचैते शाकला शिष्या शाखाभेदप्रवर्तकाः। (विकृतवल्ली)
शाखासु त्रिविधा भूप शाकलयास्कमाण्डुकाः॥ (देवीपुराण)
सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसन्।
यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति अथर्ववेदस्य नवभेदा भवन्ति
(चरणव्यूह)

यहाँ जितने वाक्य उद्धृत हुए हैं, सबमें शाखाओं के लिए भेद, विधि, वर्त्मा, धा, आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी शब्द प्रकार, तरीक़ा और ढग आदि के ही वाचक हैं, खण्ड,

भाग, प्रकरण, देश और अंश आदि के नहीं। इससे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि शाखाएँ वेदों के भाग नहीं, प्रत्युत भेद ही हैं। भेद में घटाव बढ़ाव की गुंजायश नहीं रहती, केवल अदला बदली ही हो सकती है। यही कारण है कि दैवत, आर्ष आदि विभागों तक मंत्रों की अदला बदली ही हुई है। जब तक इस प्रकार की अदलाबदलीवाली शाखाएँ बनती रहीं तब तक वेदों के स्वरूप मे अन्तर नहीं पड़ा—उनमें घटाव बढ़ाव नहीं हुआ—किंतु कृष्णयजुर्वेद के अवतार धारण करते ही वैदिक शाखाओं में उथलपाथल शुरू हुआ। रावणादिकृत साहित्य के सम्मिश्रण से शाखाओं में गड़बड़ मचा और संहिताओं मे ब्राह्मण भाग तथा ब्राह्मणेतर भाग भी मिला मिलाकर अथवा मूल मंत्रों को ही घटा घटाकर और पाठभेद कर करके अनेक शाखाओं को जन्म दिया गया। पुराने ग्रंथों में शाखाओं की जो संख्या लिखी हुई है, वह हज़ारों तक पहुँची है और सबमें मतभेद है। महाभाष्यकार चारों वेदों की शाखाएँ ११३१ बतलाते हैं। सर्वानुक्रमणी में ११३७ लिखी हैं। कूर्मपुराण के अनुसार ११३० हैं और चरणव्यूह में ११६ ही लिखी हुई हैं। इसी तरह अन्य ग्रंथों में भी मनमानी संख्याएँ पाई जाती हैं। इन अनिश्चित संख्याओं में आर्य अनार्य सभी शाखाएँ गिन ली गई हैं। इसलिए हम आवश्यक समझते हैं कि मूल आर्य शाखाओं का पता लगावें।

जिस समय गोत्र और शाखाप्रचार की धूम हो रही थी, उस समय एक एक वेद की अनेकों शाखाएँ हो गई थीं। मूल मंत्रों की ज्यों की त्यों रक्षा करते हुए केवल मंत्रों के उलट फेर से जितनी शाखाएँ हो सकती थीं, उतनी हुईं। हम उन शाखाओं को आर्यशाखा कहते हैं। परंतु रावणसम्प्रदाय के कारण जितनी शाखाएँ बनीं, उनमें आर्य शाखाओं की अपेक्षा दो बातें अधिक हुईं। एक बात तो यह हुई कि मंत्रों में पाठभेद किया गया और उनके साथ आसुरी साहित्य, ब्राह्मणभाग और मनःकल्पित बाह्य संस्कृत का मिश्रण करके शाखाएँ बनाई गईं और दूसरी बात यह हुई कि मंत्रों का बहुत सा भाग निकाल डाला गया और मंत्रों का रूप विकृत करके छोटे छोटे वेदांशों का नाम भी शाखा रक्खा गया। इन दोनों प्रकारों से बनी हुई शाखाओं को हम अनार्य शाखाएँ कहते हैं। आर्य शाखाओं का उत्तम नमूना शाकल और बाष्कल आदि शाखाएँ हैं और अनार्य शाखाओं का नमूना तैत्तिरीय और काठक आदि है। आर्य शाखाओं में उलट फेर के अतिरिक्त न्यूनाधिकता नहीं है, पर अनार्यशाखाओं में दोनों बातें विद्यमान हैं।

ऋग्वेद की मूल आर्यशाखा के अतिरिक्त अब तक किसी अनार्यशाखा का पता नहीं मिला। कहते हैं कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ थीं, परंतु इस समय ऋग्वेद की शाकल और बाष्कल दो ही शाखाएँ एक में मिली हुई मिलती हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में लिखा है कि—

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम ॥

अर्थात् ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं का स्वाध्याय करके बड़े यत्न से उनको आदि में पीछले पहिल शाकल ऋषिने शाखा का रूप दिया और शाकल के बाद अन्य चार शाखा-

कारों ने अन्य शाखाओं का प्रवचन किया । इस प्रमाण से पाया जता है कि सबसे प्रथम शाकल ऋषि ने ही शाकल शाखा का प्रवचन किया है। शाकल ऋषि अत्यंत प्राचीन हैं और उनकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है । क्योंकि शाकलसंहिता के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि—

यदस्य पूर्वमपरं यदस्य यद्वस्य परं तद्वस्य पूर्वम् ।
अहेरिव सर्पण शाकलस्य न विजानन्ति यतरत् परस्तात् ॥
(ऐतरेय ब्रां० १४.५)

अर्थात् शाकलसंहिता का जैसा आदि है जैसा ही अंत है और जैसा अंत है वैसा ही आदि है। जिस तरह सर्प की चाल आदि से अंत तक एक समान होती है, इसी तरह शाकलसंहिता का भी क्रम एक ही समान है, उस की गति में कोई भेद नहीं कर सकता। इस प्रमाण में शाकल की प्राचीनता और उसकी शाखा की एकरसता स्पष्ट दिखलाई पड़ रही है। उपर्युक्त श्लोक ऐतरेय के गाथाभाग का ही है और ब्राह्मणों का गाथाभाग ब्राह्मणों के पूर्व साहित्य का निर्विवाद है, इसलिये इसकी प्राचीनता आदिम काल तक पहुँचती है। इस आदिमकालीन प्रमाण में शाकलशाखा की पूर्णता और एकरसता का स्पष्ट वर्णन है, इसलिए शाकलसंहिता ही आदिम संहिता है, इसमें संदेह नहीं। अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है कि—

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम् ।
प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः ॥

अर्थात् मण्डल, अनुवाक् और सूक्तों में शाकल ने अपनी शाखा का प्रवचन किया। मालूम हुआ कि जिस शाखा में मण्डल, अनुवाक् और सूक्त हों, वह शाकलसंहिता है। वर्तमान शाकलसंहिता में ये लक्षण पाये जाते हैं अतः शाकलसंहिता ही आदि है। क्योंकि लिखा हुआ है कि 'पठितः शाकलेनादौ' अर्थात् उसका सबसे पहिले शाकल ने ही प्रवचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि बाकी शाखाएँ शाकल के बाद ही बनी। विकृतवल्ली की टीका में लिखा है कि—

शिशिरो बाष्कलः शाङ्खो वातश्चैवाश्वलायनः ।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ॥

अर्थात् शाकल ऋषि की शिष्यपरम्परा में पाँच ही आचार्य—शिशिर, बाष्कल, शाङ्ख वात और आश्वलायन—शाखाभेद के प्रचारक हैं। इन पाँचों में बाष्कल बहुत प्राचीन हैं। इसी ने ऋग्वेद को अष्टक, अध्याय और वर्गों में सङ्कलित किया है। इस तरह से ये दोनों शाकल और बाष्कल शाखाएँ अत्यन्त प्राचीन अर्थात् आदिम कालीन हैं। कोई कोई महानुभाव शाकल को शाकल्य भी मानते हैं और कहते हैं कि शाकल शाखा का पदपाठ करनेवाला शाकल्य ही है और शाकल्य के कारण ही उनका शाकल शाखा नाम पड़ा है, परंतु हमको इस विवाद से मतलब नहीं है। शाकलसंहिता चाहे शाकल के नाम से प्रसिद्ध हुई हो चाहे शाकल्य के, देखना तो यह है कि जब ऋक् प्रातिशाख्य में स्पष्ट रीति से कह दिया गया है कि 'पठितः शाकलेनादौ' अर्थात् सबसे पहिले आदि में शाकल ने

ही इसका प्रवचन किया तब इस बात के लिए स्थान ही नहीं रह जाता कि इसके पहिले भी कोई और शाखा थी। शाकल्य अथवा शाकल ने ही सबसे पहिले प्राचीन प्रकृति और पदपाठयुक्त संहिता को दश मण्डलों और एक सहस्र सूक्तों में विभक्त किया है। इसीलिए यह संहिता दाशतयी अर्थात् दशवाली कहलाती है। इस शाखा के पश्चात् थोड़े ही दिनों में इनके प्रधान शिष्य बाष्कल ने उसी शाखा को अष्टक, वर्ग और अध्यायों में भी विभाजित कर दिया। पर इस विभाजन के कारण मन्त्रों के केवल संख्या अङ्क ही फिरे और किसी प्रकार का फेरफार नहीं हुआ। इसीलिये वैदिकों ने दोनों को एक ही मानकर एक में मिला दिया। अब तक दोनों शाखाएँ एक ही में मिली हुई मिलती है और केवल इतिहासस्मरणार्थ दोनों प्रकार के पते वर्तमान ऋग्वेद के पृष्ठों में लिखे रहते हैं। यह क्रम आदिकाल ही से चला आ रहा है। इस प्रकार से यह आदि प्रवचनकर्ता की स्थिर हुई ऋग्वेदशाखा प्राप्त है और इसमें अब तक आरंभिक संहिता के प्रकृत मन्त्र और पदपाठ दोनों एक ही में छपते हैं। वर्तमान ऋग्वेदसंहिता के सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द के भाष्यों में मंत्र और पदपाठ तथा मण्डल, सूक्त और अष्टक, वर्ग आदि चारों आरंभिक और प्राथमिक चिह्न आज तक लिखे हुए मिलते हैं, इसलिए आदिम अपौरुषेय ऋग्वेदसंहिता पूर्ण रूप से प्राप्त है इसमें जरा भी संदेह नहीं।

शाकल और बाष्कल शाखाओं के संयुक्त रूप के अतिरिक्त अब ऋग्वेद की कोई दूसरी शाखा नहीं मिलती। कहते हैं कि कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में ऋग्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली शांख्यायनी शाखा मिलती है, पर उसका स्वरूप अस्तव्यस्त है। अस्तव्यस्तता के अतिरिक्त वह शाकल के शिष्यों की प्रवचन की हुई है, इसलिए शाकल की अपेक्षा उसको ज्येष्ठत्व-अपौरुषेयत्व-प्राप्त नहीं हो सकता। ऋग्वेद से सम्बन्ध रखनेवाला शाखाभेद इतना ही है।

यजुर्वेद की शाखाएँ किसी समय एक सौ एक तक पहुँची थीं, किन्तु इस समय केवल पाँच ही मिलती हैं। इन पाँचों में तीन शाखाएँ कृष्णवेद से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। कृष्णवेद का विस्तृत वर्णन हम तृतीय खण्ड में कर चुके हैं। हमने वहाँ अच्छी तरह दिखला दिया है कि कृष्णवेद रावणकाल से आरम्भ होकर द्रविडकाल तक बनता रहा है। उसमें असल यजुर्वेद का भाग तो थोड़ा है, पर रावणकृत प्राचीन वेदभाष्य का, ब्राह्मणग्रंथों का और अन्यान्य स्थलों का ही बहुत बड़ा भाग मिश्रित है। इस कृष्णयजुर्वेद से संबंध रखनेवाली इन तीनों शाखाओं में एक तैत्तिरीयों की और दो चरकों की है। तैत्तिरीयों की तैत्तिरीय और चरकों की कठ और मैत्रायणी कहलाती हैं। हम लिख आये हैं कि चरकों का संबंध तैत्तिरीयों से ही है। तैत्तिरीय शाखावाले ही चरक नामी यज्ञ करानेवाले का वरण करते हैं, इसलिए ये तीनों शाखाएँ आर्यसम्प्रदाय में मान्य नहीं हो सकतीं और न अपौरुषेय मूल यजुर्वेद की शाखाएँ हो सकती हैं। हमने बतला दिया है कि अवैदिक शाखाओं में दो ऐब हैं। इन तीनों की रचनाओं में वैही पूर्वोक्त दोनों ऐब पाये जाते हैं। शाखाओं का प्रधान ऐब मिश्रण है, अर्थात् बाह्य सामग्री को लेकर मूलसंहिताओं की वृद्धि है और दूसरा ऐब मूल संहिता के मन्त्रों को घटाकर छोटा कर डालना है और पाठभेद कर देना है। हम देखते हैं कि तैत्तिरीय शाखा में मिश्रण हुआ है—बाह्य सामग्री से उसकी वृद्धि की गई है और कठ तथा

मैत्रायणी शाखाएँ घटाई गई हैं–उनसे असल मंत्र निकाल डाले गये हैं और कहीं कहीं पाठभेद किया गया है। जहाँ तैत्तिरीय की मन्त्रसंख्या बढ़ाकर १८००० कर दी गई है,+ वहाँ कठ शाखा में घटाकर २६४ और मैत्रायणी में घटाकर ६५४ ही मंत्र रक्खे गये हैं। इतने पर भी पाठभेद इतना किया है कि उनको यजुर्वेद कहने में भी संकोच होता है। इस ह्रास-विकास से भी उक्त शाखाएँ विश्वासयोग्य नहीं रहीं और न उनकी गणना मूल यजुर्वेद में हो सकती है ×।

यजुर्वेद की पाँच शाखाओं में अब केवल दो ही शाखाएँ रह जाती हैं। ये दोनों शाखाएँ वाजसनेयी कहलाती हैं। इनके नाम माध्यन्दिनीय और काण्व हैं। माध्यन्दिनीय शाखा यही है, जिस पर उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द ने भाष्य किया है। काण्वशाखा भी भाष्य-सहित अलग मिलती है। जर्मनीवालों ने तो माध्यन्दिनीय के साथ काण्वशाखा के पाठ भेद को भी अलग करके छाप दिया है। यद्यपि अंतर बहुत कम है, तथापि अपौरुषेय वेद में एक मात्रा का भी अन्तर सहनेयोग्य नहीं हो सकता, इसलिए इस बात का निर्णय हो जाना अत्यन्त आवश्यक है कि इन दोनों में से ज्येष्ठत्व किसको है–कौन मूल और कौन परिवर्तित है। हमको अब तक जितने प्रमाण मिले हैं, उनके देखने से यही प्रतीत होता है कि माध्यन्दिनीय शाखा ही असल है, काण्व शाखा नहीं।

हमने तृतीय खण्ड में उपनिषदों में मिश्रण सिद्ध करते हुए लिखा है कि काण्वशाखा में बृहदारण्यक का भाग मिश्रित है और यह मिश्रण द्रविडदेश में तैत्तिरीय शाखाओं के हाथ से हुआ है। काण्वऋषि का तैत्तिरीय शाखावालों से कुछ न कुछ संबंध अवश्य रहा है। उपनिषदों के संग्रह करनेवाले और उनमें आसुरी भावों के भरनेवाले द्रविड ही हैं। जब उन्होंने ईशोपनिषद् को काण्वशाखा और बृहदारण्यक उपनिषद् से ही सजाया है तब स्पष्ट है कि द्रविडों में काण्वसंहिता का ही मान रहा है, माध्यन्दिनीय का नहीं। स्वामी हरिप्रसाद वेदसर्वस्व पृष्ठ १५४ में लिखते हैं कि 'शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य इस काण्वयजुःसंहिता के ही मुख्य अध्यापक थे।' इसका कारण स्पष्ट है कि काण्वऋषि का संबंध द्रविड देश से रहा है। द्रविड ही देश से नहीं, किंतु जिस प्रकार कृष्णयजुर्वेद के चरक लोक मद्रदेश से भी संबंध रखते थे। उसी तरह काण्वऋषि भी न केवल मद्रासप्रांत तक प्रत्युत मिश्रदेश तक धावा लगाते थे, धावा ही न लगाते थे, उन्होंने मिश्रदेश से दश हजार मिश्रियों को लाकर भारतीय आर्यों में मिश्रित कर दिया था, जिसका इतिहास पुराणों में लिखा हुआ मिलता है *। इससे सिद्ध है कि आर्यों में मिश्रियों के मिलाने के कारण और द्रविडों के साथ सम्बन्ध रखने के कारण काण्वऋषि को अपने विचारों में कुछ

+ 'अष्टादश यजुःसहस्रमधीत्य शाखापारो भवति (चरणव्यूह)' अर्थात् तैत्तिरीय यजुर्वेद में अठारह हजार मंत्र हैं।

× 'द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मन्त्रे वाजसनेयके' अर्थात् मूल यजुर्वेद में एक सौ कम दो हजार मंत्र हैं।

* सरस्वत्या सह यो कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ।
म्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दश सहस्रकाम् ॥

फेरफार अवश्य ही करना पड़ा होगा । हमारा अनुमान है कि माध्यन्दिनीय में आये हुए मंत्रों के अतिरिक्त काण्वशाखा में जो फेरफार हुआ है—पाठभेद और न्यूनाधिकता हुई है—उसका कारण काण्वऋषि का विचारपरिवर्तन ही है । विचारपरिवर्तनों से ही सम्प्रदायों की सृष्टि होती है । अतएव काण्वऋषि ने भी अपना एक अलग शाखासम्प्रदाय प्रचलित किया और सनातन यजुर्वेद में यत्किञ्चित् पाठभेद करके अपनी अलग एक शाखा बना दी । काण्वऋषि के इस घालमेल का वर्णन महाभारत में सारांशरूप से लिखा हुआ है । महाभारत में काण्व कुलपति का विस्तृत वर्णन है । शकुंतला इन्हीं काण्व के आश्रम में रहती थी । वहाँ अनेक विद्यार्थी वेदाध्ययन करते थे । इस अध्ययन—अध्यापन में वेदों की शाखाओं का उलट फेर होता था, एक शाखा में दूसरी और दूसरी में तीसरी का मिश्रण किया जाता था । महाभारत—मीमांसा पृष्ठ २११ में श्रीयुत चिंतामणि विनायक वैद्य लिखते हैं कि 'काण्व कुलपति के आश्रम में अनेक ऋषि ऋग्वेद के मंत्र पढ़ते थे । व्रतस्थ ऋषि सामवेद का गान करते थे । साम और अथर्व के मंत्रों का पदक्रमसहित उच्चारण सुनाई दे रहा था । वहाँ पर एक ही शाखा में अनेक शाखाओं का समाहार करनेवाले और अनेक शाखाओं की गुणविधियों का समवाय एक ही शाखा में करनेवाले ऋषियों की धूम थी × ।' इस वर्णन से पाया जाता है कि काण्वऋषि के आश्रम में वेदों की शाखाओं का जोरों से उलट फेर होता था काण्वऋषि से सम्बन्ध रखनेवाले महाभारत के श्लोक अभी फुटनोट में दिये गये हैं, उनमें

'अथर्ववेदप्रवराः पूगयाज्ञियसामगाः । संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते' ॥

यह श्लोक विशेष महत्त्व का है । इसका अर्थ यह है कि अथर्ववेद के जाननेवाले अनेक शाखाओं को एक में और एक को अनेक में मिलानेवाले, यज्ञकर्म के जाननेवाले अनेक सामवेद के गानेवाले ऋषि पदक्रम के सहित संहिता को मिला रहे थे । यहाँ पूग शब्द बड़ा ही मनोरंजक है । अष्टाध्यायी ५।२।५२ में और ५।३।११२ में पाणिनि ने 'बहुपूगगण संघस्य तिथुक् । पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' लिखा है । अन्तिम सूत्र की वृत्ति में भट्टोजी दीक्षित लिखते हैं कि 'नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः,' अर्थात् अनेक जाति और अनियतवृत्त तथा अर्थ काम प्रधानवाले गोल का नाम पूग है । अर्थात् जिसमें अनियमित रीति से अनेक प्रकार की भिन्नभिन्न वस्तुओं का संग्रह हो वह पूग कहलाता है । उपर्युक्त काण्व के आश्रम में भी अनियमित रीति से अनेक शाखाओं का घालमेल एक में होता था, इसीलिए उस घालमेल को पूग कहा गया है । पुराने जमाने में अनेक वर्ण के साधु जब एक जगह मिलते थे, तो उनके संघ को पूग कहते थे । बौद्ध भिक्षु

× ऋचो बह्वृच मुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥
यज्ञविद्यांगविद्भिश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ।
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः ॥
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ।
अथर्ववेद प्रवराः पूगयाज्ञियसामगाः ॥
संहितामीरयन्तिस्म पदक्रमयुतां तु ते । (महाभारत)

भी प्रायः अनेक जाति के व्यक्तियों से अपना संघ बनाते थे, इसलिए वे भी पूग कहलाते थे। इसीलिए बरमा में बौद्धभिक्षु पूगी कहलाते हैं। कहने का मतलब यह कि काण्व के आश्रम में यजुर्वेद में पूग अर्थात् घालमेल होता था। यही कारण है कि काण्वशाखा में उलटफेर और घालमल मौजूद है। इस घालमल, उलटफेर और न्यूनाधिकता के ही कारण वैदिकों में उसका उतना आदर नहीं रहा, जितना माध्यन्दिनीय का है। लोग कहते हैं कि माध्यन्दिनीय और काण्वशाखा को लेकर भी ब्राह्मण बने हैं, परन्तु इससे काण्वशाखा को वह महत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता, जो माध्यन्दिनीय को प्राप्त है। ब्राह्मणकाल में तो सभी शाखाओं पर अलग अलग ब्राह्मण थे, अतएव ब्राह्मणों के कारण शाखाओं की ज्येष्ठता और कनिष्ठता में अन्तर नहीं पड़ सकता। शाखाओं की ज्येष्ठता तो उनकी शुद्धता पर अवलम्बित है। काण्वशाखा की अपेक्षा माध्यन्दिनीय शाखा की शुद्धता सर्वमान्य है। यही कारण है कि माधवाचार्य, उवट, महीधर और स्वामी दयानन्द आदि ने माध्यन्दिनीय शाखा पर ही भाष्य किया है। माध्यन्दिनीय शाखा की ज्येष्ठता का सबसे प्रबल और ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि जितने शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं, सब माध्यन्दिनीय शाखा के ही हैं, काण्वशाखा के नहीं। इसलिए माध्यन्दिनीय शाखा ही आदि मूल और अपौरुषेय है, इसमें सन्देह नहीं। यही यजुर्वेद की शाखाओं का खुलासा है।

सामवेद की किसी ज़माने में एक हज़ार तक शाखाएँ हो गई थीं, परन्तु इस समय उनका कहीं पता नहीं है। चरणव्यूह की टीका में महीदास ने लिखा है कि 'आसां षोडशशाखानां मध्ये तिस्रः शाखा विद्यन्ते गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा, कर्नाटके जैमिनीया प्रसिद्धा, महाराष्ट्रे तु राणायनीया' अर्थात् इसकी सोलह शाखाओं में अब केवल तीन ही शाखा विद्यमान हैं। इनमें कौथुमी शाखा गुजरात में जैमिनीय शाखा कर्नाटक में और राणायनी शाखा महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है परन्तु स्वामी हरिप्रसाद वेदसर्वस्व के पृष्ठ १७४ में कहते हैं कि 'संभव है महीदास के समय में गुर्जर आदि देशों में उक्त तीनों शाखाओं की प्रसिद्धि हो, पर इस समय तो वे नहीं पाई जातीं......मुद्रणालयों में तो अब तक जितनी संहिता मुद्रित हुई हैं, वे सब कौथुमी शाखा संहिता ही हैं।' तात्पर्य यह कि अब केवल एक कौथुमी शाखा पाई जाती है और वह ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के साथ ही सनातन से पठनपाठन में चली आ रही है। मद्रास और महाराष्ट्र देश में सामवेदी ब्राह्मण शायद ही कहीं ढूँढने से निकल आवें, किंतु गुर्जर प्रांत के उदीच्यों में सामवेदियों की अधिकता है। उदीच्य निस्संदेह उत्तरीय ब्राह्मणों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं और उत्तरीयों में सामवेदियों की संख्या बहुत अधिक है, इसलिए उत्तर भारत से संबंध रखनेवाली और गुर्जर तक फैली हुई कौथुमी शाखा ही आर्यशाखा है और आर्यशाखा ही मौलिक है, अतएव कौथुमी शाखा के आदिम अर्थात् अपौरुषेय होने में कुछ भी संदेह नहीं है।

किसी समय अथर्व की भी नौ शाखाएँ थीं, किंतु इस समय पैप्पलाद और शौनक दो ही शाखाएँ मिलती हैं। इन दोनों शाखाओं में देखना है कि कौन असल और कौन नकल है। इस समय अथर्व से संबंध रखनेवाला केवल गोपथब्राह्मण ही मिलता है। गोपथ-ब्राह्मण में अथर्वसंहिता के बीस काण्ड लिखे हैं, किंतु पैप्पलादसंहिता में उन्नीस ही काण्ड

है । इससे मालूम होता है कि यह शाखा अपने ब्राह्मण के अनुसार नहीं है । स्वामी हरिप्रसाद कहते हैं कि अथर्ववेद के केवल दश ही काण्ड हैं, बीस नहीं । वेदसर्वस्व पृष्ठ १०८ में आप कहते हैं कि 'अथर्वसंहिता का आरम्भ 'स्तुवानमग्ने' (अथर्व १।७।१) मन्त्र से और उपसंहार 'वशां देवा' (अथर्व १०।१०।३४) मन्त्र पर होता है, शेष दश काण्ड अङ्गिरोवेद परिशिष्ट हैं'। परन्तु हम अथर्ववेद के दशवें काण्ड ही में देखते हैं कि उसमें 'यस्मादृचो अपातक्षन्......अथर्वांगिरसो मुखम्' लिखा हुआ है । यह अथर्ववेद में दशवें काण्ड के सातवें सूक्त का बीसवाँ मन्त्र है । इसके आगे दशवें काण्ड में अभी साढ़े तीन सूक्त और हैं, जिनमें २२९ मंत्र हैं । इतने मंत्रों के पहिले ही और दशवें काण्डमें ही 'अथर्वांगिरसो मुखम्' कह दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि अथर्व को अङ्गिरा का शाखा स्वीकार है । जब दशमें काण्ड में ही स्वयं अथर्ववेद ही अंगिरोवेद को स्वीकार कर रहा है तब आपको, गोपथब्राह्मण को अथवा और किसी को क्या अधिकार है कि वह अथर्व को बीस काण्ड के स्थान में दश ही काण्ड का कहे ? अथर्ववेद बीस काण्ड का सर्वमान्य है, इसलिए उसके प्रधान मे अग को जुदा नहीं किया जा सकता । किन्तु हम देखते हैं कि पैप्पलाद संहिता में गोपथब्राह्मण के विरुद्ध बीस काण्ड के स्थान में उन्नीस ही काण्ड हैं, इसलिए यह शाखा आर्य-शाखा नहीं है ।

हमारा यह अनुमान और भी दृढ हो जाता है, जब हम देखते हैं कि पैप्पलादसंहिता का संबंध आर्यों से विरोध करनेवाले पारसियों से रह चुका है । हम अथर्ववेद का वेदत्व सिद्ध करते हुए लिख आये हैं कि पारसी धर्म अथर्ववेद से ही निकला है । इस बात को जब और अधिक बारीकी से देखते हैं तो ज्ञात होता है कि पारसीधर्म अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से ही निकला है । पैप्पलादसंहिता का आरंभ 'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये' मंत्र से होता है । गोपथब्राह्मण १।२९ में लिखा है कि 'शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते' अर्थात् शन्नो देवी मंत्र से आरम्भ करके अथर्ववेद पढ़ना चाहिये । यही बात हम पारसीधर्म की प्राचीनतम पुस्तक में भी पाते है । यहाँ भी अथर्ववेद का इशारह शन्नोदेवी मंत्र से ही किया गया है । होमयस्त १।२४ में लिखा है कि—

> हओमो तम् चित् यिम् केरेसानीम् अप-क्षथ्रेम्
> निषाधयत्, योरओस्त क्षथ्रो काम्य यो दवत्
> नोइत में अपाम् आथ्रव अइविशतिश वेरध्ये
> दंघ्रद्व चरात्; होवीस्पे वरेधनाम्वनात्,
> नी वीस्पे वरेधनाम् जनात् । होमयस्त १।२४

अर्थात् जो केरेसेनी बादशाही के कारण बड़ा ही मगरूर हो गया था और जो बोलता था कि मेरे राज्य में तमाम बुद्धि के नाश करनेवाले अथर्वा के 'अइविशतिश अपाम्' का फैलाव न फैले उसको होम ने बादशाही से दूर करके नीचे बैठाल दिया इस × श्लोक में आये

× Home deposed Keresani from his sovereignty whose lust of power had so increased that he said; no Atharva's (fire priest's) repetition of 'Apam Aivishtish' (approach of the water) should be tolerated in my empire. (Haugh's Essays, p. 182.)

हुए 'अइविशतिश अपाम्' पद अथर्वसंहिता का 'अभिष्टय आपो' ही है ×। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि 'शन्नो देवीरभिष्टय आपो' मन्त्र से, जैसा कि हम गोपथब्राह्मण के प्रमाण से लिख चुके हैं, पैप्पलादसंहिता ही का आरम्भ होता है, शौनकसंहिता का नहीं। इसलिए पैप्पलादसंहिता का सम्बन्ध विदेशियों से—आर्यविरोधियों से—रहा है, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान पैप्पलादसंहिता में गोपथ के विरुद्ध बीस काण्ड के स्थान में उन्नीस ही काण्ड रह गये हैं। इसके फेरफार में ईरान देश के पारसियों का हाथ रहा है, इसलिए उसका अब शुद्ध रूप नहीं रह गया। पं० जयदेव विद्यालङ्कार अपने अथर्ववेदभाष्य की भूमिका में कहते हैं कि 'पैप्पलादसंहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों के विपरीत हैं कि उनको मूल वेद मानना ही असम्भव है'। इसलिए पैप्पलादशाखा मूलसंहिता का स्थान नहीं प्राप्त कर सकती। मूल आर्ष और अपौरुषेय संहिता तो शौनक-संहिता ही है। वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ समानता से पठन पाठन में चली आ रही है, इसलिए शौनकसंहिता ही सनातन ईश्वरप्रदत्त है, इसमें सन्देह नहीं है।

इन चारों ईश्वरप्रदत्त शुद्ध संहिताओं में न तो एक अक्षर की कमी हुई है और न अधिकता। इनमें शाखाप्रचारकों की ओर से जो परिवर्तन हुआ है, वह इतना ही है कि प्रकरणों की सुविधा के लिए आदिम शाखाप्रचारकों ने मण्डल, अष्टक, काण्ड अध्याय और सूक्तों की रचना करके मन्त्रों का ग्रंथन कर दिया है और यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए इस वेद के मंत्र उस वेद में, इस अध्याय या सूक्त के उस अध्याय या सूक्त में तथा ऋग्वेद के कुछ सूक्तों को छोड़कर शेष समस्त काण्डों, आर्चिकों, अध्यायों और सूक्तों में मन्त्रों को आगे पीछे रख दिया है। बस, इसके सिवा उन्होंने और कुछ नहीं किया। यह सब कुछ भी उन्होंने अपनी मर्ज़ी से केवल सुविधा के लिए ही किया है। इसलिए यह शाखासम्पादन पौरुषेय ही है। किन्तु इस सम्पादन से न तो किसी मंत्र में एक मात्रा की न्यूनता हुई है न अधिकता, प्रत्युत समस्त मंत्रसमूह आदिम काल से लेकर आज पर्यंत विना किसी भूल के ज्यों का त्यों चारों संहिताओं में सुरक्षित है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक चारों वेदों के शाखाप्रकरण की आलोचना करके देखा, तो मालूम हुआ कि वेद के किसी भी भाग, अंश या अक्षर की कमी नहीं हुई +। हाँ, उनमें

× These words (Apam aivishtish) are evidently a technical name for the Atharva Veda Samhita, which commences in some manuscripts with the mantra "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये" in which both words occur. (Haugh's Essys, p. 182.)

+ These hymns, however, were not committed to writing on papyrus, palm-leaves or baked clay-bricks, but to human memory carefully cultivated for the purpose and were handed down from generation to generation without the loss of even a single word or syllable.

(Rigvedic India, p, 5, by Abinash Chandra Dass.)

फेरफार हुआ है—मन्त्रों की उलट पलट हुई है। इसीलिए महाभाष्यकार कहते हैं कि वेदों के छन्द और अर्थ नित्य हैं, परन्तु उनमें जो वर्णों की आनुपूर्वीयता है, वह शाखाभेद के कारण अनित्य है ×। किन्तु इस उलट पलट से वेदों में कुछ भी कमी नहीं आई। वे ज्यों के त्यों उतने ही अब भी प्रस्तुत हैं, जितने सृष्टि की आदि में थे। पर स्वामी हरिप्रसाद ने लिखा है कि वर्तमान संहिताओं में बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है और बहुत सा भाग पुनरुक्त है, इसलिए हम यहाँ इन दोनों विषयों की भी आलोचना करके देखते हैं कि इस आरोप में कहाँ तक सत्यांश है।

प्रक्षेप और पुनरुक्ति।

जहाँ तक हमको ज्ञात है, अब तक एक भी प्रमाण इस प्रकार का नहीं उपस्थित किया गया कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है और इसको आज तक कोई नहीं जानता था। जिन स्थानों को प्रक्षिप्त बतलाया जाता है, वे बहुत दिन से—ब्राह्मणकाल से—सबको ज्ञात है। वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार के परिशिष्ट हैं, जो लेखकों और प्रेसवालों की असावधानीसे मूल में घुस कर मूल जैसे मालूम होते हैं। वालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मणभाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महानाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्तापसूक्त अथर्ववेद मे मिले हुए हैं। इनको सब लोग जानते हैं और सबके विषय में विस्तृत प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थल यजुर्वेद और अथर्ववेद में और हैं जिनकी सूचना उन्हीं वाक्यों से हो जाती है कि वे प्रक्षिप्त हैं। कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार शाखाओं का गड़बड़ सबको ज्ञात है और शुद्ध वैदिक शाखाएँ उपलब्ध हैं, उसी तरह प्रक्षिप्त भाग का भी ज्ञान सबको है और उसको हटाकर शुद्ध संहिताओं के रूप को सब जानते हैं। ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्तों के लिए ऐतरेय ब्रा० २८। ८ में लिखा है कि '**वज्रेण वालखिल्याभिर्वाचः कूटेन**'। इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि '**वालखिल्यनामकाः केचन महर्षयः तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यंते तानि वालखिल्यनामके ग्रंथे समाम्नायन्ते**' अर्थात् वालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले आठ सूक्त हैं। वे खिल्य नाम के ग्रंथ में लिखे गये हैं। इस वर्णन से मालूम हुआ कि वालखिल्य सूक्तों की अलग पुस्तक थी। वही पुस्तक ऋग्वेद परिशिष्ट में आ गई है और अब तक 'अथ वालखिल्य' और 'इति वालखिल्य' के साथ ऋग्वेद में ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाकानुक्रमणी में स्पष्ट लिखा हुआ है कि '**सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खिलिकैर्विना**' अर्थात् खिल भाग को छोड़कर ऋग्वेद के एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं। यहाँ वालखिल्यों को ऋग्वेद की गिन्ती में नहीं गिना गया। इस तरह से ऋग्वेद का खिल सबको ज्ञात है।

इसी तरह यजुर्वेद का मिश्रण भी प्रसिद्ध है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि '**माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिय ऋषिदैवतछन्दांस्यानुक्रमिष्यामः**' अर्थात् ऋचा, खिल और शुक्रिय मंत्रोंके सहित माध्यन्दिनीय यजुर्वेदके ऋषि,

× ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः यत्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकमिति।
(महाभाष्य)

देवता और छन्दों की अनुक्रमणी बनाता हूँ। यहाँ खिल भाग का प्रत्यक्ष इशारह है। इसके आगे अनुक्रमणी में ही लिखा हुआ है कि, 'देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाकोविंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत्त्' अर्थात् यजुर्वेद १७। १२ के 'देवा यज्ञमतन्वत' मंत्र से लेकर बीस अनुष्टुभछन्द ब्राह्मणभाग हैं और 'अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः शार्दंदद्भिस्त्वचान्तश्च' अर्थात् यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय सबका सब और २५ वें अध्याय के आरम्भ के शादं से लेकर त्वचा तक नौ मंत्र ब्राह्मण हैं और 'ब्राह्मणे ब्राह्मणमिति द्वे काण्डिके तपसे अनुवाकश्च ब्राह्मणम्' अर्थात् यजुर्वेद अध्याय ३० के 'ब्राह्मणे ब्राह्मणम्' और शेष सारा अध्याय ब्राह्मण है। परन्तु हम देखते हैं कि वाजसनेयी संहिता की मन्त्रसंख्या १९०० ही है जिसमें शुक्रिय के भी मन्त्र मिले हुए हैं। क्योंकि लिखा है कि—

द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मन्त्रे वाजसनेयके।
इत्युक्तं परिसंख्यातमेतत्सर्वं सशुक्रियम्॥

अर्थात् सौ कम दो हज़ार मंत्र वाजसनेय के हैं और इसी में शुक्रिय के भी सम्मिलित हैं। जब यह वाजसनेयी संहिता है, तब इसमें सब मंत्र वाजसनेय के ही होने चाहिये, शुक्रिय के नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान वाजसनेयी संहिता की मन्त्रसंख्या १९७५ है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुक्रिय के मंत्र तो १९०० में ही घुसे हैं और शेष ७५ मंत्र कहीं बाहर से लाकर जोड़े गये हैं। हमको ब्राह्मणभाग के प्रक्षेप का पता मिल रहा है, इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वेद का प्रक्षेप भी सब पर प्रकट है और प्रसिद्ध है।

इसी तरह सामवेद का भी खिल भाग अर्थात् परिशिष्ट भाग प्रसिद्ध है। सभी जानते हैं कि सामवेद को महानाम्नी ऋचाएँ और आरण्यकभाग परिशिष्ट हैं। महानाम्नी ऋचाओं के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण २२। २ में लिखा है कि 'ता उर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत। यदूर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत तत् सिमा अभवन् तत्सिमानां सिमात्वम्' अर्थात् इन महानाम्नी ऋचाओं को प्रजापति ने वेद की सीमा के बाहर बनाया है। बाहर होने के कारण ही इनका नाम सिमा है। यहाँ महानाम्नी ऋचाएँ स्पष्ट रीति से ऋग्वेद सीमा के बाहर बतलाई गई हैं। ये अब तक पूर्वार्चिक के अन्त में लिखी जाती हैं। इसी तरह आरण्यकभाग भी परिशिष्ट ही है। यह सामवेद संहिता के देखने मात्रसे स्पष्ट हो जाती है। सामवेद संहिता के दो विभाग हैं। एक का नाम पूर्वार्चिक है और दूसरे का उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में छे प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक के पूर्वार्ध उत्तरार्ध दो दो विभाग हैं। यह क्रम पाँच प्रपाठकों में एक ही समान है, परन्तु छठे प्रपाठक में जहाँ यह आरण्यकखण्ड जुड़ा हुआ है, उसमें तीन विभाग छपे हुए हैं। यह तीसरा विभाग ही आरण्यक है। इसको सायणाचार्य ने भी परिशिष्ट ही कहा है और क्रम के देखने से भी परिशिष्ट ही ज्ञात होता है, इसलिये इसके खिल होने में सन्देह नहीं है।

जिस प्रकार इन तीनों वेदों का खैलिक भाग प्रसिद्ध है, उसी तरह अथर्ववेद का कुन्ताप सूक्त भी खिल के ही नाम से प्रसिद्ध है। अजमेर की छपी हुई संहिता में जिस प्रकार ऋग्वेद का खिलभाग, 'अथ वालखिल्य' और 'इति वालखिल्य' लिखकर छप गया है, उसी तरह अजमेर की छपी हुई अथर्वसंहिता के काण्ड २० सूक्त १२६ के आगे 'अथ कुन्तापसूक्तानि' और सूक्त १३७ के पहिले 'इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि' भी छपा हुआ है,

जिससे प्रकट हो जाता है कि इतना भाग परिशिष्ट ही है । स्वामी हरिप्रसाद 'वेदसर्वस्व' पृष्ठ ९७ में लिखते हैं कि जैसे ऋग्वेदसंहिता में वालखिल्य सूक्त मिलाये जा रहे हैं वैसे अथर्वसंहिता के अन्त में आजकल कुन्तापसूक्त मिलाये जा रहे हैं'। इस विवरण से पाया जाता है कि कुन्तापसूक्त भी परिशिष्ट ही हैं और शुरू से ही सबको ज्ञात हैं ।

इस मंत्र और सर्वमान्य परिशिष्टों के अतिरिक्त भी चारों संहिताओं में कहीं कहीं प्रक्षिप्त भाग है, जो उसी स्थल की सूचना से स्पष्ट हो जाता है । उदाहरणार्थ यजुर्वेद का निम्न मंत्र देखने योग्य है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येषा मामाहिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः । (यजु० ३२।३)

इस मंत्र में आधा भाग तो मंत्र का है, परन्तु आधा भाग तीन भिन्न भिन्न स्थलों में आये हुए मंत्रों की प्रतीकों का बतलानेवाला बाह्य वाक्य है । 'हिरण्यगर्भ' ऋग्वेद ८।७।६ में 'मामाहिंसी' यजुर्वेद १२।१०२ में और 'यस्मान्न जात' यजुर्वेद ८।१६ में आए हुए मंत्रों के आरम्भिक शब्द हैं । इसलिए मूल मंत्रों की प्रतीकों का बतलानेवाला यह भाग मूल मंत्र का नहीं हो सकता । यह तो उक्त तीनों मंत्रों का पता बतलानेवाला संस्कृत वाक्य है । क्योंकि सर्वानुक्रमणी ३।१५ में लिखा है कि, 'एताः प्रतीकचोदिता ब्रह्मयज्ञे ज्ञेयाः' अर्थात् यह प्रतीकवाला मंत्र ब्रह्मयज्ञ का है । प्रतीक कहने से ही यह बाहर का सूचित होता है । इसी तरह और भी बहुत से छोटे छोटे टुकड़े अनेक मंत्रोंमें मिलते हैं, जिनकी सूचना उवट और महीधर आदि ने यजु के नाम से कर दी है । इसका उत्तम नमूना यजु १०।२० के भाष्य में दिखलाई पड़ता है । इसी प्रकार का बाह्य संस्कृत का एक नमूना अथर्ववेद में भी देखा जाता है । अथर्व काण्ड १९, सूक्त २२ में लिखा है कि—

अङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ।
आथर्वणानां चतु ऋचेभ्यः स्वाहा ।

अर्थात् अङ्गिरस वेद के पाँच अनुवाकों से स्वाहा और अथर्ववेद की ऋचाओं से स्वाहा । इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि ये वाक्य कहीं बाहर के हैं । ऐसे वाक्य स्वयं प्रक्षिप्त होने की सूचना दे रहे हैं । कहने का मतलब यह कि मूल वैदिक संहिताओं में जो कुछ परिशिष्ट, खैलिक और प्रक्षिप्त भाग है, वह आदिमकालसे आज तक सबको ज्ञात है । ऐसा नहीं है कि प्रक्षिप्त भाग वेदपाठियों से छिपा हो । यदि छिपा होता, तो महाभारत में वेदों को अशुद्ध लिखकर बेचनेवाले वेददूषकों का वर्णन न होता * । अशुद्ध लिखनेवाले मूर्ख लेखकों के कारण ही गोपथब्राह्मण १।२९ में आज तक 'इषे त्वोर्जे त्वा' के स्थान में 'इखे त्वोर्जे त्वा' छप रहा है । कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार शाखाओं के विस्तार से मूलसंहिताओं की एक मात्रा का भी लोप नहीं हुआ उसी तरह समस्त मूलसंहिताओं में एक मात्रा का बाहर से प्रक्षेप भी नहीं हुआ और जिस प्रकार अनार्यशाखाओं की न्यूनाधिक्यता सबको प्रकट है, उसी तरह आर्यशाखाओं का प्रक्षेप भी सबको प्रकट है । अर्थात् आदिसृष्टि से लेकर आज तक चारों मूलवेद बिना किसी न्यूनाधिक्यता के ज्यों के त्यों प्राप्त हैं । गत पृष्ठ में हम लिख

* वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः । (महा० अनु० ६३।२८)

आये हैं कि शाकल ऋग्वेदसंहिता जो इस समय प्राप्त है वह आदिमकालीन है। उसके साथ रहनेवाली एक सेट में आबद्ध यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की माध्यन्दिनीय, कौथुमी, और शौनक आदि आर्यशाखाएँ भी आदिमकालीन ही हैं और यही ईश्वरप्रदत्त, अपौरुषेय हैं।

अब रही बात पुनरुक्ति की। पुनरुक्ति दो प्रकार की है–एक भाषा की दूसरी अर्थ की। बार बार कहे हुए मंत्रों को भाषापुनरुक्ति और बार बार एक ही भाव के कहे हुए मंत्रों को अर्थपुनरुक्ति कहते हैं। भाषापुनरुक्ति दो प्रकार की है–एक में ज्यों के त्यों पूरे मंत्र बार बार आते हैं और दूसरी में जो मंत्र आते हैं, उनमें कहीं कहीं पाठभेद होता है। जो मंत्र पूरे पुनरुक्त होते हैं, उनके पुनरुक्त होने के दो कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि प्रायः मंत्रों के दो दो तीन तीन भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं, इसलिए यद्यपि देखने में वही मंत्र बार बार आया हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह अपने निराले अर्थ के साथ ही आता है। इसका उत्तम नमूना 'चत्वारि शृंगा०' और 'द्वा सुपर्णा०' आदि मंत्र हैं। चत्वारि शृङ्गावाले मंत्रों को निरुक्तकारों ने यज्ञप्रकरण में और वैयाकरणों ने व्याकरणप्रकरण में लगाया है। दोनों प्रकार का अर्थ करनेवाले कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत यास्क और पतञ्जलि जैसे ऋषि हैं, जिनकी प्रामाणिकता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। इसी तरह द्वासुपर्णावाले मंत्र का कोई विद्वान् जीव, ब्रह्म, और प्रकृति अर्थ करते हैं और कोई कोई किरण, जल और सूर्य का अर्थ सूचित करते हैं ×। इस प्रकार के नमूने निरुक्त में दिये हुए हैं। निरुक्तकार अनेक मंत्रों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक-तीन प्रकार का अर्थ करते हैं। इसलिए वेदों में जो अनेक मंत्र अनेक बार आते हैं, उसका कारण प्रायः अर्थ की भिन्नता ही है। इस प्रकार की पुनरुक्ति आदिमकालीन ही है। पर पुनरुक्ति का दूसरा कारण विषयप्रतिपादन और यज्ञों की सुविधा है। इस प्रकार की पुनरुक्ति के तीन भेद हैं। पहिला भेद मंत्रों की पुनरुक्ति का है। इसमें एक ही मंत्र भिन्न भिन्न स्थानों में ज्यों का त्यों आता ह। दूसरा भेद सूक्तपुनरुक्ति का है। इसमें पूरे सूक्त के सूक्त भिन्न भिन्न स्थानों में आते हैं। तीसरा भेद वेदपुनरुक्ति का है। इसमें एक वेद के मंत्र और सूक्त ज्यों के त्यों दूसरे वेद में आते हैं। ये पुनरुक्तियाँ आदिम शाखाप्रवर्तकों की की हुई हैं और याज्ञिक विषयों में सुविधा के लिए की गई हैं।

यह मानी हुई बात है कि संसार के समस्त विषय एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। गणित और रसायनशास्त्र यद्यपि देखने में परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु रसायनशास्त्री जानता है कि उसका काम विना गणित के नहीं चल सकता। इमारत और गणित का भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु विना गणित के उसका भी काम नहीं चलता। कहने का मतलब यह कि ऐसी एक भी विद्या नहीं है, जिसमें गणित की आवश्यकता न होती हो। इसी तरह ब्रह्मचर्य का विषय है। मनुष्यजीवन की एक भी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक ब्रह्मचर्य का सम्मिश्रण न हो। जो हाल इन विषयों का है वही हाल राजनीति का भी है। शासन के विना भी मनुष्यसमाज का काम नहीं चल सकता। इन सबसे बढ़कर आहार है। उसके विना तो कुछ हो ही नहीं सकता। कहने का मतलब यह कि संसार का प्रत्येक पदार्थ और संसार

× निघण्टु में सुपर्ण को किरण और पिप्पल को जल भी कहा गया है, तथा निरुक्त में सूर्य को वृक्ष भी कहा है।

का प्रत्यक्ष ज्ञान एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि विना एक के दूसरे का काम ही नहीं चल सकता ।

आप किसी भी विषय का वर्णन करें, उससे सम्बन्ध रखनेवाले कई विषयों का दिग्दर्शन आप से आप ही हो जायगा । आप जितना ही अपने विषय को समझाने की कोशिश करेंगे, आपके व्याख्यान का रूप उतना ही अधिक विस्तृत होता जायगा और अनेकों विषयों का दिग्दर्शन करना पड़ेगा । जो हाल एक अच्छे विषयप्रतिपादक का हो सकता है, वही हाल आदिम शाखाप्रवर्तकों का हुआ है । उन्होंने याज्ञिक विषयों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए जिस जिस विषय के जो जो मंत्र और सूक्त जिस जिस वेद के जिस जिस स्थल में रखना उचित समझा है, उस उस विषय के वे वे मंत्र और सूक्त उस उस वेद के उस उस स्थल में रक्खा है । जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में बहुल छन्दसि सूत्र को आवश्यकतानुसार अनेक स्थानों में रक्खा है, उसी तरह वेदों में भी आवश्यकतानुसार ही पुनरुक्तियाँ रक्खी गई हैं । इस बात को सन्ध्या के नमूने से अच्छी प्रकार समझाया जा सकता है । सन्ध्या में तीन बार आचमन करने की आवश्यकता होती है । इसलिए आचमन करते समय पढ़ा जानेवाला मंत्र सन्ध्या जैसी छोटी पुस्तक में तीन बार आया है । पुस्तक पढ़ते समय तो वह मंत्र पुनरुक्त प्रतीत होता है, पर सन्ध्या के करते समय नहीं ।

इसी तरह जिन लोगों ने वेदों का केवल पाठ ही किया है, उनकी दृष्टि में तो वेदों में पुनरुक्तियाँ दिखती हैं, परन्तु जो लोग वेदों को शिक्षा–पुस्तक समझते हैं, जिनकी दृष्टि में वेद केवल पाठ करने की वस्तु नहीं प्रत्युत एक समाज और राष्ट्र चलाने का क़ानून है, वे जानते हैं कि, वैदिक विद्याएँ, वैदिक समाज और वैदिक राष्ट्र यज्ञों में ओतप्रोत हैं, इसलिए उनमें प्रकरणवश एक बात–एक विषय अनेक स्थलों में आना ही चाहिये । वेदों के उक्त तीनों पुनरुक्त विभाग इसी प्रकार की आवश्यकताओं के लिए आये हैं । इस बात को यजुर्वेद के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कई जगह स्वीकार किया है । यजुर्वेद ३३।२१ के भाष्य की टिप्पणी में आप कहते हैं कि 'तं प्रत्नया, अयं वेनः' यह दो प्रतीकें, पूर्व कहे अध्याय ७, मंत्र १२–१६ की, यहाँ किसी कर्मकाण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रक्खी हैं । कहने का मतलब यह कि, वेदों में जो मंत्र और सूक्त एक वेद में या एक से दूसरे में पुनरुक्त हुए हैं, वे प्रतिपादित विषय को स्पष्ट करने–यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने–के लिए पुनरुक्त हुए हैं, बेमतलब नहीं । वेदसर्वस्व पृष्ठ ५१ में स्वामी हरिप्रसाद भी कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं कि ऋजा मंत्रों के उद्धृत करने से यज्ञकर्म के करनेवालों को बहुत कुछ सुविधा हुई है ।' यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए ही तो वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, परन्तु जब से यज्ञयाग मुचण्डों के द्वारा होहल्ला के अखाड़े बन गये तब से वेदों का सङ्कलन अस्तव्यस्त भाषित होने लगा । कहने का मतलब यह कि वेदों में इस प्रकार की पुनरुक्ति अनर्गल नहीं है, किन्तु जान बूझकर काम के लिए की गई है ।

वेदों में मंत्रांशों का पाठभेद भी पुनरुक्त कहा जाता है । एक ही प्रकार के मंत्रों का जिनके एक दो शब्दों में पाठभेद दिखलाई पड़ता है, उनको भी लोग पुनरुक्त कहते हैं, किन्तु वे मंत्र अपना विशेष अर्थ रखने के कारण पुनरुक्त नहीं कहला सकते । यह सभी जानते

हैं कि, सृष्टिउत्पत्ति का विषय बहुत ही अच्छी तरह पुरुषसूक्त में समझाया गया है, इसीलिए वह प्रकरणवश आवश्यकतानुसार चारों वेदों में आया है। उसके कई मन्त्रों में पाठभेद है। नमूने के लिए हम यहाँ दो पाठभेद उपस्थित करते हैं—

१० (सहस्रशीर्षा पुरुषः। ऋग्वेद
(सहस्रबाहुः पुरुषः। अथर्ववेद

२० (ऊरू तदस्य यद्वैश्यः। यजुर्वेद
(मध्यं तदस्य यद्वैश्यः। अथर्ववेद

जहाँ ऋग्वेद में शीर्ष शब्द है, वहाँ अथर्ववेदमें बाहु शब्द है और जहाँ यजुर्वेदमें ऊरू शब्द है, वहाँ अथर्ववेदमें मध्यं शब्द है। पहिला ऋग्वेद और अथर्ववेद का पाठभेद है। ऋग्वेद एक पुरुष का और वर्णन करता है कहता है कि '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**' अर्थात् एक पुरुष है, जिसके हज़ारों शिर हैं, हज़ारों आँखें हैं और हज़ारों पैर हैं। इसमें शिर से पैर तक सारे शरीर का ढाँचा बतलाया है और आँखों का भी वर्णन कर दिया है। अब आप इस प्रकार एक पुतला बनावें, जिसमें शिर हो, आँखें हों और पैर भी लगे हों और गौरसे देखें कि इसमें किस बात की कमी है। आपको मालूम हो जायगा कि इसके हाथ नहीं हैं। अथर्ववेद का मन्त्र इसी कमी को पूरा करता है। अथर्ववेद कहता है कि '**सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**' अर्थात् एक पुरुष है, जिसके हज़ारों हाथ हैं, हजारों आँखें हैं और हज़ारों पैर हैं। आप इसका भी एक पुतला बनावें और देखें कि इस पुतले के पास उस पुतले की चीज नहीं है और एक चीज अधिक है—शिर नहीं है और हाथ है, अर्थात् ज्ञानप्रधान शिर है, परन्तु कर्मप्रधान हाथ नहीं हैं, अतः जब तक दोनों एकमें न मिलें पूर्णता नहीं हो सकती। क्योंकि अकेला ऋग्वेद विना अथर्व के—अकेला ज्ञान विना कर्म के—अपूर्ण है। इस साहित्यिक छायावाद काव्य के द्वारा वेदों ने कैसी अच्छी शिक्षा दी है! यदि इन दोनों मन्त्रों में से एक को भी पुनरुक्त मान लिया जाय, तो जो कमी रहेगी उसकी पूर्ति कैसे हो सकेगी? इसलिये इन में से कोई भी पुनरुक्त नहीं है, किन्तु परमात्मा की ओर से पाठभेद करके किन्हीं विशेष भावों को सूचित कराने के लिए दोनों मन्त्रों का प्रकाश किया गया है।

इसी तरह का एक गंभीर, सामाजिक और वैज्ञानिक प्रकाश दूसरे नम्बर के पाठभेद में डाला गया है। यजुर्वेद में है कि '**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः**' अर्थात् उसकी ऊरू वैश्य है। वैश्य दो काम करता है—एक तो इधरउधर आता जाता है, दूसरे पदार्थों को यथायोग्य आवश्यकतानुसार पहुँचाता है। यदि वैश्य केवल इधरउधर दौड़ता ही है और पदार्थों को साथ नहीं ले जाता, तो उसका दौड़ना व्यर्थ है। ऊपर जो यजुर्वेद का पाठ दिया गया है, उसमें वैश्य के लिये ऊरू पद आया है। ऊरू शब्द जाँघों का वाचक है। जाँघों के ही बल से मनुष्य इधर का उधर जाता है। परन्तु आवश्यकतानुसार कुछ लेकर ही इधर उधर जाता है, यह बात केवल जाँघों से सूचित नहीं होती। क्योंकि जाँघों में यथायोग्य ले जानेवाले भाव का दिखानेवाला कोई पदार्थ नहीं है। दूसरी दिक्क़त इस उपमा में यह है कि शूद्र के लिए भी '**पद्भ्यां शूद्रो अजायत**' कहा गया है। जंघा और पाद एक ही अंग के दो भाग हैं। परन्तु वैश्य और शूद्र एक ही वर्ण के दो भाग नहीं हैं, इसलिए वैश्यवर्ण का पूरा बोध

ऊरू पद से नहीं होता । इसी कमी को पूरा करने के लिए अथर्ववेद में 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' कहा गया है । शरीर का मध्य पेट है । पेट में आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थ पहुँचाने की योग्यता है । वही शरीर में यथायोग्य पोषण पहुँचाता है । इसलिए यजुर्वेद ऊरू के द्वारा वैश्य का गमनागमन बतलाता है । और अथर्ववेद मध्यं शब्द के द्वारा आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थों को पहुँचाना बतलाता है । इसके साथ ही साथ मध्यभाग कहकर शूद्रवर्ण से जुदा भी करता है ।

परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि विना जाँघों की सहायता के भी पदार्थ पहुँचाये नहीं जा सकते । जाँघें पैरों से मिली हुई हैं । इसलिए विना शूद्रों की मदद के, विना मज़दूर दल को साथ लिए, व्यापार भी नहीं हो सकता । जब तक मनुष्य यजुर्वेद और अथर्ववेद की संयुक्त शिक्षा का पालन न करें—जब तक वैश्यवर्ण पेट से लेकर जाँघों तक के गुणों को अख्तियार न करे—तब तक कल्याण नहीं हो सकता । इस प्रकार से इन दोनों उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट हो गया कि जिन मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है, उस भेद का कारण अर्थ की विशेषता ही है । क्योंकि प्रत्येक शब्द अपना कुछ अलग अर्थ रखता है और पाठभेद में शब्दभेद होता ही है, इसलिए पाठभेदवाले मन्त्र पुनरुक्त नहीं हैं, प्रत्युत वे विशेष आवश्यक उपदेश के लिए ही कहे गये हैं ।

यहाँ तक भाषापुनरुक्ति का वर्णन हुआ, अब अर्थपुनरुक्ति पर विचार करते हैं । अर्थपुनरुक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि यदि शब्द दूसरे हों अर्थात् मंत्र दूसरे हों और उनका अर्थ एक ही हो तो वह भी पुनरुक्ति ही है । यद्यपि ऊपर के देखने से यह बात सत्य मालूम होती है, परन्तु वास्तव में पाठभेद के समान ही यह शंका भी कुछ मूल्य नहीं रखती । क्योंकि जितने मंत्र एक ही प्रकार का भाव व्यक्त करने के लिए आते हैं, उनमें शब्दों का भेद होता ही है और शब्द अपना धातुज अर्थ रखते ही हैं, इसलिए एक ही प्रकार के अर्थ में भी भावान्तर हो जाता है । इस भावान्तर का एक नमूना यहाँ उद्धृत करते हैं ।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ॥ अथर्ववेद (१९।६२।१)
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् । (यजुर्वेद १८।४८)

अर्थात् हे परमेश्वर ! मुझको ब्राह्मणों में प्रिय, क्षत्रियों में प्रिय कीजिये और वैश्य तथा शूद्र आदि सबमें प्रिय किजिये । हे परमेश्वर ! हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो और वैश्यों तथा शूद्रादि सबों में रुचि हो । इन दोनों मंत्रों में एक ही भाव है । पहिले में सब लोगों में प्रिय होने की प्रार्थना है और दूसरे में सब लोगों में रुचि रखने की प्रार्थना है । दोनों में ऊपरी दृष्टि से भावों की समानता पाई जाती है और दोनों में एक दूसरे के प्रति प्रेम और रुचि रखने की प्रार्थना है, परन्तु दोनों विना एक दूसरे के अधूरे हैं । अथर्ववेद का मंत्र कहता है कि मुझको सबमें प्रिय कीजिये । सबमें प्रिय वही हो सकता है, जो सबको प्रिय समझता हो, परन्तु मंत्र में यह भाव नहीं है । मंत्र में इतना ही है कि मेरा सब प्यार करें, किन्तु यह नहीं है कि मैं सबका प्यार करूँ और सब मेरा प्यार करें । जब तक परस्पर एक दूसरे के प्यार करने की विधि न हो तब तक प्यार की

विधि पूर्ण नहीं हो सकती। पर वेद पूर्ण शिक्षा देते हैं, इसलिए यजुर्वेद में कहा गया है कि मेरी रुचि सबमें हो। दोनों मंत्रों का यह भाव हुआ कि सबमें मेरी रुचि हो और सब मेरा प्यार करें। इस तरह से एक ही भाव के मंत्रों में भी शब्दभेद के कारण भावान्तर विद्यमान है और वह भावान्तर बहुत कमी को पूरा कर रहा है।

यहाँ तक हमने चार प्रकार की पुनरुक्तियों का विस्तृत वर्णन करके दिखलाया कि ये पुनरुक्तियाँ यथार्थ में पुनरुक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत उसी तरह आवश्यक हैं, जिस प्रकार पाणिनि के 'बहुलं छन्दसि' और सन्ध्या के आचमन के मंत्र हैं। भिन्न भिन्न अर्थों के कारण भिन्न भिन्न भाव प्रकट करने के लिए जो मंत्र बार बार आते हैं, वे पुनरुक्त नहीं हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों के कारण ही भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न अर्थ रखते हैं। इसी तरह वे भी पुनरुक्त नहीं हैं, जो वेदपाठ के कारण बार बार आते हैं अथवा एक ही अर्थ में भिन्न भाव की सूचना देते हैं। किन्तु पुनरुक्त वही हैं जो मंत्र के मंत्र सूक्त के सूक्त और अध्याय के अध्याय बार बार एक ही वेद के कई स्थानों में या एक वेद से दूसरे वेदों में विषय-प्रतिपादन की सुविधा और यज्ञयाग में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए शाखाप्रचारकों की ओर से डाले गये हैं। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं है। कहने का मतलब यह कि चारों वेदों में खैलिक, परिशिष्ट और प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर और किसी किस्म की अधिकता नहीं है। वेदों में जिस प्रकार न्यूनता नहीं है, उसी प्रकार अधिकता भी नहीं है। परन्तु हस्तलिखित प्रतियों और छपी हुई संहिताओं तथा वैदिक साहित्य से प्रकट हो रहा है कि वेदों की मंत्रसंख्याओं में अन्तर है। किसी प्रति की मंत्रसंख्या कुछ है और किसी की कुछ। किन्तु इसका भी कारण वेदों की न्यूनाधिकता नहीं है प्रत्युत कुपढ़ लेखकों की असावधानी ही है। छन्दज्ञान के न होने से ही ऐसा हुआ है। किसी ने मत्र के अर्धभाग पर ही अङ्क लगा दिये हैं और किसी ने डेढ़ मंत्र पर अङ्क लगाये हैं। इसी लिये संख्याओं में न्यूनाधिक्य दिखलाई पड़ता है, परन्तु वास्तव में न्यूनाधिक्य नहीं हैं। यदि न्यूनाधिक्यता होती, तो पाठ में अन्तर होता—एक बात एक प्रति में होती और वही बात दूसरी प्रति में न होती, किंतु ऐसा नहीं है। इसीलिए संख्यासूचक अङ्कों की न्यूनाधिकता से भी वेदों में न्यूनाधिकता सिद्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि अपौरुषेय वेद आदि सृष्टि से लेकर आज पर्यंत ज्यों के त्यों पूर्ण सुप्राप्य हैं और उनकी इयत्ता इस समस्त शाखाभेद के वर्णन से स्पष्ट हो रही है।

ऋषि, देवता, छन्द और स्वर।

.वेदों की इयत्ता निर्धारित हो जाने के बाद अब ऋषि, देवता आदि की परीक्षा होनी चाहिए। वेदों की पुस्तकों के खोलते ही सबसे प्रथम प्रत्येक सूक्त या अध्याय के सिरे पर लिखे हुए ऋषि, देवता, छन्द और स्वर मिलते हैं। ऋषि और देवता आदि के देखने से यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है कि ये क्या हैं? इनका क्या मतलब है और ये क्यों लिखे जाते हैं? हम प्रथम खण्ड के अन्त में इन ऋषियों के विषय में कुछ लिख आये हैं। वहाँ हमने बतलाया है कि यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् इन ऋषियों को मन्त्रों के बनानेवाले कहते हैं, परन्तु यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि इन वर्तमान ऋषियों के पूर्व

इन्हीं सूक्तों के दूसरे ऋषि उसी तरह प्रसिद्ध थे, जिस तरह ये हैं। इसलिए ऋषि मंत्रों के कर्ता नहीं हो सकते। वैदिक साहित्य में ये मन्त्रद्रष्टा कहे गये हैं और मन्त्रद्रष्टा का अभिप्राय मन्त्रों का आशय देखनेवाला है। मन्त्रों के अनेक आशय होते हैं। इसलिए जब किसी ऋषि ने कोई आशय प्रकट किया है और वह आशय वेद की प्रशस्त शिक्षा के अनुकूल होता हुआ विशेषार्थ का द्योतक समझा गया है, तो उस आशय का वह ऋषि द्रष्टा समझा गया है और उस मन्त्र का वही ऋषि हो गया है। यही कारण है कि समय समय पर सूक्तों के अनेक आशयों के देखनेवाले अनेक ऋषि हो गये हैं और भी होंगे। इन्हीं भूत, भविष्य और वर्तमान मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिए वेद में कहा गया है कि उन्हीं की बात मानने योग्य है, औरों की नहीं। समय समय पर होनेवाले ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम तीन प्रकार के आते हैं। कुछ ऋषि ऐसे हैं जिनका कुछ नाम है और अमुक सूक्त के ऋषि कहलाते हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं, जिनका नाम वेद के उसी सूक्त में भी आता है, जिसके वे ऋषि हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ऋषियों के नाम उन्ही सूक्तों में आए हुए देवता के नाम से प्रसिद्ध किए गये हैं, जिन सूक्तों के वे ऋषि हैं।

इन तीन प्रकार के ऋषियों के दो भेद हैं—साधारण और उत्कृष्ट। जिन ऋषियों के नाम न तो मंत्र में हैं और न उस मंत्र के देवता के नाम ही से मिलते हैं, वे साधारण ऋषि हैं। उनके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु जिनके नाम मंत्र में आते हैं अथवा किसी सूक्त या मत्र के देवता के ही नाम के साथ मिलते हैं, वे उत्कृष्ट हैं, अतः उनकी चरचा करने की आवश्यकता है। हमारा अनुमान है कि ऐसे नामों की ख्याति किसी विशेष उत्कृष्ट अर्थाविष्कार के ही कारण हुई है—किसी गूढ विषय के व्यक्त करने के ही कारण हुई है। जब किसी ऋषि ने किसी शब्द का या किसी देवतावाले सूक्त के भाव का विशेष रूप से दर्शन किया है, तब उस ऋषि का असल नाम लुप्त हो गया है और वह शब्द अथवा वह देवता ही उसका नाम हो गया है। जिस प्रकार गिरि, पुरी, अरण्य आदि में प्रचार करने से अनेक संन्यासी उसी नाम से गिरी, पुरी, भारती, वन, अरण्य आदि नाम के हो गये हैं, उसी प्रकार अमुक प्रकार की मंत्रार्थदृष्टि की ख्याति से अनेक ऋषियों का भी वही नाम हो गया है। इस प्रकार के नामों का पता नीचे लिखे स्थलों के देखने से मिलता है।

ऋग्वेद १०।७३ का ऋषि ध्रुव है और देवता राज्ञः स्तुति हैं। इस सूक्त में छे मंत्र हैं। छहों में ध्रुव का वर्णन आया है और छहो मंत्र राजा की स्तुति के हैं। इसी तरह ऋग्वेद १० सूक्त १७० का ऋषि विभ्राट् सूर्य है और देवता सूर्यो देवता है। इस सूक्त में ४ मंत्र हैं। चारों में विभ्राट् शब्द आता है। मंत्रों में आये हुए शब्दों के कारण ऋषियों के नामकरण के ये नमूने हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद १० सूक्त १६१ का ऋषि यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः है और देवता राजयक्ष्मघ्नम् है। इसमें ५ मंत्र हैं। इनमें दीर्घ जीवन और आरोग्य के लिए प्रार्थनाएँ हैं। इसी तरह ऋ० १० सूक्त १५९ का ऋषि शची पौलोमी है और देवता भी शची पौलोमी है। ऋ० १० सूक्त १४० का ऋषि अग्निः पावकः है और देवता भी अग्निर्देवता ही है। ऋ० १०।१२३ का ऋषि वेन है और देवता भी वेन ही है। ऋग्वेद १०।४८ और ४९ का ऋषि इन्द्रो वैकुण्ठः है और देवता भी इन्द्रो वैकुण्ठः है और ऋग्वेद

१०।१२५ का ऋषि वागाम्भृणी और देवता भी वागाम्भृणी ही है। सूक्तों के देवता के कारण ऋषियों के नामकरण के ये नमूने हैं। दोनों प्रकार के ये नमूने उत्कृष्ट ऋषियों के ही हैं और किसी बड़े आविष्कार के ही कारण वे अपने विषय के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। अर्थात् ऋषि और देवता का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से ही—विशेष और विशेषण की ऐक्यता होने से ही—ये नाम रक्खे गये हैं। ये ऋषि समय समय पर बदलते रहे हैं और नवीन नवीन भावों का प्रचार करने के कारण पुराने ऋषियों के स्थान में नवीन ऋषियों के नाम प्रयुक्त हुए हैं। सर्वानुक्रमणी १।२ में लिखा है कि—

इषेत्वादि खं ब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत् ततः प्रतिकर्मविभागेन ब्राह्मणानुसारेण ऋषयो वेदितव्याः। परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणां ऋषिर्देवा वा प्राजापत्याः॥

अर्थात् इषेत्वादि से लेकर खं ब्रह्म पर्यंत समस्त यजुर्वेद को आदि में विवस्वान् ही ने देखा। इसके बाद ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार कर्मविभाग के कारण दर्शपूर्णमास मन्त्रों का परमेष्ठी प्राजापत्य ऋषि माना गया। यहाँ स्पष्ट हो गया कि विवस्वान् को हटाकर कर्म में सुविधा बतानेवालों के नाम ऋषि के स्थान में रख दिये गये हैं। अतएव ऋषि कोई स्थिर वस्तु नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसीलिए वे सूक्तों और मन्त्रों के आदि में स्मरण किए जाते हैं। यही थोड़ा सा ऋषि विषय का परिचय है।

ऋषि के आगे देवता हैं। देवता के विषय में सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि '**या तेनोच्यते सा देवता**' अर्थात् मन्त्र में जिस विषय का वर्णन हो, वही विषय उस मन्त्र का देवता है। यदि किसी मन्त्र का देवता अग्नि हो, तो समझना चाहिये कि इस मन्त्र में अग्नि का ही वर्णन है। परन्तु अग्नि शब्द के कई अर्थ होते हैं, इसलिए अग्नि के विशेषणों तथा मन्त्र की अन्य परिस्थितियों से जान लेना चाहिये कि यहाँ अग्नि किस विशेष विषय को दर्शाता है। इसी प्रकार की विशेष अर्थात् बारीक खूबियों को ढूँढ़ निकालना ही ऋषि का काम होता है। अतएव ऋषि और देवता प्रायः आधार-आधेय सम्बन्ध रखते हैं और इसीलिए इन दोनों के नाम भी प्रायः एक ही शब्द से रख लिए जाते हैं। निरुक्त में लिखा है कि '**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।**' अर्थात् ऋषि लोग जिस अर्थ के प्रकाश करने की कामना करते हुए, जिस देवता का वर्णन करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इस उक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि किसी मन्त्र का कोई देवता निश्चित नहीं है। एक ही मन्त्र से एक, दो अथवा कई एक भाव निकाले जा सकते हैं और वे सभी भाव उस मन्त्र के देवता हो सकते हैं। ऐसे ही नवीन गूढ़ भाव निकालने के कारण कभी कभी किसी किसी ऋषि का वही नाम भी पड़ जाता है, जो नाम किसी शब्द से उस मन्त्र के देवता का स्थिर होता है। परन्तु जबसे देवता विषयक ज्ञान में त्रुटि हुई तब से वैदिक साहित्य में बहुत बड़ी गड़बड़ मच गई है। सर्वानुक्रमणी १।३७ में लिखा है कि '**क्षत्रस्य चतुर्णां तार्प्यपाण्डवाधिवासोष्णीषाणि।**' अर्थात् यजुर्वेद अ० १० के मन्त्र के '**क्षत्रस्य जरायवसि**' मन्त्र का देवता पाण्डव है। मंत्र में क्षत्र शब्द के आने से ही किसी बुझक्कड़ ने पाण्डवों का नाम देवता में लिख दिया है। राजा लिखने के स्थान में पाण्डव

राजा नाम हो गया है । हम देखते हैं कि बहुत से देवता ऋषियों के ही नाम से पाये जाते हैं। उनमें अधिकांश इसी प्रकार के भ्रम से रक्खे गये हों तो ताज्जुब नहीं । बात तो असल में यह है कि मंत्र का देवता पहिचानना ही वेदज्ञता है। यह विद्या बिना योग-साधन के नहीं आती । इसीलिए योगशास्त्र में लिखा है कि '**स्वाध्यायादिष्टदेवता-सम्प्रयोगः**' अर्थात् स्वाध्याय से ही इष्ट देवता की प्राप्ति होती है। वेदों का जो जितना ही बड़ा स्वाध्यायी है, वह देवता का उतना ही ठीक ठीक निर्णय कर सकता है । देवता विषय का यही थोड़ा सा निर्णय है ।

छन्द की रचना स्वयं एक काव्य है । छन्द शब्दशुद्धि और संगीत का प्राण है । छन्द के सिकञ्जे में जब शब्द कस दिया जाता है तब वह इधरउधर बहक नहीं सकता । उसका उच्चारण ज्यों का त्यों बना रहता है और छन्दताल में जकड़े रहने के कारण नृत्य का प्रधान अंग हो जाता है और संगीतशास्त्र में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त छन्दोबद्ध विषयों की स्थिति स्मरण में बहुत शीघ्र और देरतक रहनेवाली होती है। परमेश्वर को वेदों की शब्दशुद्धि, संगीत और विषयस्मृति को कायम रखना मंजूर है, इसी लिए शायद कुछ भाग को छोड़कर शेष चारों वेद छन्दोबद्ध ही हैं। परन्तु वैदिक छन्दों का ज्ञान लोगों को बिलकुल ही नहीं है । छन्दों का ठीक ठीक ज्ञान न होने से ही मंत्रों की संख्या में गोलमाल हुआ है । यजुर्वेद का पहिला मन्त्र एक ही कहलाता है, परन्तु उसमें दो मन्त्र भिन्न भिन्न छन्दों के मिले हुए हैं। स्मरण रखने के लिए दोनों छन्दों के नाम लिए हुए हैं और दोनों को पृथक् करने के लिए बीच में 'र' अक्षर लिखा हुआ है। हमारा अनुमान है कि और भी बहुत से मन्त्रों में ऐसा ही गोलमाल है ।

वेदों के छंद बड़े विचित्र हैं। प्रायः ऋग्वेद के मंत्र जब पदपाठ अर्थात् संधिविच्छेद से पढ़े जाते हैं, तो शुद्ध प्रतीत होते हैं, पर जब ज्यों के त्यों संधि सहित पढ़े जाते हैं, तो घट बढ़ जाते हैं । इसी तरह यजुर्वेद अध्याय ४० के स पर्यगाच्छुक्र० वाले मंत्र का अन्तिम चरण बढ़ा हुआ दिखता है, पर वह जिस छंद का है उस छंद के हिसाब से ठीक है। यजुर्वेद के छंद छोटे बड़े हर प्रकार के हैं। सबसे छोटा छंद २२ अक्षर का है, जिसको त्रिराट्गायत्री कहते हैं और सबसे बड़ा छंद स्वराड्कृतिः है जो १०६ अक्षर का है। मध्यम दर्जे के अनेकों छंद हैं, जो क्रम से चार चार अक्षर बढ़ाते हुए २२ से १०६ तक पहुँचते हैं। सर्वानुक्रमणीकार ने आरंभ में ही कहा है कि '**यजुषामनियताक्षरत्वादेतेषां छन्दो न विद्यते**' अर्थात् यजुर्मन्त्रों के अक्षर नियत न होने से उनमें छंदत्व नहीं है, परंतु जब हम चार चार अक्षरों की वृद्धि का क्रम देखते हैं, तब यही प्रतीत होता है कि दीर्घ वृत्तों की बनावट भी मर्यादित ही है। यह बात अलग है कि फ़ारसी की बहरतवीलों की तरह हम दीर्घ वृत्तों को गाने में प्रयुक्त न कर सकें, पर उनको अमर्यादित नहीं कह सकते । कहने का मतलब यह कि वेदों के छंदों की रचना के अनेकों विशेष नियम हैं। उन नियमों में एक यह नियम बड़ा प्रसिद्ध है कि वेद के छंद मात्रिक नहीं हैं, उनकी गिनती अक्षरों से ही की जाती है। इसलिए वे एक नियम लाइन के अगल बगल चलते हैं। छंद की छाया दिखती है, रूप नहीं । पाठ से छाया और गीत से रूप दिखता है । इस प्रकार से वैदिक छंद स्वयं एक उत्कृष्ट काव्य की तरह रचे गये हैं। यही छंदों का थोड़ा सा विवरण है ।

छंदों के आगे स्वर हैं। स्वरों का वर्णन यज्ञ प्रकरण में हो चुका है। वहाँ अच्छी तरह दिखला दिया गया है कि स्वर अपने कौशल से किस प्रकार अर्थ को पुष्ट करते हैं। यहाँ फिर भी प्रकरणवश उसी को दोहराये देते हैं। याज्ञवल्क्यशिक्षा में लिखा है कि—

उच्चैर्निषादगांधारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

अर्थात् गांधार और निषाद को उदात्त, ऋषभ और धैवत को अनुदात्त और षड्ज, मध्यम और पंचम को स्वरित कहते हैं। इन स्वरों के विषय में लिखा है कि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् जो मन्त्र यज्ञ में स्वर और वर्णहीन मिथ्या उच्चरित होते हैं, उनका अर्थ ज्ञान नहीं होता और अशुद्ध उच्चारण अनर्थ होकर यजमान के नाश का कारण होता है, जैसे स्वर की भूल से इन्द्रशत्रुः का भाव इन्द्रस्य शत्रुः हो जाता है। इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये कि एक ही समय में एक शख्स के पास एक भिखारी और एक महाजन आया। दोनों को उस आदमी से माँगना है। एक को भीख माँगना है और दूसरे को तकाज़े के तौर पर कर्ज़ वसूल करना है। दोनों ही एक ही शब्दद्वारा माँगते हैं। वह शब्द है दीजिए। भिखारी इस शब्द को प्रार्थना के स्वरों में लपेटकर बोल रहा है और महाजन उसी शब्द को दर्प के स्वरों में लपेटकर बोल रहा है। कानों में एक शब्द से करुणा प्रकट हो रही है, दूसरे से दर्प और क्रोध का संचार हो रहा है। यद्यपि दोनों के बोलने में तीन ही अक्षर (दीजिए) उच्चरित हो रहे हैं, पर स्वरों का फेर अर्थ को इतना बदले हुए है कि ज़मीन आसमान का अन्तर हुआ जाता है। दोनों के स्वरों में कैसे फर्क हुआ? यदि यह जानना हो तो सरङ्गी में भिखारी की याचना के स्वर और महाजन के तक़ाज़ेवाले स्वरों को निकालिए, तुरन्त मालूम हो जायगा कि दोनों का सारिगम अलग अलग है। इस नमूने से स्वरों की खूबी समझ में आ जाती है। यह खूबी सिवा वेदों के और दुनिया की किसी लिपि में नहीं है। कोई नाटककार जब किसी राजा से द्वारपाल के लिए हुकूमत के शब्दों में हुक्म दिलवाता है, तो लिखता है कि राजा ने द्वारपाल से कहा द्वारपाल! (ज़रा कड़ी आवाज़ से)। यहाँ नाटककार को कोष्टक में 'ज़रा कड़ी आवाज़ से' इतना बढ़कर लिखना पड़ता है, पर यदि वह स्वर लिपि के साथ ही साथ लिखता, तो कोष्टक की इबारत लिखने की आवश्यकता न होती। आजकल सङ्गीतलिपि जिसको अँगरेज़ी में नोटेशन कहते हैं, प्रचलित हो रही है। जिन्होंने उस पर ध्यान दिया है, वे सहज ही स्वरलिपि और स्वर अर्थ का रहस्य समझ सकते हैं। वेदों के स्वर इसी तरह अपने शब्द का अर्थ निश्चित रखते हैं।

इस प्रकार हमने यहाँ तक ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का थोड़ा सा वर्णन करके दिखलाया, जिससे स्पष्ट हो रहा है कि उक्त चार चीज़ों में ऋषि, देवता, और स्वर अस्थिर हैं और छन्द स्थिर हैं। अर्थात् ऋषि, देवता और स्वर आवश्यकता पड़ने पर बदले जा सकते हैं—अनेकों बार बदले जा चुके हैं और छन्द ज्यों के त्यों बने हैं। इसलिए इन चारों चीज़ों में केवल छन्द ही स्थिर हैं। शेष ऋषि, देवता और स्वर अर्थानुसार प्रायः बदलते रहते

है, इसलिए वे अस्थिर हैं । परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि वेदों का स्वाध्याय करनेवालों के लिए ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है ।

मण्डल, अध्याय और सूक्त आदि ।

ऋषि, देवता आदि के आगे बढ़ते ही मंत्रों पर दृष्टि पड़ती है और दिखलाई पड़ता है कि थोड़े थोड़े मंत्र एक एक सूक्त अथवा अध्याय में और अनेक सूक्त अनेक मण्डलों में ग्रथित हैं । हम शाखाप्रकरण में लिख आये हैं कि यह काम आदिशाखा प्रचारकों ने ही किया है । इसी सम्पादित समूह को मूलसंहिता कहा गया है । इस सम्पादन में कुछ अपौरुषेय है और कुछ पौरुषेयता सम्मिलित है । सम्पादनक्रम का ज्ञान परमेश्वरने ही दिया है, इसलिए अनेक सूक्त ऐसे हैं, जो बनेबनाये आदि से ही चले आ रहे हैं । ऋग्वेद मण्डल एक के 'वृजनं जीरदानुम्' अन्तवाले, मण्डल दो के 'विदथेषु सुवीराः' अन्तवाले, मण्डल तीन के 'सञ्जितं धनानाम्' अन्तवाले और मण्डल चार के 'रथ्यः सदासा' अन्तवाले सूक्तों का क्रम किसी ऋषि का दिया हुआ नहीं है । इन सैंकड़ों सूक्तों के अन्त का मन्त्र एक ही एक वाक्य से समाप्त होता है, इससे ज्ञात होता है कि जिसने इन मन्त्रों की रचना की है, उसी ने उन सूक्तों की भी रचना की है, जिनके अन्त में एक ही समान वाक्य आते हैं । इसी प्रकार मण्डल दसका ५८ वाँ सूक्त है । इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में 'मनो जगाम दूरकम्' और 'क्षयाय जीवसे' पद आते हैं । इसी तरह 'इन्द्रस्येन्दो परिस्रव' और 'स जनास इन्द्रः' वाले सूक्त भी आदि से ही बने हुए चले आ रहे हैं । इन समस्त सूक्तों को किसी शाखा बनानेवाले ने नहीं बनाया, प्रत्युत ये सूक्त आदि काल ही से एक में सुबद्ध चले आ रहे हैं । हाँ, शाखाप्रचारक ने इनको अपनी मरज़ी से अमुक मण्डल के अमुक स्थान में रक्खा है । परन्तु दूसरी प्रकार के सूक्तों को शाखाकार ने ही अपनी मरज़ी से मन्त्रों को सूक्तरूप में और सूक्तों को मण्डलरूप में ग्रथित किया है । इस बात का सुन्दर नमूना 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' सूक्त में दिखलाई पड़ता है । यह सूक्त ऋग्वेद १०।१२१ में है इस सूक्त में १० मन्त्र थे । परन्तु इस समय ९ ही पाये जाते हैं । अन्त का दशवाँ 'प्रजापते न त्वदेता०' रख दिया गया है । यह मंत्र इस सूक्त का नहीं है, क्योंकि इसके अंत में हविषा विधेम नहीं है । इस सूक्त का १० वाँ मंत्र अथर्व ४।२।८ में चला गया है, जिसमें 'हविषा विधेम' मौजूद है * । जिस प्रकार ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हुई है, उसी प्रकार यजु, साम और अथर्व की भी समझना चाहिये । चारों वेदों में आये हुए सूक्तों, मण्डलों, अध्यायों और आर्चिकों में सब मंत्र इसी तरह ग्रथित हैं । इस ग्रंथन में पौरुषेय और अपौरुषेय दोनों हाथ समान रूप से विद्यमान हैं । इसलिए सम्भव है कि पौरुषेय सम्पादन में त्रुटि हो—मंत्र और सूक्त उचित स्थान में न हों—परंतु शेष रचना सुसम्बद्ध है, इसमें संदेह नहीं ।

---

* आपो वत्सं जनयंतीर्गर्भमग्रे समैरयन् तस्योत जायमानस्य
उल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(अथर्व० ४।२।८)

वेद-मन्त्रों के अर्थ भाष्य और टीकाएँ।

ऋषि, देवता और छन्दादि तथा सूक्त, अध्याय और मण्डल आदि की आलोचना के बाद अब वेदों के अर्थों की—भाष्यों की—बात सामने आती है। क्योंकि अर्थों अर्थात् भाष्यों के ही द्वारा जाना जाता है कि वेदों में किन किन विषयों का वर्णन है। परंतु अब तक जितने वेदों के भाष्य हुए हैं, उन सब में मतभेद है, इसलिए किसी एक भाष्य को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्राचीन शैली—आर्य शैली—और वैदिक शैली के अनुसार इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वेदों का भाष्य करना उचित नहीं है। पुराकाल में कभी चारों वेदों का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया गया था। इसका कारण यह नहीं है कि लोगों को भाष्य करना नहीं आता था अथवा सब लोग वेदों के ज्ञाता ही थे, इसलिए भाष्य करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। प्रत्युत भाष्य न करने का कारण यह था कि वे ज्ञानभण्डार वेद के ज्ञान की इयत्ता एक ही मस्तिष्क द्वारा निर्धारित करना वेद का अपमान समझते थे। जिस प्रकार वेद के स्वरूप की इयत्ता निर्धारित है, उसी प्रकार वेद के ज्ञान की इयत्ता निर्धारित नहीं है। यह ठीक भी है। मनुष्य के शिर की इयत्ता हो सकती है कि वह कितना लम्बाचौड़ा है, पर उसके अन्दर जो विचारशक्ति है, उसकी लम्बाई चौड़ाई की इयत्ता निर्धारित नहीं हो सकती। यही हाल वेदों का भी है। इसीलिए अगले ज़माने में वेदों का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया गया। किंतु पठनपाठन के लिए अर्थ करने की परिपाटी बताने के लिए और मंत्रों में श्रम करने के लिए निरुक्त जैसे ग्रंथ बना लिए गये थे अथवा ब्राह्मणग्रंथों में आये हुए वेदार्थसूचक प्रकरणों की भाँति छोटे छोटे पुस्तक रच लिए गये थे, जिनके द्वारा वेदार्थ का ज्ञान और भाष्य की शैली ज्ञात रहती थी।

वेदभाष्य करने का सबसे प्रथम आरंभ रावण ने किया। उसे वेदों का अर्थ और भाव पलटना था, इसलिए उसे ऐसा करना पड़ा। तभी से भाष्य करने का रिवाज़ हो गया। सायणाचार्य, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानंद सरस्वती तथा योरप के अनेक विद्वानों ने वेदों का भाष्य कर डाला है। किंतु वेद का पठनपाठन करनेवालों को अबतक इन भाष्यों से तसल्ली नहीं हुई। अब भी—इस समय भी—अनेकों भाष्य हो रहे हैं और आगे भी होंगे, किंतु कभी भी सन्तोष न होगा। इसका कारण यह है कि वेदों के ज्ञान की इयत्ता नहीं हो सकती। वेदों में अनेक प्रकार का ज्ञान है। उस ज्ञान की अनेकों छोटी बड़ी शाखाएँ हैं और उन शाखाओं में अनेक भाव हैं, इसलिए एक या दो आदमी समग्र वेद के ज्ञान-समुद्र की थाह नहीं लगा सकते। पुराने ज़माने में तो एकएक, दोदो अथवा दसबीस मंत्रों का अर्थ विचार करने ही में बड़े बड़े मंत्रद्रष्टा ऋषि अपनी ज़िंदगी बिता देते थे। अभी हम जिन ऋषियों और देवताओं का वर्णन कर आये हैं, उस वर्णन से स्पष्ट हो गया है कि एक एक सूक्त का ही उत्कृष्ट भाव निकालने में ऋषियों का नाम उक्त सूक्तों के ही नाम से रख दिया गया था, जो अबतक क़ायम है और अमर है। ऐसी दशा में एकदो व्यक्तियों का किया हुआ संपूर्ण वेदभाष्य कैसे पूर्ण समझा जा सकता है? और कैसे वह सर्वमान्य हो सकता है? अगले समयों में लोग मनोयोग के द्वारा मंत्रार्थ का विचार करते थे। योगशास्त्र में लिखा है कि 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' अर्थात् स्वाध्याय से इष्ट

देवता का संप्रयोग होता है। वेदों के पठनपाठन का ही नाम स्वाध्याय है और वेद के विषयों को ही देवता कहते हैं। अमुक देवतावाले मंत्रों का दीर्घकाल तक स्वाध्याय–विचार –करने से ही उनका अच्छी तरह प्रयोग हो सकता है। कहने का मतलब यह कि यथार्थ वेदार्थ करना–भाष्य करना–सरल नहीं है और न वह एक दो आदमी से हो सकता है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वरीय मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए है। वेदों की सभी शिक्षा उपयोगी है। इसलिए वेदों का थोड़ा सा चाहे जो अंश लेकर और उसका सरलार्थ करके लोगों में प्रचार किया जा सकता है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह अर्थ चार परीक्षाओं म परीक्षित हो। क्योंकि वेदार्थ की चारों परीक्षाएँ बड़े बड़े प्राचीन वेदज्ञ ऋषिमुनियों की स्थापित की हुई हैं। सबसे पहिली परीक्षा यह कि वेद का जो अर्थ किया जाय, वह यज्ञ में कहीं न कहीं काम देता हो। क्योंकि ऋग्वेद में खुद ही लिखा हुआ है कि '**यज्ञेन वाचं पदवीयमानम्**' अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है। दूसरी परीक्षा यह है कि यह अर्थ बुद्धि के विपरीत न हो, किंतु बुद्धि के अनुकूल हो। क्योंकि कणादमुनि वैशेषिक दर्शन में कहते हैं कि '**बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे**' अर्थात् वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है। तीसरी परीक्षा यह है कि वह वेदार्थ तर्क से सिद्ध किया गया हो। क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के प्रश्न करनेपर देवताओं ने कहा कि तर्क ही ऋषि है, अतः जो तर्क से गवेषणा करके अर्थ निश्चित करेगा, वही वेदार्थ का ऋषि होगा +। चौथी परीक्षा यह है कि वह अर्थ धातुज हो, अर्थात् वह अर्थ प्रत्येक शब्द की धातु से निष्पन्न होता हो। क्योंकि पतञ्जलिमुनि महाभाष्य में कहते हैं कि '**नाम च धातुजमाह निरुक्ते**' अर्थात् निरुक्तकार धातुज ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इन चारों परीक्षाओं म सायणाचार्य ने प्रायः याज्ञिक अर्थ का अनुकरण किया है और स्वामी दयानंद सरस्वती ने बुद्धि, तर्क और धातुज अर्थ का ध्यान रक्खा है। दोनों भाष्यकारों ने चारों परीक्षाओं का उपयोग नहीं किया, तथापि स्वामी दयानंद का हेतु बड़ा पवित्र है। यद्यपि लोग कहते हैं कि उनसे संस्कृत व्याकरण की भूलें हुई हैं और उन्होंने वेदमंत्रों का अर्थ भी बदल दिया है, किंतु इस बात में कुछ भी दम नहीं है। संस्कृत के व्याकरण की गलतियाँ तो लोगों ने स्वामी श्रीशंकराचार्य के भाष्य में भी ढूँढ निकाली हैं × और '**चत्वारि वाक् परिमिता०**' मंत्र को यास्काचार्य ने निरुक्त में देकर सात सम्प्रदायों द्वारा रचित उसके सात प्रकार के भिन्न भिन्न आर्थों को मान्य बतलाया गया है, जिससे बड़े बड़े प्राचीन ऋषि के अर्थों में भी अदला-

---

+ मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवनको नः ऋषिर्भवतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मंत्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूह इत्यार्षं तद्भवति॥ (निरुक्त २।१२)

× छांदोग्योपनिषद् १।६।१ की टीका में 'ऋक्सामनी नात्यंतं भिन्ने' है। परंतु यह पाणिनि के 'अचतुर विचतुर' सूत्र के अनुसार 'ऋक्सामे' होना चाहिए। इसी तरह छांदोग्य ८।८।४ में 'गच्छेयातां' है, जो 'गच्छेतां' होना चाहिए। इसी तरह छांदोग्य ८।१२।३ के प्रारंभ में 'अहं मनुष्यपुत्रो जातो जीर्णो मरिष्ये इत्येवं प्रकारं' है। परंतु यहाँ 'मृ' धातु के भविष्य-काल में परस्मैपदी है, इसलिए 'मरिष्ये' के स्थान में 'मरिष्यामि' होना चाहिये।

बदली पाई जाती है *। ऐसी दशा में स्वामी दयानन्द पर ही आक्षेप नहीं हो सकता। स्वामी दयानंद ने बड़े ही पवित्र उद्देश्य से भाष्य किया है, इसलिए उनकी शैली में सायणाचार्य की केवल याज्ञिक शैली मिला देने में ही कुछ प्रचारयोग्य पद्धतियाँ तैयार हो सकती हैं।

जब तक स्वामी दयानंद ने बुद्धि, तर्क और धातु के सहारे अर्थ नहीं किया था, तब तक लोग वेदों से अनेक ऊल जलूल बातें निकाला करते थे, किंतु उनके आर्ष प्रणाली से अर्थ करते ही वेदों का उज्ज्वल रूप सामने आ गया और वेदों का अन्तरंग प्रकाशित हो उठा तथा हमारे सामने आर्वाचीन, मध्यमकालीन और प्राचीन वेदार्थों का नमूना उपस्थित हो गया। इन नमूनों में नाना प्रकार की बातें हैं और उनमें नाना प्रकार के अन्तर और भेद हैं। परंतु हम यहाँ उन समस्त अन्तरों और भेदों का वर्णन नहीं करना चाहते। हम तो ऐसे समग्र वेद-भाष्य को पसंद ही नहीं करते इसलिए वेदों के ऐसे अर्थों पर यहाँ बहस भी नहीं करना चाहते। किंतु कुछ भाष्यकारों के कारण वेदों में इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता का वर्णन दिखलाई पड़ता है, जिसको लेकर योरप के विद्वानों ने वेदों को नवीन और निकृष्ट सिद्ध करने की कोशिश की है। इसके कारण वेदों की अपौरुषेयता में बट्टा लगने का भय है, इसलिए हम यहाँ थोड़ी सी इन विषयों की भी आलोचना करते हैं।

इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता।

हम प्रथम खण्ड में अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं कि वेदों में इतिहास से संबंध रखनेवाली सामग्री नहीं है। जिन ऐतिहासिक नामों, ज्योतिष के चमत्कारों और भौगोलिक अथवा भौगर्भिक बातों को लेकर लोग वेदों से इतिहास निकालते हैं, वे निस्सत्त्व हैं। उनसे इतिहास नहीं निकलता। वेदों में आये हुए ऐतिहासिक नाम तो इतिहास का साथ ही नहीं देते। इतिहास निकालनेवाले जानते ही नहीं कि पुराणकारों ने वेदों के अलङ्कारों को लेकर और उनको ऐतिहासिक रूप देकर पुराणों में केवल अर्थ ही खोला है, इतिहास नहीं लिखा। श्रीमद्भागवत १।४।२८ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

अर्थात् भारतीय इतिहास के मिष से वेद का अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है। जब भारतीय लेखक स्वय स्वीकार करते हैं कि हमने पुराणों में इतिहास का रूप देकर केवल वेदों के अलङ्कारों का ही भाव खोला है, तब दूसरों को क्या अधिकार है कि वे मनगढन्त कल्पना कर लें कि वेदों का इतिहास पुराणों में विस्तृत किया गया है? बात तो असल यह है कि आधुनिक विद्वानों ने न तो वेदों की शैली को ही समझा है, न पुराणों का तात्पर्य ही समझा है और न यही ढूँढ पाया है कि दोनों का संबंध क्या है। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

अर्थात् इतिहास और पुराणों से वेदों का मर्म जाना जाता है। इसका तात्पर्य यही है

---

* कतमानि तानि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्वाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्य प्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति॥

कि पुराणों में पञ्चतन्त्र की तरह ऐतिहासिक कथाओं को गढ़कर वेदों के अलंकारों को खोला गया है। पर वह वर्णन वास्तविक इतिहास के साथ कुछ भी संबंध नहीं रखता। इसलिए यदि वास्तविक इतिहास और पुराण दोनों की तुलनात्मक दृष्टि से वेदों के साथ आलोचना की जाय तो इतिहास साथ न देगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का वर्णन इतिहास नहीं प्रत्युत अलंकारों का खुलासा है। कहने का मतलब यह कि वेदों में इतिहास नहीं है। जिस प्रकार वेदों में इतिहास नहीं है, उसी तरह वेदों में पशुहिंसा भी नहीं है। हिंदूसाहित्य के देखने से पता लगता है कि आर्यों के याज्ञिक इतिहास में भिन्न भिन्न दो समय हैं, जिनमें से एक में पशुहिंसा नहीं पाई जाती और दूसरे में पाई जाती है। पहिला आदिम काल अर्थात् शुद्ध संहिताकाल है और दूसरा रावणकाल से लेकर आधुनिक ब्राह्मण और सूत्र काल है। आदिम काल अर्थात् संहिताकाल के यज्ञों में पशुहिंसा और मांसमद्य का सेवन नहीं होता था, पर रावणकाल से इस पार के यज्ञों में कहीं कहीं होता था। हम अपने इस आरोप की पुष्टि में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) वेदों में यज्ञ के लिये जितने शब्द आये हैं, उनमें से किसी के भी अर्थ से पशुवध अथवा हिंसा सूचित नहीं होती, प्रत्युत अध्वर शब्द से अहिंसा ही सूचित होती है। ध्वर शब्द का अर्थ हिंसा है और अध्वर का अहिंसा। अहिंसा के ही लिए यज्ञों में अध्वर्यु की नियुक्ति होती है। यह यज्ञ में कायिक, वाचिक और मानसिक किसी क़िस्म की हिंसा नहीं होने देता। यहाँ तक कि छोटेछोटे कीटों को भी अग्नि में जलने से बचाता है। इसीलिए वेदी में दो तीन परिखाएँ बनाई जाती हैं और उनमें पानी भर दिया जाता है।

(२) यज्ञों में जिस गौ का वध बतलाया जाता है, वेदों में उसके कई नाम हैं। उन नामों में एक नाम अघ्न्या भी है। अघ्न्या का अर्थ 'किसी सूरत में भी न मारने योग्य' है। यदि गौ यज्ञ में वध्य होती, तो उसका नाम इस प्रकार का न होता। वह यज्ञ के लिए वध्य समझी जाती, परन्तु ऐसी गुंजायश नहीं रक्खी गई।

(३) वेदों में स्पष्ट उल्लेख है कि मांस जलानेवाली अग्नि यज्ञों में न प्रयुक्त होने पावे। मांस जलानेवाली अग्नि बहुत करके चिताग्नि ही होती है। जब वेदों में चिता की अग्नि तक को यज्ञो में लाने का निषेध है, तब मनुष्यमांस अथवा पशुमांस से यज्ञ करने की कैसे आज्ञा हो सकती है ! वेद में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ (ऋ० १०।१६।९)
यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे ॥ (अथर्व० १२।२।७)

अर्थात् मै मांस खानेवाली अग्नि को दूर करता हूँ। वह पाप ढोनेवाली है, इसलिए वह यमराज के घर जावे। यहाँ दूसरी ही अग्नि जो सबकी जानी हुई और देवों के लिए हवि ढोनेवाली है, उसे रखता हूँ। जो मांसभक्षक अग्नि तुम लोगों के घरों में प्रवेश करती है, उसको पितृयज्ञ के लिए दूर करता हूँ। तुम्हारे घरों में दूसरी ही अग्नि को देखना चाहता हूँ, वही उत्तम स्थानों में घर्म को प्राप्त हो। इस प्रकार से इन दोनों मंत्रों में बतलाया गया कि मांस जलानेवाली अग्नि न तो देवयज्ञों में रह सकती है और न पितृयज्ञों में।

क्योंकि दोनों यज्ञ घर में ही होते हैं। यहाँ मांस जलानेवाली अग्नि को घर से दूर हटाने का उपदेश है अतः मालूम हुआ कि मृतकसंस्कार के लिए ही उसे घर से दूर यमराज्य में भेज रहे हैं ×। मूल संहिताओं के इन मौलिक प्रमाणों से पाया जाता है कि वेदों के अनुसार यज्ञों में हिंसा और गोवधादि नहीं हो सकता। यहाँ तक कि मांस जलानेवाली अग्नि भी यज्ञों में नहीं लाई जा सकती। जब वैदिक यज्ञ मांस और हिंसा से इतना परहेज़ करते हैं और इन बातों से इतना दूर भागते हैं, तब यही सिद्ध होता है कि आदिम काल में—संहिताकाल में—मांसयज्ञ नहीं होते थे।

(४) संहिताकाल में मांसयज्ञ न होने का सबसे बड़ा कारण आर्यों का हिंसा से डरना है। यजुर्वेद में इस प्रकार के वचनांश मिलते हैं, जिनसे सूचित होता है कि वे पशुओं को पालते थे, न कि उनकी हिंसा करते थे।

पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः,
अविं मा हिंसीः, इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं,
मा हिंसीरेकशफं पशुं, मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि।

अर्थात् पशुओं की रक्षा करो, गाय को मत मारो, बकरी को मत मारो, भेड़ को मत मारो, इस मनुष्य और द्विपद पक्षियों को मत मारो, एक खुरवाले घोड़े, गधे को मत मारो और किसी भी प्राणी को मत मारो। यहाँ पर किसी भी पशुपक्षी के मारने की आज्ञा नहीं है। इतना ही नहीं प्रत्युत स्पष्ट लिखा है कि—

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं
वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्॥ (अथर्व० ९।६।९)

अर्थात् गाय का यह क्षीर, दधि और घृत ही खानेयोग्य है, मांस नहीं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्यायाः भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
(ऋ० ८।४।१८)

अर्थात् जो राक्षस मनुष्य का, घोड़े का और गाय का मांस खाता हो तथा दूध की चोरी करता हो, उसके शिर को कुचल देना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा परिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यते स्त्रियं नि हन्यते मनः॥

अर्थात् मांसाहारी, शराब पीनेवाला और व्यभिचारी एक समान ही मार डालने योग्य हैं। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि वेदों में पशुओं के मारने और उनका मांस खाने की सख्त मनाई है। वैदिक आर्य लोग न तो मांस ही खाते थे और न पशुओं को ही मारते थे। वैदिक काल में मनुष्य मांस नहीं खाता था और न वैदिक काल अर्थात् मनुष्योत्पत्तिकाल

× इस मंत्र का ऋग्वेद १०।१६।१० में 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' पाठभेद है। दोनों में परस्पर देवं और 'दूरं का भेद है। ये दोनों शब्द दो प्रकार के पितृयज्ञों को सूचित कराते हैं। एक मृतकसंस्कार और दूसरा पितृश्राद्ध। घर से बाहर दूरवाला पितृयज्ञ मृतकसंस्कार है। और घर के अन्दरवाला पितृयज्ञ श्राद्ध है, जो नित्य किया जाता है।

में मनुष्य की प्रवृत्ति ही मांस की ओर थी। क्योंकि मांस में न तो कोई स्वाद ही है और न उसको देखकर मनुष्य की रुचि ही हो सकती है। इसलिए मनुष्य आदिम काल मे-वैदिक काल में—मांसाहारी न था। मांसाहारी प्राणियों के साथ मनुष्य की समता ही नहीं है। यह बात निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होती है—

(१) जितने प्राणी मांसाहारी हैं सब जीभ से पानी पीते हैं। (२) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब अँधेरे में देखते हैं। (३) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सबके शरीर मे पसीना नहीं आता। (४) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब मैथुन के समय जुड़ जाते हैं। (५) जितने प्राणी मासाहारी हैं, सबके बच्चों की आँखें पैदा होने के समय बन्द रहती हैं। (६) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सबके दाँत नुकीले और चुभनेवाले होते हैं। (७) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब की आँतें शरीर के परिमाण से बड़ी होती हैं। (८) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब का मेदा बड़ा होता है। (९) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब डरते हैं और (१०) जितने प्राणी मांसाहारी हैं, सब भयानक बनावट के होते हैं। किंतु घास और फलफूल खानेवालों में ये एक भी लक्षण नहीं पाये जाते। मनुष्य में भी ये लक्षण नहीं पाये जाते। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य स्वभाव से मांस खानेवाला नहीं है। उसका मांस का खाना अस्वाभाविक है और बाद का है किंतु वेद आदिम कालीन हैं, इसलिए वेदों में पशुवध और मांसाहार की विधि नहीं हो सकती और न संहिताकाल में मांसयज्ञों का ही विधान हो सकता है। आदिम काल में मांसयज्ञों के न होने के कई एक ऐतिहासिक प्रमाण भी उपस्थित हैं। यहाँ हम उनका भी वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

(५) हम लिख आये हैं कि रावणादि ने मांसयज्ञ प्रचलित कर दिया था और उसका अनार्य म्लेच्छों में खूब प्रचार था। हेमाद्रि—रामायण में लिखा है कि पूर्वसमय में अनार्य म्लेच्छों के संसर्ग से पतित हुआ पर्वतक नामी ब्राह्मण मरुत् राजा के पुत्र वसु राजा का सहपाठी होकर अन्त में उसका उपाध्याय हो गया। उसकी दीर्घकालीन सङ्गति से वसु राजा भी आसुर प्रवृत्तिवाला हो गया और भीतर ही भीतर ऋषियों से द्वेष रखने लगा। परन्तु ऋषियों को यह बात ज्ञात न थी कि राजा वसु आसुर प्रवृत्तिवाला है और हम लोगों को पसन्द नहीं करता। मत्स्यपुराण अध्याय १४३ में, वायुपुराण में और महाभारत शांतिपर्व अध्याय ३३६ में लिखा है कि इसी समय देवताओं और ऋषियों के बीच 'अज' शब्द के अर्थ पर विवाद हुआ। देवता कहते थे अज शब्द का अर्थ बकरा है, इसलिए पशुमांस से यज्ञ करना चाहिए और ऋषि कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बीज है, इसलिए केवल अन्न से ही यज्ञ करना चाहिये। दोनों ने निश्चय किया कि राजा वसु जो अर्थ निश्चित करें, वही हम लोगों को मानना चाहिए। तदनुसार दोनोंने राजा वसु के पास आकर कहा कि महाराज! बताइये कि यज्ञों को पशुमांस से करना चाहिए या अन्न से। राजा वसु ने प्रश्न तो सुन लिया, पर केवल इतने ही प्रश्न से यह ज्ञात न कर सका कि दोनों दलों में से किसका क्या पक्ष है। अन्दर से तो राजा वसु ऋषियों को हराना चाहता था, इसलिए उसने पूछा कि 'कस्य वै को मतः पक्षो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः (महाभारत शांतिपर्व ३३७।१२) अर्थात् हे देव-र्षियो! आप सत्य सत्य बतलाइये कि, किसका क्या पक्ष है। इस प्रश्न को सुनकर ऋषियों ने कहा कि—

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप।
देवानां तु पशुपक्षो मता राजन्वदस्व नः॥ (महा० शां० ३३७।१३)

अर्थात् हमारा यह पक्ष है कि धान्य ही से यज्ञ करना चाहिये और देवताओं का यह पक्ष है कि पशुमांस से ही यज्ञ करना चाहिये, इसलिए हे राजन्! इस विषय में आप अपना मत प्रकट कीजिये। इसके आगे लिखा है कि—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा॥ (महा० शां० ३३७।१४)

अर्थात् देवताओं का मत मालूम करके राजा वसु ने कहा कि अज—छाग—ही से यज्ञ करना चाहिये। राजा वसु के इस फैसले से ऋषियों का पक्ष गिर गया और उसी दिन से पशु-यज्ञ होने लगे और यज्ञ में मांस का होम होने लगा। परन्तु इस फैसले के पहिले पशुमांस से यज्ञ नहीं होते थे। इसके पहिले खुद राजा वसु ने ही यज्ञ किया था, किन्तु उस यज्ञ में पशुवध नहीं हुआ था। इसी कथा में लिखा है कि ' न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् (महा० शां० ३३६।१०) अर्थात् उस यज्ञ में पशुघात नहीं हुआ था। इस वर्णन से पाया जाता है कि एक समय था, जब पशुमांस से यज्ञ नहीं होते थे। हमारी यह बात इसी कथा के अगले भाग से अच्छी तरह पुष्ट होती है। महा० शां० अध्याय ३४०, श्लोक ८२ से ९३ तक के लेख का सार यह है कि—

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्नतदन्यथा॥
चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति॥
प्रोक्षिता यज्ञपशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे।
यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति॥

अर्थात् यह सत्ययुग है—श्रेष्ठ काल है—इसमें यज्ञ के लिए पशुहिंसा करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि धर्म चारों कलाओं से परिपूर्ण है। परन्तु इसके आगे त्रेतायुग होगा, उसमें धर्म के तीन ही पाद होंगे, इसलिए उसमें यज्ञों में पशुवध होगा। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि पूर्वयुग में—आदिम काल में—संहिताकाल में—पशुवध नहीं होता था, प्रत्युत उसके बाद उत्तरयुग में जब धर्म में ह्रास हुआ तब पशुवध होने लगा।

(६) इस पूर्वयुग और उत्तरयुग की बात पर यज्ञ की पूर्ववेदी और उत्तरवेदी स्पष्ट रूप से प्रकाश डालती हैं। क्योंकि जिन यज्ञों में पशुवध होता है, उनमें पूर्ववेदी और उत्तरवेदी बनाई जाती हैं और पशुवध उत्तरवेदी ही में होता है। पूना कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डॉक्टर मार्टिन् हाग ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में अग्निष्टोमयज्ञ का एक बहुत ही उत्तम चित्र दिया है। उसमें वेदी, मण्डप और ऋषियों के स्थान आदि का विस्तृत चित्रण है। उस चित्रपट के देखने से पता लगता है कि उत्तरवेदी, पूर्ववेदी से बहुत दूर है और उत्तरवेदी ही के पास बलि पशु के बाँधने का यूप है। चित्र में दिखलाया गया है कि होम करने के लिए अग्नि पूर्ववेदी से तीन द्वारों में घुमाकार उत्तरवेदी में लाई जाती है और उसी वेदी में पशुमांस का होम होता है। इस प्रमाण से स्पष्ट हो रहा है कि पूर्ववेदी में अर्थात् आदिम

कालीन यज्ञवेदी में पशुमांस का होम नहीं होता था, किन्तु उत्तरवेदी अर्थात् पश्चात् कालीन वेदी में ही होता है। अतः पशुयज्ञ संहिताकालिक नहीं है। यह बात बिलकुल ही स्पष्ट हो जाती है, जब हम देखते हैं कि उत्तरवेदी शब्द चारों वेदों में नहीं है। उत्तरवेदी शब्द यजुर्वेद १९।१६ में एकबार आता है, परन्तु हम कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के प्रमाण से लिख आये हैं कि वह भाग ब्राह्मण है, संहिता नहीं। इससे मालूम हुआ कि उत्तरवेदी जिसमें पशुवध होता है, वह संहिताकालीन नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणकालीन है, अतः वेदों में पशुयज्ञ का वर्णन और विधान नहीं है।

(७) पशुयज्ञों के संहिताकालिक न होने का बहुत बड़ा प्रमाण तैत्तिरीयसाहित्य में लिखा हुआ है। वहाँ लिखा है कि—

यदृचोऽध्यगीषत ताः पय आहुतयो देवानामभवत्।
यद्यजूँषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो
यदथर्वांगिरसोमध्वाहुतयो यद्ब्राह्मणानि इतिहासान्
पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो
देवानामभवन्। (तैत्तिरीय प्र० २ अ० ९ मं० २)

अर्थात् ऋग्वेद का पाठ देवताओं के लिए दूध की आहुतियाँ, यजुर्वेद का घृत की आहुतियाँ, सामवेद का सोम की आहुतियाँ, अथर्ववेद का मधु की आहुतियाँ और ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी आदि का पाठ मेद की आहुतियाँ हैं। यहाँ चारों वेदों का सम्बन्ध दूध, घृत, सोमरस और मधु की आहुतियों के साथ बतलाया गया है, किन्तु वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण और पुराण आदि जितने उत्तरयुगीय शास्त्र हैं, सबका सम्बन्ध मेद अर्थात् चर्बी की आहुतियों के साथ बतलाया गया है। इस प्रमाण से बहुत ही अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि पशुयज्ञ संहिताकालिक नहीं, प्रत्युत तैत्तिरीय अर्थात् रावणादिकालिक है और रावणादि से राजा वसु के पास पहुँचा है तथा (जैसा कि ऊपर कहा गया है) राजा वसु ने आर्यों में प्रचलित कर दिया है।

(८) पशुहिंसा के उत्तरकालीन होने में बुद्ध भगवान् की सर्वोत्कृष्ट साक्षी है। सुत्तनिपात ग्रंथ में लिखा है कि एक बार ब्राह्मणों ने बुद्ध से पूछा कि क्या इस समय ब्राह्मण लोग सनातनधर्म का पालन करते हैं? इस पर बुद्ध ने कहा कि—

अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा
एतमत्थवसं ञत्वा नास्सुगावो हनिंसुते ॥
न पादा न विसाणेन नास्सु हिंसन्ति केनचि।
गावो एळक समाना सोरता कुंभ दूहना ॥
ता विसाणे गहेत्वान राजा सत्थेन घातयि।

अर्थात् पूर्वसमय के ब्राह्मण लोग अन्न, बल, कान्ति और सुख की देनेवाली मानकर गौ की कभी हिंसा नहीं करते थे, परन्तु आज घड़ों दूध देनेवाली, पैर और सींग से न मारनेवाली, बकरी के समान सीधी गाय को गोमेध में मारते हैं। इससे स्पष्ट पाया जाता है कि बुद्ध के समय में यह बात अच्छी तरह प्रकट थी कि पूर्वसमय में गौ का यज्ञ में वध नहीं होता था। चारवाक स्पष्ट ही कहता है कि '**मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्**'

अर्थात् वेदों में मांसभक्षण निशाचरों का मिलाया हुआ है। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है। कि पशुवध वेदों में नहीं है, यह कृत्य पीछे से राक्षसों के संसर्ग से आया है।

(९) यज्ञों में मांसाहुति और मांसाहार का प्रचार करनेवालों की हिन्दूशास्त्रों में बहुत ही अधिक निंदा की गई है। निंदा करते हुए कहा है कि पशुवध नवीन है। महाभारत में लिखा है कि—

> श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।
> येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥ (महा० अनु० ११५।५६)
> सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं कृसरादनम्।
> धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।
> मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्। (महा० शां० मो० २६५।९–१०)

अर्थात् पूर्वकाल में अन्नपशु से ही याज्ञिक लोग यज्ञ करते थे। मद्य, मांस आदि का प्रचार तो लोभी, लोलुप और धूर्तों ने कर दिया है, अतः इसका वेद में कुछ ज़िक्र नहीं है। इसी तरह महाभारत अनुशासन पर्व, अध्याय ११५ में लिखा है कि '**न भाग, अम्बरीष, गय, आयुर्नाथ, अरण्य, दिलीप, रघु, पुरु, नहुष, ययाति, नृग, शशबिन्दु, युवानाश्व, शिबि, औशीनर, मुचकुन्द, हरिश्चन्द्र, सेनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रंतिदेव, वसु, संजय, कृपभरत, राम, अलक, विरूपाश्व, निमि, जनक, ऐल, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शंभु, श्वेत, सगर, अज, धुंधु, सुबाहु, क्षुप, मरुत् 'एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्**' अर्थात् उपर्युक्त, समस्त राजाओं तथा अन्य राजाओं ने कभी मांस नहीं खाया। इन समस्त प्रमाणों, पुरातन आचारों और ऐतिहासिक साक्षियों से स्पष्ट है कि मांसयज्ञ वेदकालिक नहीं, प्रत्युत मध्यमकालिन है और रावणादि असुर धूर्तोंके प्रचलित किए हुए हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि असुरों ने इन्हें कैसे प्रचलित किया?

यह तो मानी हुई बात है कि असुर और राक्षस मांसाहारी थे। उपर्युक्त राजा वसु के इतिहास से प्रकट हो रहा है कि असुरों की सोहबत से ही प्रेरित होकर राजा वसु ने मांस-यज्ञ के पक्ष में अपना मत दिया था और अज शब्द के अर्थों के ही कारण मांसयज्ञ का आरंभ हुआ था। क्योंकि अज शब्द के दो अर्थ हैं—पुराना धान्य और बकरा। जिस प्रकार अज के दो अर्थ हैं, उसी तरह गौ, अश्व, मांस, रुधिर, त्वचा आदि शब्दों के भी दो दो तीन तीन अर्थ हैं। द्व्यर्थक शब्दों को लेकर ही मांसाहारी असुरों ने पशुयज्ञ का प्रचार कर दिया है। यहाँ हम द्व्यर्थक शब्दों के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं—

वैदिक कोष निघण्टु के देखने से ज्ञात होता है कि वेद में मेघ को अद्रि, अश्मा, पर्वत गिरि और उपल भी कहते हैं। परन्तु ये सब शब्द लोक में पहाड़ों के लिए ही व्यववहार में आते हैं। इसी तरह वेद में सागर और समुद्र शब्द अन्तरिक्ष के लिए भी आये हैं, परंतु व्यवहार में ये शब्द समुद्र के ही लिए आते हैं। वेद में गावः शब्द किरणों के लिए और सुपर्ण शब्द घोड़े तथा किरणों के लिए भी आता है। इस तरह से गो और अश्व दोनों शब्द सूर्यकिरणों के भी वाची माने जाते हैं। जो हाल इन शब्दों का है, वही हाल अन्य सैकड़ों शब्दों का है। इन अर्थों के अतिरिक्त वैज्ञानिक परिभाषा के कारण भी शब्दों के दो दो अर्थ हो जाते हैं। वेद का 'य न यज्ञमयजन्त देवाः' मंत्र प्रसिद्ध है। यास्काचार्य ने इस टुकड़े का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-

अग्निना अग्निमयजन्त देवा : अग्नि : पशुरासीत्तं देवाऽलभन्त ' अर्थात् देवोंने अग्नि से आग्नि को यजन किया, क्योंकि अग्नि ही पशु था, उसी को देवता प्राप्त हुए। यहाँ अग्नि को पशु कहा गया है। यही नहीं, किन्तु वायु और सूर्य को भी पशु कहा गया है ×। तथा यजुर्वेद अध्याय ३१ के 'सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्' मंत्र में पुरुष को भी पशु कहा गया है। इस मंत्र के दो अर्थ हैं। पहिला अर्थ यह है कि रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, मेद और वीर्य की सात परिधियाँ बनाकर पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और एक मन की इक्कीस समिधाओं को लेकर और आत्मारूपी पुरुष पशु को बाँधकर देवताओं ने शरीरयज्ञ को फैलाया और दूसरा अर्थ यह है कि सातों स्वरों की सात परिधियाँ बनाकर इक्कीस मूर्छनाओं की इक्कीस समिधाओं को लेकर और नादरूपी पुरुष पशु को बाँधकर देवताओं ने सङ्गीतयज्ञ को फैलाया। इन दोनों अर्थों से आत्मा और नाद भी पशु ही सिद्ध होते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि अग्नि, वायु, सूर्य, आत्मा और नाद आदि को पशु कहने का क्या कारण है? इस विषय का निर्णय शतपथ ब्राह्मण के एक प्रश्नोत्तर से अच्छी तरह हो जाता है। वहाँ पूछा गया है कि 'कतमः प्रजापतिरिति ' अर्थात् प्रजा का पालन करनेवाला कौन है? तो उत्तर दिया गया है कि ' पशुरिति ' अर्थात् प्रजा का पालन करनेवाले पशु ही है। मालूम हुआ कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजा का पालन करती हैं वे सब पशु शब्द से ही सूचित की गई हैं। अग्नि आँख और रूप को देकर, वायु प्राण और बल को देकर, सूर्य मेधा और चैतन्य को देकर, आत्मा जीवन देकर और नाद आनन्द को देकर प्रजा का पालन करते हैं, इसीलिए पशु नाम से सूचित किये गये हैं और इसी तरह अनेकों शब्द वैज्ञानिक परिभाषाओं के कारण दो दो अर्थ रखते हैं। जिस प्रकार ये शब्द अपना अपूर्व अर्थ रखते हैं, उसी तरह उपर्युक्त अज शब्द भी वैज्ञानिक अर्थ के ही कारण बीज अर्थ में आता है। अज का अर्थ न पैदा होनेवाला है। बीज का मतलब भी यह है। बीज भी कभी पैदा नहीं होता। बीज–कारण–सदैव उत्पत्तिरहित अनादि काल से चला आ रहा है। इसीलिए 'अजसंज्ञानि बीजानि' के अनुसार अज का अर्थ बीज भी होता है। वेद में इस प्रकार के अर्थकौशल का चमत्कार भरा पड़ा है। जिस प्रकार वेद शब्दों के दो दो तीन तीन अर्थ होते हैं, उसी तरह लौकिक शब्दों के भी अनेक अर्थ होते हैं। 'भावप्रकाश' में इस प्रकार के कई शब्द दिये हुए हैं–

अक्षशब्दः स्मृतोऽष्टासु सौवर्चलविभीतके
कर्षपद्माक्षरुद्राक्षशकटेन्द्रियपाशके।
काकाख्यः काकमाची च काकोली काकणंतिका।
काकजंघा काकनासा काकोदुंबरिकापि च।
सप्तस्वर्थेषु कथितः काकशब्दो विचक्षणैः।
सर्पद्विरदमेषेषु सीसके नागकेसरे।
नागवल्यां नागदंत्यां नागशब्दः प्रयुज्यते।

× अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त,
सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त। (यजुर्वेद २३।१७)

मांसे द्रवे चेक्षुरसे पारदे मधुरादिषु।
बालरोगे विषे नीरे रसो नवसु वर्तते॥

अर्थात् अक्ष शब्द के आठ अर्थ हैं—संचर नमक, बहेड़ा, एक कर्ष (तौल), पद्माक्ष, रुद्राक्ष, छकड़ा, इन्द्री और पांसे। काक शब्द के सात अर्थ हैं—मकोय, काकोली, लाल घुंगची काकजंघा, काकनासा, कठूमर और काकपक्षी। नाग शब्द के आठ नाम हैं—सांप, हाथी, मेंदा, सीसा, नागकेशर, नागरबेल पान और नागदंती। रस शब्द के नौ अर्थ हैं—मांस, द्रव, ईख का रस, पारद, मधुरादि छे रस, बालक का एक रोग, विष, जल और काव्य के नौ रस।

जिस प्रकार ये शब्द अनेक अर्थ रखते हैं, उसी तरह गो, वृषभ, अज और अश्व आदि शब्द भी अनेक अर्थ रखते हैं। यहाँ हम नमूने के तौर पर गो आदि कुछ शब्दों के अनेक अर्थों को दिखलाने का यत्न करते हैं। निरुक्त में लिखा है कि 'चर्म च श्लेष्मा च स्नायु च ज्यापि गौरुच्यते' अर्थात् चमड़ा, श्लेष्मा, नसें और धनुष की डोरी को भी गौ कहते हैं। ऐसी दशा में जहाँ चमड़े और पत्यञ्चा के काटने की बात हो, वहाँ गौ के काटने का अर्थ ले दौड़ना बहुत ही सहज है। इन नामों के अतिरिक्त जिह्वा, वाणी, पृथिवी, किरण और इन्द्रियों को भी गौ कहा गया है। इस प्रकार से जब गौ, शब्द के अनेकों अर्थ हैं तब हर जगह चतुष्पाद गौ का ही ग्रहण करना नितान्त अनुचित है।

जिस प्रकार गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं, उसी तरह वृषभ शब्द भी अनेक अर्थों में आता है। यहाँ हम वैद्यक के ग्रन्थों से दिखलाते हैं कि संस्कृत में जितने शब्द बैल के अर्थ में आते हैं, वे सब काकड़ासिंगी औषधि के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषभो गोपतिर्धीरो वृषाणी धूर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुंगवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः॥ (राजनिघण्टु)
शृङ्गी कर्कटशृङ्गी च स्यात् कुलीरविषाणिका।
अजशृङ्गी च रक्त च कर्कटाख्या च कीर्तिता॥ (भावप्रकाश)

इन श्लोकों में वृषभ के समस्त नाम काकड़ासिंगी के लिए आये हैं। ऐसी हालत में जहाँ कहीं काकड़ासिंगी के काटने, पकाने और खाने का वर्णन हो, वहाँ बैल के काटने, पकाने और खाने का अर्थ करना बहुत ही सहज है। इसी तरह वाग्भट्ट में अनेक प्राणियों के नाम से धानों (चावलों) की अनेक जातियों का वर्णन किया गया है। एक जगह पर लिखा है कि—

ततः क्रमान् महाव्रीहिः कृष्णव्रीहिर्जतूमुखाः।
कुक्कुटाण्डकपालाख्या पारावतसूकराः।
वारकोद्दालकोज्वालचीनशारददर्दुराः।

यहाँ जतुमुख, कुक्कुटाण्ड, कपाल, पारावत, सूकर और दर्दुर आदि अनेक प्राणियों के नाम से चावलों का वर्णन किया गया है। यदि कहीं पर सूकर और दर्दुर पकाकर हवन करने की विधि हो, तो लोग यही कहेंगे सुवर और मेंढक के मारने, पकाने, हवन करने और खाने का विधान है, परन्तु यहाँ बात ही कुछ और है। इसी तरह भावप्रकाश में लिखा है कि—

अजमोदा खराश्वा च मयूरी दीप्यकस्तथा ।

यहाँ अश्व, खर और मयूरी आदि नाम अजमोदा के बताये गये हैं । अश्वगन्धा का भी अश्व के नाम से वर्णन किया गया है । इसी तरह सुश्रुत में लिखा है कि—

अजा महौषधी ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरा ।

यहाँ अजा भी औषधि ही बताई गई है । कहने का मतलब यह है कि गौ, वृषभ, सूकर, अश्व और अजा आदि जितने प्राणियों की यज्ञ में हिंसा बतलाई जाती है, वे सब ओषधियाँ हैं और हवनीय तथा प्राशीय पदार्थ हैं । केवल द्व्यर्थक होनेसे ही असुरों ने उनका हिंसापरक अर्थ करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया है । इस पर कोई कह सकता है कि यह तो पशुओं और अन्नों के नामों की समता का समाधान हुआ, पर जहाँ यज्ञ में स्पष्ट मांस, अस्थि, मज्जा और नामों के वर्णन आते हैं, उसका क्या इलाज है ? हम कहते हैं, वहां भी दो भिन्न भिन्न अर्थों के ही कारण ऐसा भासित होता है । सुश्रुत में आम के फल का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः ।
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाऽविर्भूता उपलभ्यन्ते ।।

अर्थात् आम के कच्चे फल में नसें, हड्डियाँ और मज्जा आदि प्रतीत नहीं होतीं, किन्तु पकने पर सब आविर्भूत हो जाती हैं । यहाँ गुठली के तन्तु रोम, गुठली हड्डियाँ, रेसे नसें और चिकना भाग मज्जा कहा गया है । इसी तरह का वर्णन भावप्रकाश में भी आया है । वहाँ लिखा है कि—

आम्रास्यानुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो ।
लक्ष्यन्ते न पृथक् पृथक् तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः ।।
एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा ।
लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिं गताः ।।

अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में मांस, अस्थि और मज्जादि पृथक् पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, किन्तु पकने पर ही ज्ञात होते हैं, उसी तरह गर्भ के आरंभ में मनुष्य के अङ्ग भी नहीं ज्ञात होते, किन्तु जब उनकी वृद्धि होती है, तब स्पष्ट होते जाते हैं । इन दोनों प्रमाणों से प्रकट हो रहा है कि फलों में भी मांस, अस्थि, नाड़ी और मज्जा आदि उसी तरह कहे गये हैं, जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में । वैद्यक के एक ग्रन्थ में लिखा है कि—

प्रस्थं कुमारिकामांसम् ।

अर्थात् एक सेर कुमारिका का मांस । यहाँ घीकुवार को कुमारिका और उसके गूदे को मांस कहा गया है । कहने का मतलब यह कि जिस प्रकार ओषधियों और पशुओं के नाम एक ही शब्द से रक्खे गये हैं, उसी तरह ओषधियों और पशुओं के शरीरावयव भी एक ही शब्द स कहे गये हैं । इस प्रकार का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भरा पड़ा है । श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, के छपे हुये 'ओषधिकोष' में नीचे लिखे समस्त पशुसंज्ञक नाम और अवयव

वनस्पतियों के लिये भी आये हुए दिखलाये गये हैं। हम नमूने के लिए कुछ शब्द उद्धृत करते हैं।

वृषभ—ऋषभकन्द	—जीवशाक
श्वान—कुत्ताघास, ग्रन्थिपर्ण	कुक्कुट (टी)—शाल्मलीवृक्ष
मार्जार—बिल्लीघास, चित्ता	नर—सौगन्धिक तृण
मयूर—मयूरशिखा	मातुल—धमरा
बीछू—बीछूबूटी	मृग—सहदेवी, इन्द्रायण, जटामासी, कपूर
सर्प—सर्पिणीबूटी	पशु—अम्बाडा, मोथा
अश्व—अश्वगंधा	कुमारी—घीकुमार
अज—अजमोदा	हस्ति—हस्तिकंद
नकुल—नकुलीबूटी	वपा—झिल्ली=अक्कल के भीतर का जाला
हंस—हंसपदी	अस्थि—गुठली
मत्स्य—मत्स्याक्षी	मांस—गूदा, जटामासी
मूषक—मूषाकर्णी	चर्म—बक्कल
गो—गौलोमी	स्नायु—रेशा
महाज—बड़ी अजवायन	नख—नखबूटी
सिंही—कटेली, वासा	मेद—मेदा
खर—खरपर्णिनी	लोम (शा)—जटामासी
काक—काकमाची	हृद—दारचीनी
वाराह—वाराहीकन्द	पेशी—जटामासी
महिष—महिषाक्ष, गुग्गुल	रुधिर—केसर
श्येन—श्येनघंटी (दन्ती)	आलम्भन—स्पर्श

इस सूची में समस्त पशुपक्षियों और उनके अवयवों के नाम तथा तमाम वनस्पतियों और उनके अवयवों के नाम एक ही शब्द से सूचित किये गये हैं। ऐसी दशा में किसी शब्द से पशु और उसका ही अवयव ग्रहण नहीं किया जा सकता। यद्यपि बिना कारण के कोई विशेष अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि ऐसी सन्देहात्मक भाषा क्यों बनाई गई, जिसका अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता? इस प्रश्न का इतना ही उत्तर है कि संसार में ऐसी एक भी भाषा नहीं है, जिसके शब्दों के दो दो तीन तीन अर्थ न होते हों। अब रही यह बात कि ऐसा क्यों होता है और क्यों एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हम देखते हैं कि वेद में दो कारणों से ऐसा हुआ है। एक कारण तो यह है कि थोड़े ही शब्दों के द्वारा अनेक विषयों का वर्णन कर दिया जाय और दूसरा कारण यह है कि दो पदार्थों की समता के कारण भी दोनों का एक ही नाम दिया जाय। पहिला कारण स्पष्ट है, उसमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

सभी भाषाशास्त्री चाहते हैं कि यदि थोड़े से शब्दों के ही द्वारा संसार का काम चल जाय तो अच्छा। किन्तु पदार्थसाम्य से भिन्न भिन्न पदार्थों का नाम एक ही शब्द के

द्वारा रखने में बहुत ही ऊँचे ज्ञान की आवश्यकता है। अभी थोड़ी देर पहले हम लिख आये हैं कि अन्तरिक्ष और समुद्र के नाम एक ही शब्द के द्वारा रक्खे गये हैं। इसी तरह पहाड़ों और बादलों के नाम भी एक ही शब्द के द्वारा रक्खे गये हैं। ये दोनों उदाहरण पदार्थसाम्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। जिन्होंने समुद्र देखा है, वे जानते हैं कि वह किस प्रकार हूबहू आकाश की नीलिमा के साथ मिल जाता है। इसी तरह जिन्होंने पहाड़ देखे हैं, वे जानते हैं कि बादलों की बनावट भी पहाड़ों के ही सदृश होती है। वेदों ने इस प्रकार का समतमूलक नामकरण करके भाषाविज्ञान को बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जो खूबी इन समताओं में पाई जाती है, वही समता मनुष्यों, प्राणियों और वनस्पतियों में भी पाई जाती है। ये तीनों थोक रूप बदले हुए एक ही थोक के परिणाम हैं। तीनों के शरीरों में जो अवयव हैं, वे भी सब एक ही प्रकार का काम दे रहे हैं। इसीलिए पशुओं और उनके अंगों के ही नामों से वनस्पतियों और उनके अंगों के भी नाम रक्खे गये हैं। इसमें भाषाशास्त्र की महान् खूबी प्रतीत होती है। यद्यपि इसमें भाषाशास्त्र की खूबी है—विज्ञान है—सब कुछ है, परन्तु सत्य बात के निर्णय करने में जो दिक्कत होती है, उसका क्या इलाज है ?

हम कहते हैं कि सत्य अर्थ के निर्णय करने में कुछ भी दिकत नहीं है। वेदों में जहाँ कहीं इस प्रकार के द्व्यर्थक शब्दों के कारण गड़बड़ होने की सभावना हुई है, परमात्मा ने तुरन्त ही उसका स्पष्टीकरण कर दिया है। क्योंकि संदिग्ध बात के स्पष्टीकरण करने के लिए जब साधारण मनुष्य के भी हृदय में प्रेरणा होती है, तब वह जगन्नियन्ता जिसने मनुष्यों के कल्याण के लिए वेदवाणी दी है, क्या सन्देहों का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है। हम यहाँ एक साधारण विद्वान् की एक उक्ति का नमूना दिखलाकर बतावेंगे कि किस प्रकार परमात्मा ने वेदों में यज्ञविषयक संदिग्ध शब्दों का स्पष्टीकरण किया है। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥

अर्थात् जो नित्य गोमांस खाता है और मदिरा पीता है, वही कुलीन है, अन्य मनुष्य कुलघाती हैं। कैसा भयङ्कर प्रयोग है ! सुनने में कितना पाप प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में पाप की कोई बात नहीं है। अगले ही श्लोक में लेखक ने इसका मतलब स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है कि—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।

अर्थात् योगी पुरुष जिह्वा को लौटकर तालू में प्रवेश करता है, उसी को गोमांसभक्षण कहा गया है। गो जिह्वा को कहते ही हैं और जिह्वा मांस की ही होती है। इसलिए जिह्वा को गोमांस के नाम से कहा गया है। यदि दूसरे श्लोक में यह बात स्पष्ट न कर दी जाती तो गोमांसभक्षण की विधि स्पष्ट रूप से पाई जाती। किन्तु लेखक ने यह समझकर कि लोगों को भ्रम न हो जाय, तुरन्त ही बात को स्पष्ट कर दिया है। इसी तरह वेदों में भी ऐसे संदिग्ध द्व्यर्थक शब्दों का समाधान और स्पष्टीकरण परमात्मा ने भी कर दिया है। अथर्ववेद में स्पष्ट लिखा है कि—

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्। (अथर्व० १८।४।३२)

अर्थात् धान ही धेनु हैं और तिल ही उनके बछड़े हैं। धान अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए अनेक धानों के नाम बता दिए गये हैं। अथर्व में ही लिखा है कि—

एनीर्धाना हरिणी श्येनी रस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै ॥ (अथर्व० १८।३४।४)

अर्थात् हरिणी, श्येनी, रस्या, कृष्णा और रोहिणी आदि धान ही धेनु हैं। इनके तिल-रूपी बछड़े हमें बल दें। यहाँ बतला दिया गया कि हवन के प्रकरण में हरिणी, श्येनी और धेनु तथा वत्स आदि शब्द धान और तिल के वाचक हैं। इसी तरह मांस आदि शब्दों के विषय में भी अथर्ववेद में लिखा है कि—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः। (अथर्व० ११।३।५)
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितम्। (अथर्व० ११।३।७)

अर्थात् चावल के कण ही अश्व हैं, चावल ही गौ हैं, भूसी ही मशक है, चावलों का जो श्याम भाग है, वही मांस है और जो लाल अंश है, वही रुधिर है। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया कि हवनप्रकरण में जहाँ जहाँ अश्व, गौ, अजा, मांस, अस्थि और मज्जा आदि शब्द आते हैं, उनसे अन्न का ही ग्रहण है, पशुओं और पशुओं के अवयवों का नहीं। इस प्रकार से वेदों ने अपने आप अपने संदिग्ध द्व्यर्थक शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इसी आज्ञा के अनुसार ब्राह्मणग्रंथों ने भी उक्त शब्दों का निवर्चन किया है। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयति
अथ त्वग्भवति। यदा स यौत्यथ मांसं भवति। संतत इव हि
तर्हि भवति संततमिव हि मांसं। यदाशृतोऽथास्थि भवति
दारुण इव हि तर्हि भवति दारुणमित्यास्थि। अथ यदुद्वा
स यन्नभिधारयति तं मज्जानं ददाति। एषो सा संपद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति।

अर्थात् जो आटा है, उसी की लोम संज्ञा है। जब उसमें पानी मिलाया जाता है, तब वही चर्म संज्ञावाला होता है। जब गूँधा जाता है, तब मांस संज्ञावाला कहलाता है। जब तपाया जाता है, तब उस तपे हुए का नाम अस्थि होता है और जब उसमें घी डाला जाता है, तब वह मज्जा कहलाता है। इस तरह से इस पके हुए पदार्थ का नाम पशु है। इसी तरह के पारिभाषिक नाम ऐतरेयब्राह्मण (२।६।९) में भी गिनाये गये हैं। वहाँ लिखा है कि—

स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशस्तस्य
यानि किंशारूपाणि तानि रोमाणि ये तुषाः सा त्वग्
ये फलीकरणास्तत् सृग् यत्पिष्टं तन्मांसं। एष पशूनां मेधेन यजते।

अर्थात् इस पुरोडाश में जो दाने हैं, वही रोम कहलाते हैं, जो भूसी है वही त्वचा कहलाती है, जो टुकड़े हैं वही सींग कहलाते हैं और जो आटा है वही मांस कहलाता है। इस प्रकार के पके हुए अन्न का नाम पशु है। जिस प्रकार फल के अवयवों को मांस, अस्थि

और मज्जा कहा है, जिस प्रकार प्राणी के शरीरावयवों को मांस, अस्थि और मज्जा आदि कहा जाता है और जिस प्रकार भूसी, कण और भात को खाल, अस्थि और मांस कहा गया है, ठीक उसी तरह फल और अन्न के उन उन अवयवों से बने हुए हवनीय द्रव्यों को भी उन्हीं उन्हीं नामों में कहा गया है, और जिस प्रकार अग्नि को पशु, वायु को पशु, सूर्य को पशु और पुरुष को पशु कहा गया है, उसी तरह उन उन अवयववाले समस्त हवनीय पदार्थों को भी समष्टिरूप से पशु ही कहा गया है। क्योंकि हवनीय द्रव्यों के खाने से ही पोषक शक्ति की प्राप्ति होती है, इसी से उनका समूह पशु कहलाता है। इस पशु से चतुष्पाद पशु का कुछ भी वास्ता नहीं है, जैसा कि स्वयं वेद ने ही स्पष्ट कर दिया है। जिस प्रकार अस्थिमांसवाले मनुष्य को पुरुषपशु कहा गया है और जिस प्रकार अस्थिमांस के होनेसे चतुष्पाद पशु भी पशु कहा गया है, उसी तरह अस्थि, मांस, मज्जावाले आम आदि फल और धान आदि अन्न भी पशु ही हैं, जैसा कि 'अश्वाः कणा गावस्तण्डुलाः' में वेद ने कह दिया है। इस प्रकार से इस अन्न और फलमय पशु का—देखने, सुनने, स्मरण करने की पोषक शक्ति देनेवाले हवनीय अन्नमय पशु का यज्ञ में विधान है, परन्तु गौ आदि चतुष्पाद पशुओं के होम का विधान नहीं है।

इस अन्नमय पशु के हवन का विधान वेद में सर्वत्र पाया जाता है। हम द्वितीय खण्ड के यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि तीन प्रकार के यज्ञ हैं। एक ब्रह्माण्डयज्ञ है, दूसरा पिण्डयज्ञ है और तिसरा यह घृतादि का लौकिक यज्ञ है। जिस प्रकार इस घृतादि के सांसारिक यज्ञ को अन्न से ही करने का विधान है, उसी तरह पिण्ड और ब्रह्माण्ड के भी दोनों यज्ञ अन्न से ही करने के लिए कहा गया है और वहाँ भी अन्नपशु के सन्देह का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। जिस प्रकार संसार की गौ बछड़े आदि संदिग्ध शब्दों के लिए खुलासा कर दिया गया है कि धान ही गौ हैं, तिल ही बछड़े हैं, उनका श्याम भाग ही मांस है और लालिमा ही रक्त है, इसी प्रकार आकाशी गौ के लिए भी स्पष्ट कर दिया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवा०। (अथर्व० ९।२।१३)

अर्थात् अग्नियव, इन्द्रयव, सोमयव और यववाली अन्नादि चीज़ें सब यव ही हैं और देवता इन यवों को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर खुलासा कर दिया कि '**अग्निः पशुरासीत्**' में जो अग्नि को पशु कह आये हैं, वह अग्निपशु चतुष्पाद पशु नहीं है, प्रत्युत यवरूपी ही पशु है। इसी तरह शारीरिक यज्ञ के प्रकरण में भी कह दिया है कि—

प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते। (अथर्व० ११।४।१३)

अर्थात् प्राण और अपान ही व्रीहि और यव हैं। प्राण ही बैल है। जो में ही प्राण रक्खा हुआ है और अपान ही व्रीहि कहलाता है *। इस वर्णन से भी ज्ञात हो गया कि यहाँ

---

* अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति। (भगवद्गीता ४।२९।३०)

भी प्राण को बैल बतलाकर बैल को भी अन्न ही कह दिया है, चतुष्पाद बैल नहीं। कहने का मतलब यह कि यज्ञ के प्रकरण में जहाँ कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द आये हैं उन सबका मतलब अन्न ही है, चतुष्पाद पशु नहीं। क्योंकि गोपथ ४।६ में स्पष्ट लिखा है कि 'पशवो वै धाना' अर्थात् धान्य ही पशु है।

यहाँ तक वेद में आये हुए मांसयज्ञसम्बन्धी द्व्यर्थक शब्दों का विवेचन हुआ। इस विवेचन से ज्ञात हुआ कि वेद में द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है, उसका निराकरण स्वयं वेदों ने ही कर दिया है और स्पष्ट कर दिया है कि वेदों में अन्न के ही हवन की विधि है, पशु के हवन की नहीं। यह बात और भी पुष्ट हो जाती है जब हम मध्यमकालीन साहित्य को देखते हैं। यद्यपि मध्यम काल में असुरों के द्वारा द्व्यर्थक शब्दों के सहारे किया हुआ अर्थ प्रचलित हो गया था और यज्ञों में पशुवध होने भी लगा था, परन्तु यह पशुवध सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं कर लिया गया था। इसमें मतभेद था और पशुयज्ञ से सम्बन्ध रखनवाले अनेकों प्रयोगों का अर्थ दो प्रकार से किया जाता था। हमारी यह बात नीचे लिखे कतिपय वाक्यों से स्पष्ट होती है। मीमांसा में लिखा है कि—

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्।
(मीमांसा १२।२।२)

अर्थात् जैसे यज्ञ में पशुहिंसा मना है, वैसे मांसपाक भी मना है। उसकी दूसरी जगह १०।३।६५ और १०।७।१५ में लिखा है कि **'धेनुवच्च अश्वदक्षिणा'** और **'अपि वा दानमात्रं स्यात् भक्षशब्दानभिसम्बन्धनात्'** अर्थात् गौ की तरह घोड़ा भी यज्ञ में दक्षिणा के ही लिए है अथवा केवल दान के ही लिए है। क्योंकि घोड़े के लिए कहीं भक्ष शब्द नहीं आया। आश्वलायन कहता है कि **'होवियं च मांसवर्जम्'** अर्थात् हवन सामग्री में मांस वर्जित है। कात्यायन भी कहता है कि **'आहवनीये मांसप्रतिषेधः'** अर्थात् हवनयोग्य सामग्री में मांस नहीं है। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मांसयज्ञ प्रचलित होनेपर भी वह सर्वस्वीकृत नहीं था।

कुछ लोग बलि, आलम्भ, मधुपर्क और गोघ्नो शब्दों से भी पशुहिंसा निकालते हैं, परंतु हम देखते हैं कि मध्यमकालीन साहित्य भी इन शब्दों का अर्थ हिंसापरक नहीं करता। बलि शब्द का अर्थ मारना नहीं होता। बलिवैश्वदेव में काकबलि, श्वाबलि होती है, पर कौवे और कुत्ते मारे नहीं जाते, प्रत्युत उनको उनका बलि-भाग-दिया जाता है, जिससे बलि का अर्थ मारना नहीं, किंतु भाग सिद्ध होता है। इसी तरह आलम्भ शब्द से भी हिंसा अर्थ नहीं निकलता। निघण्टु में हिंसार्थक जितने शब्द हैं उनमें आलम्भ शब्द नहीं है। मीमांसा २।३।१७ की सुबोधिनी टीका में स्पष्ट लिखा है कि **'आलम्भः स्पर्शो भवति'** अर्थात् स्पर्श का नाम आलम्भ है। यही बात सत्य भी प्रतीत होती है। क्योंकि हम देखते हैं कि यज्ञोपवीत-संस्कार के समय **'अथास्य दक्षिण समधि हृदयमालभते'** और विवाह-संस्कार के समय **'दक्षिणां समधि हृदयमालभते'** आदि पारस्कर सूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी और कन्या के हृदय का स्पर्श होता है। इन दोनों संस्कारों में आलम्भ शब्द से स्पर्श ही किया जाता है, कोई वध नहीं किया जाता। इसी तरह पुराकाल में पशु

आलम्भ अर्थात् पशुस्पर्श भी होता था। यह एक विशेष यज्ञ था। कई वर्ष तक पानी न बरसने से जब पशु भूखों मरने लगते थे, तब किसान लोग स्पर्शयज्ञ करते थे। महाभारत अनुशासनपर्व में लिखा है कि—

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षति वासवः।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः॥

अर्थात् यदि बारह वर्ष तक पानी न बरसेगा तो मैं स्पर्शयज्ञ करूँगा। इस स्पर्शयज्ञ का मतलब यही था कि लोग अपने पशुओं को छू छूकर छोड़ देते थे और कह देते थे कि जाव जहाँ चरनेको मिले चरो। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आलम्भ का अर्थ मारना नहीं प्रत्युत स्पर्श है। जिस प्रकार आलम्भ से पशुहिंसा सूचित नहीं होती, उसी तरह मधुपर्क से भी हिंसा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि लिखा है कि '**मधुपर्के दधिमधुघृतमपि हितं कांस्ये कांस्येन**' अर्थात् तीन भाग दधि, एक भाग शहद और एक भाग घृत कांसे के पात्र में रखने से मधुपर्क बनता है। इसमें भी कोई हिंसा की बात सूचित नहीं होती। अब रही '**गोध्नोऽतिथिः**' की बात। लोग कहते हैं कि अतिथि के लिए गो मारी जाती थी! किन्तु मध्यमकालीन पण्डितों ने इसका भी समाधान कर रक्खा है। पाणिनि मुनि ने इसके लिए एक सूत्र ही बना दिया है। वे कहते हैं कि '**दाशगोध्नौ सम्प्रदाने**' अर्थात् हन् धातु के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इसलिए गोघ्न पद प्राप्ति अर्थ में—दान अर्थ में ही है। अतः जिस अतिथि को गौ दी गयी हो वही गोघ्न है। तात्पर्य यह कि पशुहिंसा से संबंध रखनेवाले प्राचीन साहित्य में जितने शब्द—जितने प्रयोग—मिलते हैं, मध्मयमकालीन वैदिक पण्डितों से सबका तात्पर्य हिंसारहित ही निकाला है। इससे ज्ञात होता है कि पशुयज्ञ कभी भी सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ। यहाँ तक कि आयुर्वेद में भी आर्यों ने मांस औषधियों को अपने लिए नहीं कहा। चरक में स्पष्ट लिखा है कि—

द्विजानामोषधी सिद्धं घृतं मांसविवृद्धये
सितायुक्तं प्रदातव्यं गव्येन पयसा भृशम्। (चरक चि० ८।१४९)

अर्थात् पुष्टी के लिए आर्यों की औषधियाँ मिश्री से युक्त घी और दूध ही हैं। मांस तो '**यक्षरक्षपिशाचान्नम्**' अर्थात् पिशाचों का अन्न है। हमारे यहाँ तक के विवेचन का सार इतना ही है कि असुर राक्षक मांसाहारी थे ही। जब उन्होंने आर्यों में प्रवेश किया तब वेदों के द्व्यर्थक शब्दों से मांस—हवन का विधान बनाकर पशुमांस से यज्ञों को करने लगे और मांस खाने लगे ×। यद्यपि वेदों में इसका स्पष्टीकरण मौजूद है और उस स्पष्टीकरण को लेकर वैदिक विद्वान् आदि से लेकर अबतक कहते चले आ रहे कि—

× श्रीमद्भागवत ११।१४।७ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः। यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि।' अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र देव, दानव और गुह्यक आदिकों ने अपनी प्रकृति के अनुसार वेद का अर्थ किया।

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः। (महा० अनु०)
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद्वेदेषु कल्प्यते (महा० शान्ति०)

अर्थात् हम प्राचीन काल से सुनते आ रहे हैं कि यज्ञविधान में पशुसंज्ञा अन्न की ही है और मांसयज्ञ का प्रचार धूर्तों ने किया है, उसका विधान वेदों में नहीं है, तथापि पाप की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसलिए मांसयज्ञ का प्रचार आर्यों में भी हो गया। प्रचार हो गया, इसमें सन्देह नहीं, पर वह प्रचार सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ। सभी विद्वान् कहते आ रहे हैं कि वेदों में पशुयज्ञ का विधान नहीं है। विष्णुशर्मा ने पञ्चतन्त्र में ठीक ही कहा है कि—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते॥

अर्थात् जंगलों के काटनेवाले, पशुओं को मारने और मनुष्ययों की बलि देनेवाले यदि स्वर्ग को जाएँगे, तो भला नरक को कौन जायगा? इसलिए सर्वतन्त्र सिद्धांत यही है कि वेदों में पशुयज्ञ नहीं है।

जिस प्रकार वेदों में इतिहास और पशुयज्ञ नहीं हैं, उसी तरह वेदों में अश्लीलता भी नहीं है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वेदों में अश्लील बातों का वर्णन है, पर जिन स्थलों को लेकर वे ऐसा करते हैं वे स्थल [illegible] के उत्कृष्ट रसोद्रेक के द्वारा बहुत ही उत्तम शिक्षा देते हैं। इसलिए शिक्षासम्बन्धी वे वर्णन अश्लील नहीं कहला सकते। क्योंकि हम संसार में देखते हैं कि एक ही वस्तु एक स्थान में अश्लील है और वही दूसरे स्थान में अश्लील नहीं है। एक आदमी डॉक्टर के सामने नङ्गा खड़ा है पर उस पर अश्लीलता का कलङ्क नहीं लग रहा, किन्तु वही आदमी यदि किसी अन्य मनुष्य के सामने नग्न खड़ा है, तो उस पर अश्लीलता का कलंक लग रहा है। इसी प्रकार डॉक्टरी की पुस्तकें जिनमें चित्र देकर गुप्तेन्द्रियों के वर्णन होते हैं, वे अश्लील नहीं समझी जातीं, किन्तु वही चित्र जब कोकशास्त्र के वर्णनों के साथ सर्वसाधारण में प्रचलित किये जाते हैं, तो वे अश्लील कहलाते हैं जो। हाल डॉक्टरी की पुस्तकों और कोकशास्त्र का है, ठीक वही हाल वेद और अन्य पुस्तकों का है। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान देनेवाली समस्त पुस्तकों का वही मरतबा है, जो डॉक्टरी और स्कूल से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों का है। इसलिए गुप्ताङ्गों का वर्णन करने से डॉक्टरी की पुस्तकें यदि अश्लील नहीं कहलातीं, तो वेद भी अश्लील नहीं कहला सकते। वेद में जो बातें लिखी गई हैं, वे शिक्षा के ही लिए लिखी गई हैं। इसी तरह डॉक्टरी में भी जो बातें लिखी गई हैं वे भी शिक्षा के ही लिए लिखी गई हैं। अर्थात् जो पुस्तकें मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए लिखी जाती हैं, उनके वर्णन अश्लील नहीं समझे जाते।

दूसरी बात यह है कि वेद काव्य में कहे गये हैं। कविता नव रसवाली होती है और रसोंका उद्रेक ही उसकी खूबी है। रसोद्रेकता काव्य के ही अन्तर्गत समझी जाती है। अतः ऐसे स्थल जहाँ कुछ अश्लील उदाहरण दीखते हैं, वे केवल रसोद्रेक के ही प्रतिपादक हैं, अश्लीलता के नहीं। इसलिए वेदों को शिक्षामय काव्य की पुस्तक समझकर अब उनके उन स्थानों की पड़ताल करना चाहिये, जिनको लोग अश्लील बतलाते हैं। यहाँ हम अश्लीलता के दोचार नमूने दिखलाकर बतलाना चाहते हैं कि किस प्रकार वेद सब कुछ कहकर भी उसका समाधान कर देते हैं।

अश्लीलता से सम्बन्ध रखनेवाली हम यहाँ कुछ वे बातें लिखते हैं, जिनको प्रायः लोग पेश किया करते हैं। लोग कहते हैं कि ऋग्वेद के यमयमीसूक्त में भाईबहन के कुत्सित प्रेम का वर्णन है। बहन अपने सगे भाई से विवाह की याचना करती है। इसी तरह वेद में अपनी कन्या के साथ पिता के गर्भधारण करने का अश्लीलतापूर्ण वर्णन भी मिलता है और वेदों में गुप्ताङ्गों का बड़ा ही बीभत्स वर्णन किया गया है। दो स्त्रियों के साथ सोने का भद्दा, असभ्य और अश्लील वर्णन भी मौजूद है और टोटकाटंबर और जादूटोना के साथ साथ भी अश्लीलता का वर्णन किया गया है। इसलिए वेदों में अश्लीलता का वर्णन है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

हम अभी गत पृष्ठ में लिख आये हैं कि अश्लीलता का आरोप हर स्थान में, हर कृत्य में और हर पुस्तक में नहीं किया जा सकता। संसार में जहाँ सभ्यता और श्लीलयुक्त घटनाएँ हैं, वहाँ असभ्य और अश्लील घटनाएँ भी मौजूद हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। क्या कोई कह सकता है कि संसार में आज तक कभी किसी बहन ने अपने भाई से कुत्सित प्रेम नहीं किया ? क्या कोई कह सकता है कि संसार में आज तक कभी किसी पिता ने अपनी कन्या के साथ मुँह काला नहीं किया ? और क्या कोई कह सकता है कि आज तक संसार में गुप्ताङ्गों और दो दो स्त्रियों का भद्दा दृश्य नहीं देखा गया ? जब ये सब बातें संसार में अपवादरूप से होती हैं, तो क्या परमेश्वर के लिए यह उचित नहीं था कि वह वेद जैसे शिक्षामय काव्य में इनका वर्णन करके उपदेश कर दे कि मनुष्य सदैव इन पापाचरणों, असभ्य व्यवहारों और अश्लील कृत्यों से बचे रहें ? हमारी समझ में तो यह बात अत्यन्त आवश्यक थी कि परमात्मा इन बातों का वर्णन करके मनुष्यों को इनसे बचने की हिदायत कर दे।

जब एक साधारण उपदेशक अपने व्याख्यान में बुराइयों का चित्र खींचकर उनसे बचने का आदेश करता है, तब भला परमेश्वर क्यों न करता ? परमेश्वर ने लोगों को सभ्यतापूर्ण मार्ग में चलाने के अभिप्राय से उक्त समस्त बातों का वर्णन किया है और उन सबसे बचने के लिए सख्त ताकीद कर दी है।

इन अश्लीलताओं को परमात्मा ने इतना खराब समझा है कि उनके उदाहरण तक मनुष्यों में नहीं दिये। मनुष्यों में ही नहीं किन्तु पशु–पक्षी, कीट–पतंग और तृण–पल्लव आदि किसी भी चेतन जगत् से इनके उदाहरण नहीं दिये। परमात्मा ने इन सब अश्लीलताओं के उदाहरण जड़ निर्जीव और अज्ञान प्रकृति में ही दिये हैं। इसका यही कारण है कि बीभत्स रस का वर्णन भी हो जाय और ऐसे अपवादों से बचने के लिए मनुष्यों को उपदेश भी दे दिया जाय। अतः हम यहाँ उक्त अश्लीलताओं का सारांशरूप से वर्णन करके दिखलाते हैं कि किस प्रकार परमात्मा ने वेदों में जड़ प्रकृति के उदाहरणों से उनका वर्णन किया है और किस प्रकार इन कृत्यों को पाप बतला कर उनसे बचने का उपदेश दिया है।

सबसे पहिले यमयमी सूक्त में आये हुए बहिनभाई के संवाद पर ध्यान दीजिए। यह यमयमी सूक्त ऋग्वेद १०।१० और अथर्ववेद १८।१ में आया है। यह यम यमी रात और दिन है। रात और दिन दोनों जड हैं। इन्हीं दोनों जड़ों को भाईबहन मानकर वेद ने एक धर्मविशेष का उपदेश किया है। अलङ्कार के रूपक से दोनों में बातचीत कराई गई है। यमी यम से कहती है कि आप हमारे साथ विवाह कीजिये। पर यम कहता है कि

'पापमाहुर्यः स्वसारं नियच्छात्, न यत् पुरा चकृमा, अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' अर्थात् बहन के साथ कुत्सित व्यवहार करने से पाप होता है। कभी पुराकाल में भाईबहन का विवाह नहीं हुआ। इसलिए तू दूसरे पुरुष को पति बना, मैं विवाह नहीं कर सकता। यहाँ स्पष्ट रूप से भाईने कह दिया कि आज तक ऐसा नहीं हुआ, इसलिए यह पापकर्म मैं नहीं कर सकता। भाई के इस वचन से ज्ञात हो गया कि अगले ज़माने में भाईबहन की शादी नहीं होती थी। इस पर लोग प्रश्न करते हैं कि जब उस समय भाई-बहन की शादी नहीं होती थी, तो ऐसा भद्दा रूपक ही क्यों बाँधा गया? हम कहते हैं कि इस प्रकार के रूपक की आवश्यकता थी। हम देखते हैं कि बहुत से भाई और बहन प्रायः एक ही उमर के होते हैं, दोनों एक ही घर में रहते हैं और पापपुण्य के भाव को अधिक नहीं समझते, इसलिए कभी कभी उनसे इस प्रकार के पाप हो जाते हैं। यही कारण है कि परमात्मा ने जड़ प्रकृति का उदाहरण सामने रखकर लोगों को यह सूचित करा दिया है कि एक जड़ स्त्री के कहने पर भी पाप के डर से और परम्परा की शिक्षा से प्रेरित होकर एक जड़ पुरुष जब इस प्रकार के पापकर्म को करने से इनकार करता है तब चेतन, ज्ञानवान् और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को चाहिये कि वह कभी इस प्रकार के गर्हित कर्म को न करे। परमात्मा ने अचेतन जड़ जगत् में इस प्रकार का विवेक दिखलाकर स्पष्ट आज्ञा दे दी है कि यदि भाई-बहन के साथ विवाह करे। तो वह बध के योग्य समझा जाय।

अथर्ववेद में लिखा है कि—

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ (अथर्व० २०।९६।१५)

अर्थात् जो तेरा भाई तेरा पति होकर जार कर्म करता है और तेरी सन्तान को मारता है, उसका हम नाश करते हैं। इसका मतलब यह है कि जो भाई अपनी बहन के साथ व्यभिचार करेगा, वह लोकलज्जा के कारण बहन के गर्भ का अवश्य ही नाश करेगा। इसी लिए वेद ने ऐसे भाई को प्राणदंड दने की आज्ञा दी है, जो प्रकटरूप से विवाह करता है अथवा गुप्त रूप से जार-कर्म करता है और बहन की सन्तान को मारता है। इस प्रमाण से स्पष्ट हो गया कि वेदों में जड़ बहनभाई का अश्लील सम्भाषण इसी लिए कहा गया है कि भाईबहन में न तो विवाह ही हो और न व्यभिचार ही हो।

ऋग्वेद में इसी प्रकार का दूसरा जड जगत् से संबंध रखनेवाला अलंकार पिता और पुत्री का है। ऋग्वेद में है कि—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ (ऋ० १।१६४।३३)
शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (ऋ० ३।३१।१)

इन मन्त्रों में 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' और 'पिता यत्र दुहितुः सेकमृंजन्' पद आये हैं, जिनका यह अर्थ होता है कि पिता दुहिता में गर्भधारण करता है। इन घटना का खुलासा शतपथ, ऐतरेय और निरुक्त आदि वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार लिखा हुआ है कि

ऊषा सूर्य की कन्या । है सूर्य उसी ऊषा में अपने किरणरूपी वीर्य को स्थापित करके गर्भ धारण करता है, जिससे दिन उत्पन्न होता है । अथवा जलरूपी पिता अपनी पृथिवीरूपी कन्या में मेघद्वारा गर्भ धारण करता है, जिससे वनस्पति पैदा होती है । इस अलंकार के वर्णन से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि ये पिता और पुत्री कोई जीवधारी मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत प्राकृतिक जड पदार्थ हैं । पर शंका करनेवाले कहते हैं कि पिता और पुत्री के लिए ऐसा रूपक ही अश्लील है । क्या वेदों को कोई और दूसरा रूपक नहीं मिलता था, जो ऐसे भद्दे वर्णन का विषय प्रतिपादत किया है ? किन्तु हम कहत हैं कि ऐसे रूपक की ही आवश्यकता थी । जब संसार में इस प्रकार के पिता भी कभी कभी सुननें में आ जाते हैं, तो एक क़ानून की पुस्तक में—ज्ञान की पुस्तक में—केवल असभ्यता के डर के कारण उसका वर्णन न करना और उसको पाप न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह शंका करनेवाले ही समझ लें । जब संसार में इस प्रकार की घटना का अपवाद होता है, तो भला वेद किन शब्दों से उसका वर्णन करते ? वेदों ने तो सभ्यताकी पराकाष्ठा कर दी है, जो ऐसा वर्णन किसी मनुष्य के नाम से न करके जड और अन्धी प्रकृति के नाम से किया है । हाँ, यह वर्णन अवश्य अश्लील होता, यदि यह केवल मनोरञ्जन के लिए किया जाता और इसको पाप न बतलाया जाता । पर बात सर्वथा उलटी है । वेदों ने इस बीभत्स वर्णन के साथ साथ संसार के एक बहुत बड़े पाप का खुलासा करते हुए उपदेश दिया है कि किसी मनुष्य को अपनी पुत्री के साथ इस प्रकार का घृणित व्यवहार कभी न करना चाहिये । अथर्ववेद में आज्ञा है कि—

> यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
> बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ (अथर्व० ८।६।७)

अर्थात् तुझ को यदि सोते समय भूलकर भी तेरा भाई अथवा तेरा पिता प्राप्त हो, तो वे दोनों गुप्त पापी ओषधिप्रयोग से नपुंसक करके मार डाले जाँय । कैसा कठोर दण्ड है ? जब स्वप्न में भी—धोखे में भी—इस प्रकार के कुत्सित विचार आने पर पिता को इतना बड़ा दण्ड देने का विधान है, तब उपर्युक्त अलंकार का यही अभिप्राय निष्पन्न होता है कि वेदों ने ऐसे अपवाद की बीभत्सता की पराकाष्ठा दिखलाने और उसकी निन्दा करने के लिए ही स्थान दिया है । वेदों में ही नहीं प्रत्युत वेद के पश्चात् के साहित्य में भी इस अलंकार के धोखे से बचने के लिए इसकी निन्दा कर दी गई है । यथा—

> प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ दिवं वोषसं वा
> मिथुन्यनेया स्यामिति तां संबभूव तद्वै देवानाभाग
> आसं य इत्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति ।

अर्थात् प्रजापति ने अपनी दुहिता द्यौ अथवा ऊषा का बुरी दृष्टि से चिंतवन किया और इसके साथ रहूँगा, इस प्रकार का विचार करके संग किया, पर देवों के मत से यह पाप हुआ । उन्होंने कहा कि जो इस प्रकार अपनी दुहिता अर्थात् हमारी बहन के साथ बर्ताव करता है, वह पाप करता है । इस प्रकार से यहाँ इस जड ऊषा के अलंकार से स्पष्ट कह दिया गया है कि यदि कोई ऐसा करेगा, तो वह पापी समझा जायगा । भागवत में भी कहा गया है कि—

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।
यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्यांगजं प्रभुः॥ (श्रीमद्भागवत ३।१२)

अर्थात् हे प्रजापति ! तुमने अपनी कन्या को ग्रहण करके जैसा पाप किया है, वैसा न कभी किसी ने पूर्व में किया था और न कोई भविष्य में करेगा। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि वेदों का यह अलङ्कार ऐसे कृत्यों में पाप दिखलाने के लिए प्राकृतिक जड़ ऊषा में प्रकट किया गया है और वेदों के अतिरिक्त अन्य साहित्य में भी ज़ोर से कहा है कि इस प्रकार का सम्बन्ध पाप है, इसलिए मनुष्यों में जारी न हो।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में गुप्तेन्द्रियों का भी वर्णन है। अथर्ववेद में 'बृहच्छेप' का और ऋग्वेद में 'सप्तवध्रि' और 'शिपिविष्ट' का वर्णन है। किन्तु इन शब्दों में किसी मनुष्य की कामक्रीड़ा का वर्णन नहीं है। ये शब्द तो आकाशस्थ सातों किरणों के लिए आये हैं। सातों किरणें एक साथ स्तम्भरूप से जब पृथिवी की ओर आती हैं, तो मानो एक दीर्घ शिश्न मैथुन करने के लिए बढ़ता है। पर वही जब बादलों में छिप जाती है तब मानो वह शेप वध्रि अर्थात् बधिया हो जाता है। लोकमान्य तिलक और अविनाशचन्द्र दास आदि विद्वानों ने इसे अलङ्कार ही बतलाया है। वास्तव में यह अलङ्कार ही है। पर शंका करनेवाले इसे भी अश्लील वर्णन बतलाते हैं, इसलिए यहाँ इसका भी समाधान किया जाता है।

हम कई बार लिख चुके हैं कि वेदों के तीन संसार हैं। यह वर्णन आकाशीय संसार का ही है। आकाश में भी स्त्रीपुरुष हैं, उनके विवाह हैं, गर्भाधान है, रति है और वाजीकरण आदि भी हैं। यहाँ यह बृहच्छेप प्राकृतिक रति का ही वर्णन करता है। इससे गृहस्थधर्म की शिक्षा मिलती है। यह गृहस्थधर्म की शिक्षा इस पृथिवीस्थ संसार के विवाहप्रकरण में दी गई है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि वेदों ने गुप्ताङ्गों का ऐसा वर्णन करके अश्लीलता फैला दी है और वेदकालिक लोग नङ्गे फिरते थे। वेदभगवान् ने जिस प्रकार हिंसासम्बन्धी द्व्यर्थक शब्दों का स्वयं समाधान कर दिया है और पितापुत्री तथा भाईबहन के वैवाहिक अलंकारों का स्वयं स्पष्टीकरण कर दिया है, उसी तरह इस गुप्तेन्द्रिय-विषयक आकाशीय वर्णन से उत्पन्न हुई भ्रांति का भी निवारण कर दिया है। क्योंकि परमात्मा जानता है कि मनुष्य कितनी जल्दी भ्रम में पड़ जाता है। इसलिए उसको भ्रम से बचाने के लिए वेदों में स्थान स्थान पर चेतावनी दे दी है। इस गुप्तेन्द्रिय प्रकरण में भी वेद कहते हैं कि—

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। (ऋग्वेद ७।२१।५)

अर्थात् हे मनुष्यों ! शिश्न को देव मानकर और उसी में रत रहनेवाले उसके पुजारी मुझको प्राप्त नहीं होते। कितनी सुन्दर शिक्षा है ! इस शिक्षा को पाकर मनुष्य कभी भी शिश्न देवोपासक नहीं हो सकता। जब वेद इस प्रकार की शिक्षा देते हैं, तब समझना चाहिये कि उनके वे वर्णन जिनमें गुप्तेन्द्रियों के नाम आते हैं, केवल उपदेश के ही लिए आते हैं। जिस प्रकार डॉक्टरी की पुस्तकों में विशेष प्रयोजन से आये हुये गुप्तेन्द्रियसम्बन्धी वर्णन अश्लील नहीं हैं, उसी तरह विद्या की पुस्तक वेद में आये हुए ये वर्णन भी अश्लील नहीं हो सकते। विशेषकर ऐसी दशा में जब वेद ने ही अपने विषय का स्पष्टीकरण भी स्थान स्थान में स्वयं कर दिया है।

कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में दो दो स्त्रियों के साथ रातदिन पड़े रहने का वर्णन है यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में आया है कि 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या अहोरात्रे पार्श्वे' अर्थात् श्री और लक्ष्मी दोनों स्त्रियाँ रातदिन बग़ल में पड़ी रहती हैं। इस वर्णन में दो औरतों को लेकर रात दिन पड़े रहना कहा गया है, जो अश्लीलता और असभ्यता का नग्न चित्र है। परन्तु हम कहते हैं कि यह कोई असम्भव या अनहोनी बात नहीं है। संसार में हजारों आदमी इस प्रकार के हैं, जो दो दो नहीं, किन्तु चार चार स्त्रियों के साथ विवाह करना धर्म समझते हैं। यदि वेद में इस प्राकृतिक जड़ घटना को लेकर उन लोगों को दो दो विवाह के भयंकर परिणाम दिखलाये गये हैं, तो क्या बुरा किया गया है? वेद में स्पष्ट रूप से दो स्त्रियों के एक साथ विवाह करने के दुष्परिणाम का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ॥
(ऋ० १०।१०१।११)

अर्थात् जिस प्रकार दोनों धुराओं के बीच में दबा हुआ और चिल्लाता हुआ रथ का घोड़ा चलता है, उसी तरह दो स्त्रियों का पति भी हर तरफ़ से दबा हुआ और वनस्पति लगाओ, तालाब खोदो और धनसंग्रह करो का आर्तनाद करता हुआ भागा भागा फिरता है! अनेक स्त्रियोंवाले पुरुषों की दुर्दशा का इस प्रकार वर्णन करके वेदों ने यह आज्ञा दे दी है कि दो स्त्रियों के एक साथ विवाह करने में दुःख है, इसलिए वह पाप ही है। ऊपर जिस प्राकृतिक सूर्य की दो स्त्रियों का वर्णन किया गया है, वह भी अपनी दो स्त्रियों के कारण न सोता है और न आराम करता है, प्रत्युत रात दिन भागा भागा फिरता है, इसलिये दो स्त्रियों के साथ विवाह करना उचित नहीं है। वेद ने इस जड़ अलंकार से भी बतला दिया कि दो पत्नीवाला और रातदिन कामक्रीड़ा करनेवाला पुरुष उन स्त्रियों के बोझ से भागा भागा फिरता है और रातदिन चैन नहीं पाता।

जिस प्रकार इन समस्त प्राकृतिक जड़ अलङ्कारों को बीभत्स रस के साथ वेदों ने वर्णन करके उनको पाप ठहरा दिया है और उनसे बचने के लिए ज़ोरदार शब्दों के द्वारा हिदायत कर दी है, उसी तरह अन्यान्य ऐसे ही स्थलों को किसी विशेष घटना को प्रकट करने के लिए लिखा है और उसका निषेध भी कर दिया है। जो लोग अथर्ववेद के कतिपय मानसिक उपचारों को टोटकाटंबर और जादूटोना समझते हैं, वे भी गलती पर हैं। जिस प्रकार मांस और पशुयज्ञ के सम्बन्ध में द्व्यर्थक शब्दों के कारण लोगों ने अनर्थ किया है, उसी प्रकार इस प्रकरण में भी कर रहे हैं। अथर्ववेद का उपचारप्रकरण मेस्मरेज़्म, हिपनाटिज्म और सजेशन से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसमें भी अश्लीलता की गुंजायश नहीं है। जो वेद स्वयं कहते हैं कि 'सभ्य सभां मे पाहि' अर्थात् हे सभ्य! इस सभा की रक्षा कर, उनमें असभ्यता की बात और अश्लीलता का वर्णन हो ही नहीं सकता। अतएव वेदों में अश्लीलता और असभ्यता का लांच्छन लगाना बड़ी भारी भूल है।

हमनें यहाँ तक वेदों पर लिए गए उन आक्षेपों का उत्तर दिया, जो वेदों की अपौरुषेयता में अड़े आते हैं। वेदों के अर्थों से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेकों शंकाएँ और भी होंगी, परन्तु उन सबका समाधान करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। क्योंकि हम वेदों का

भाष्य करने नहीं बैठे। हमने तो यहाँ उन्हीं शंकाओं का समाधान करना उचित समझा है, जो शंकाएँ वेदों के अपौरुषेय सिद्ध करने में रुकावट डालती हैं। ये शंकाएँ इतिहास, पशु-यज्ञ और अश्लीलता आदि हैं। हमने यहाँ उन्हीं का यथामति समाधान किया है। वेदों की अपौरुषेयता से संबंध रखनेवाली अब कोई शंका बाकी नहीं है। वेदों की इयत्ता निर्धारित हो गई, शाखाओं और प्रक्षेप आदि का वर्णन हो गया, ऋषि, देवता, छन्द तथा मण्डल, अध्याय भी ज्ञात हो गये और वेदों के भाष्य तथा मांसयज्ञ और अश्लीलता आदि का भी समाधान हो गया। इस प्रकार से वेदों की अन्तरङ्गपरीक्षा हो गई। अब आगे वेदों के मंत्रों को लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि उनकी क्या शिक्षा है।

वेदमन्त्रों के उपदेश।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनुष्यों को ज्ञान की जितनी आवश्यकता है, वह सभी ज्ञान वेदों में—संहिताओं में—नहीं है, अर्थात् हमारे व्यवहार में आनेवाली ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका वर्णन वेदों में नहीं है, इसलिए वेदों के साथ जबतक अन्य ग्रंथों की शिक्षा भी सम्मिलित न की जाय, तबतक मनुष्यसमाज का काम नहीं निकल सकता। सुनने में ये बातें ठीक प्रतीत होती हैं, पर ज़रा सा विचार करते ही इस आरोप में कुछ भी दम दिखलाई नहीं पड़ता। क्योंकि यह आरोप वर्तमान समाज के कल्पित व्यवहारों को देखकर उत्पन्न किया गया है और वैदिक शिक्षा के वास्तविक स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया गया। वैदिक शिक्षा में कमी दिखलाई पड़ने के मुख्यतः ये तीन ही कारण हैं—

पहिला कारण यह है कि हमने जिन विषयों को, रीतिरिवाज़ों को और क्रियाकलापों को जितना महत्व दे रक्खा है, वे सबके सब वेद की दृष्टि में उतने ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उदाहरणार्थ हमने दत्तक आदि पुत्रों को गोद लेकर अपनी सम्पत्ति के स्वामी बनाने की रीति को धर्मशास्त्रों में लिख रक्खा है, पर वेद इस रीति को स्थान नहीं देते। इसका कारण यही है कि वैदिक धर्मानुसार कोई आदमी किसी सम्पत्ति का वंशपरम्परागत मालिक नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि शाखाप्रचारकों ने वेदों के मंत्रों को मनमाने स्थानों में रख दिया है, जिससे पूरे प्रकरण की बात ही समझ में नहीं आती। परिणाम यह होता है कि अनेक विषयों में हमारा प्रवेश ही नहीं होता। इसी तरह तीसरा कारण वेदों के अनेक शब्दों के अर्थों की हमारी अनभिज्ञता है। वेद में सैकड़ों शब्द ऐसे हैं, जिनका ठीक ठीक अर्थ नहीं ज्ञात होता। इससे भी अनेक विषयों का ज्ञान यथार्थ रूप से हम तक नहीं पहुँचता। इसलिए वेद में यदि किसी मनुष्योपयोगी आवश्यक विषय का प्रत्यक्ष वर्णन न दिखलाई पड़े, तो उसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि वेद में उसका बीज ही नहीं है।

वेद के समस्त शब्दों के अर्थों का विस्फोटन करके और समस्त मंत्रों को विषयवार एक जगह एकत्रित करके कुछ दिन मन लगाकर स्वाध्याय करने से वेदों में मनुष्योपयोगी समस्त आवश्यक ज्ञान बीजरूप से निकल सकता है, इसमें सन्देह नहीं। परंतु हर समय के योग्य, हर मनुष्य या समाज के योग्य और हर स्थान में व्यवहार करने योग्य बातें वेदों से नहीं निकल सकती। इसका कारण यही है कि वेदों में प्रावेशिक ज्ञान की ही शिक्षा है, कल्पित ज्ञान की नहीं। यदि हम अपने कल्पित रीतिरिवाज़ों को हटा दें और शब्दार्थों को खोलकर

और मंत्रों को विषयवार करके पढ़ें, तो उनसे इतनी शिक्षा मिल सकती है कि जिसके द्वारा मनुष्य की बुद्धि इस योग्य हो जाय कि वह अपना समस्त कार्य कर ले। परन्तु जिन विषयों को वेद ने अनावश्यक समझा है, वे बातें वेदों से नहीं निकल सकती, चाहे भले हमने उनको अपने समाज में—कर्मधर्म में—सम्मिलित ही क्यों न कर लिया हो। नमूने के लिए दत्तक पुत्र की भाँति यज्ञोपवीत को भी लीजिये। संहिताओं में यज्ञोपवीत के लिए सूत, रेशम, ऊन आदि का वर्णन नहीं आता। वहाँ मेखला का ही ज़िक्र है। मखला का अर्थ घेरा है। किसी पदार्थ का गले या कमर में घेरा—माला पहना देना है। अर्थात् चिह्न मात्र कर देना है। ब्राह्मणग्रन्थों ने भी इसे बहुत नहीं बढ़ाया। परतु सूत्रों ने बढाया है। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य के लिए सूत्र में भेद कर दिया है। किन्तु यज्ञोपवीत कितना लम्बा हो, यह उन्होंने भी नहीं कहा। इसे आधुनिक ग्रंथों ने ही बढ़ाया है। यद्यपि इस प्रकार कई बार विधियाँ बढ़ाई गई हैं, तथापि यज्ञोपवीत में कितनी गाँठे हों और उसे किसके हाथ से नापना चाहिये आदि बातें फिर भी रह गई हैं। इसी तरह कान में चढ़ाना या शिर में लपेटना आदि बातें फिर रह गई हैं, जिनको बहुत ही आधुनिक साहित्य ने पूरा किया है। इसका क्या मतलब है? इसका मतलब यही है कि हम अपने रिवाज़ों को जैसे जैसे बढ़ाते जाते हैं, वैसे ही वैसे वह कल्पित रिवाज़ को पुष्ट करने के लिए विधिवाक्य भी लिखते जाते हैं। मानों आगे आगे हम और पीछे पीछे शास्त्र दौड़े रहे हैं। हम शास्त्र के अनुसार नहीं चल रहे प्रत्युत शास्त्र हमारी कल्पना के अनुसार चलते हैं।

पर वेदों का यह हाल नहीं है। वेद किन्हीं रिवाजों के बाद नहीं बने प्रत्युत उन्होंने ही आवश्यक रिवाज़ों को जन्म दिया है। यज्ञोपवीत के लिए वेद इतना ही आवश्यक समझते हैं कि दूसरे कुल में जाने पर, विद्या आरंभ करने पर और शरीर के अन्तिम ध्येय के प्राप्त करनेवाले व्रत को धारण करने पर आवश्यक है कि उसे कोई ऐसा चिह्न दिया जाय, जिससे वह पहिचाना जा सके। समाज उसे उस चिह्न से पहिचाने, जिससे शिक्षा, सत्कार और सहायता आदि देने में सुविधा हो। यह चिह्न चाहे जैसा हो, पर शरीर में सदैव रह सकनेवाला हो। वह एक माला अर्थात् मेखला के ही रूप में अधिक उपयोगी हो सकता है और कमर में गले में या कंधों में ही उसका रहना अधिक उचित मालूम पड़ता है। यही कारण है कि पारसी लोग इसे कमर में ही बाँधते हैं। पहिले ज़माने में बहुत से वैदिक आर्य भी परिकर बंधन की तरह उसे पहिनते थे *। परंतु शाखाभेद से जैसे जैसे पढ़ाई के तरीके बदलते गये और गोत्र बढ़ते गये, वैसे वैसे उपवीत का ढंग भी बदलता गया और भिन्न भिन्न होता गया। यज्ञोपवीत आजकाल जिस अवस्था में पहुँचा है, यदि वह सारी दशा आप वेदों में ढूँढना चाहें, तो नहीं मिल सकती। लड़का पढने जाने लगे और मामा उसे शादी का लोभ देकर वापस कर ले, इस विधि पर न कोई संहिता की श्रुति है, न ब्राह्मणग्रन्थों की गाथा है, न सूत्रों का सूत्र है और न निर्णयसिन्धु की कोई नदी है। इसके लिए तो आल्हखण्ड में भी कोई प्रमाण न मिलेगा कहने का मतलब यह कि वेदों को अपने रिवाज़ों का गुलाम बनाना उचित नहीं है। वेदों में जो शिक्षा बीजरूप से है, उसको ऋषियों ने सुविधा के लिए विस्तारपूर्वक लिखकर अपने ज़माने में हमेशा प्रचलित किया है। ब्राह्मणग्रन्थों के पूर्व भी एक महान् साहित्य था, उसमें भी कुछ था, अब

* लोकमान्य तिलक महोदय ने इस बात को 'ओरायन' ग्रन्थ में सप्रमाण लिखा है।

भी कुछ है और आगे भी कुछ होगा, पर वेद इस सबके जवाबदार नहीं हैं। उनमें तो जो कुछ है वह इतना ही है कि वह मनुष्य की बुद्धि को सोचने, विचारने लायक कर देता है और इस योग्य बना देता है कि मनुष्य अपनी भलाई के नियम उस बीज के अनुसार बना ले।

इस प्रकार से मूल और भाष्य सदैव एक साथ ही बनता रहता है, पर भाष्य मूल नहीं हो जाता। मनु वैवस्वत के ही समय में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था, किन्तु उसी समय में ब्राह्मण भी बनाने पड़े थे। हम देखते हैं कि वेदों में कहीं नहीं लिखा कि अमुक काम करते समय अमुक मन्त्र पढ़ो, पर ब्राह्मणग्रन्थों में है। इससे पाया गया कि ब्राह्मणग्रन्थों ने एक नया ढंग यह पैदा किया कि कोई कार्य मौन होकर न किया जाय, प्रत्युत मन्त्र कहकर ही किया जाय। इसमें कोई पाप नहीं था, इसीसे इस पर कोई आपत्ति भी नहीं हुई। पर यदि कोई मार्जन करते समय ' आपो हि ष्ठा ' न पढ़े, तो उसके मार्जन बिगड़ नहीं सकता और स्नान के समय यदि कोई गंगाष्टक न पढ़े, तो उसके स्नान में कोई त्रुटि नहीं हो सकती। क्योंकि स्नान अलग चीज़ है और मंत्र पढ़कर स्नान करना अलग चीज़ है। न पहिले में कोई पाप है, न दूसरे में कोई पुण्य है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि आज्ञा और विधि का पालन कैसे किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर सदैव यही रहा है कि वेदों की बीजरूप सूचना पर विद्वानों के विचारों से जो विधि निर्धारित हो, वही कर्तव्य समझा जाय। पर स्मरण रखना चाहिये कि वेदों की सूचना अपरिवर्तनशील है और दूसरे विद्वानों के विचार परिवर्तनशील हैं। पहिले में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, पर दूसरे में हो सकता है। यज्ञोपवीत करना पहिला पक्ष है, इसमें मतभेद नहीं हो सकता, पर कब करना चाहिये, इसमें मतभेद हो सकता है। इसीलिए गृह्यसूत्रों में कोई कहता है कि ब्राह्मण का यज्ञोपवीत वसन्त में करना चाहिये और कोई कहता है कि सब ऋतुओं में करना चाहिये। वेद की आज्ञा और विद्वानों की विधियों में पहिली बात दूसरी की मोहताज नहीं है, पर दूसरी बात पहिली की मोहताज है! यज्ञोपवीत माघ में न होकर चाहे पौष में हो, पर हो ज़रूर यही मतलब है।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि वेदों ने माघ और पौष का भी निर्णय क्यों नहीं कर दिया? और रेशम तथा सूत की विधि भी क्यों नहीं बतला दी? इस पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि जो वैदिक शिक्षा समस्त पृथिवी पर बसे हुए मनुष्यों के लिए है, उसमें इस प्रकार का वर्णन हो ही नहीं सकता। क्योंकि ज़िले ज़िले की परिस्थिति अलग अलग है, पदार्थों की उपज भिन्न भिन्न है और ऋतुओं के प्रभाव अलग अलग हैं। ऐसी दशा में यदि सभी कुछ वेद ही लिखने बैठें, तो वेदों के पुस्तक तो एशियाटिक सोसाइटी का पुस्तयालय बन जाय, वेदों के गौरव और मनुष्य की स्वाधीन चिन्ता में विघ्न उपस्थित हो जाय, धर्म और आपद्धर्म में कोई फ़र्क ही न रहे और संकट के समय मनुष्य अपना त्राण ही न सोच सके। इसलिए क्रियाकलाप, आपद्धर्म और मनुष्यों की समायिक उपयोगिता का विस्तृत वर्णन न करने से वेद अधूरे नहीं समझे जा सकते। वेद पूर्ण हैं। वे परलोक की पूर्ण और विस्तृत शिक्षा देते हैं, तथा लोक की शिक्षा में मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि उसका एक भी आवश्यक कार्य कभी रुक ही न सके।

नमूने के तौर पर हम यहाँ वेदों के कुछ सरलार्थ मन्त्रों को उद्धृत करके दिखलाते हैं कि वेद प्रत्येक आवश्यक विषय की शिक्षा किस प्रकार देते हैं। यहाँ हम एक एक विषय के दो दो चार चार मंत्र ही देंगे। यह वेदविषयों की एक सूची मात्र ही है। इन विषयों से संबंध रखनेवाले वेदों में अनेकों मंत्र हैं, पर सबके लिखने की आवश्यकता नहीं है। हमने इस मन्त्रसूची और विषयप्रतिपादन में अपने ढंग का क्रम दिया है। इस क्रम से वेदों के ज्ञान को स्पष्टता होती है। सबसे पहिले हमने मनुष्या की इच्छाओं के मत्र लिखे हैं। मनुष्य की समस्त इच्छाओं का समावेश बड़े बड़े सात स्तम्भों में हो जाता है। ये इच्छाएँ गृहस्थाश्रम से ही पूरी हो सकती हैं, इसलिए हमने इच्छाओं के बाद गृहस्थाश्रम के मंत्र रक्खे हैं। गृहस्थ का निर्वाह विना उत्तम सामाजिक व्यवहार के धारण किए हो ही नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए हमने तीसरा नम्बर सामाजिक व्यवहार के मन्त्रों का दिया है। परन्तु वह आदमी अच्छे सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता, जो सदाचारी नहीं है, इसलिए हमने चौथा नम्बर सदाचार के मन्त्रों को दिया है। सदाचार कभी सुदृढ नहीं हो सकता, जब तक मनुष्यों को गर्भ से लेकर यज्ञोपवीत अर्थात् आचार्यकुलवास तक के संस्कारों से सुसंस्कृत न किया जाय, इसलिए हमने संस्कारों के मन्त्रों को पाँचवाँ स्थान दिया है। संस्कारों से सदाचार की पुष्टि होती है और समाज पवित्र भी होता है, पर विना जीविका के उसका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिए हमने छठे नम्बर में जीविका के मन्त्रों को रक्खा है। इनमें भौगोलिक ज्ञान और व्यवसाय से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त बातों के मन्त्र आ गये हैं।

जीविका के आगे समाज की रक्षा का प्रश्न आता है। बीमारी से शरीररक्षा, कलह और पाप से समाजरक्षा और बाह्य शत्रुओं से राष्ट्ररक्षा करना पड़ता है, इसलिए आयुर्वेद, यज्ञ और राज्यव्यवस्था के मन्त्रों को एकत्रित करके जीविका के बाद सातवें नम्बर में रक्खा है। इसके आगे परलोकचिन्ता के मन्त्र हैं। इनमें सबसे पहिली बात सृष्टि की उत्पत्ति की है। सृष्टि की उत्पत्ति के कारणों का समूह ही परलोक है, इसलिए हमने परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले जीव, ब्रह्म, बन्ध, मोक्ष और पुनर्जन्म आदि विषयों के मन्त्रों का समावेश आठवें नम्बर में किया है। इस तरह से सारांशरूप से हमने लोकपरलोक से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों के मन्त्रों को लिख दिया है। हमारा अनुमान है कि जितने विषयों के मन्त्र हमने दिये हैं, उतने विषयोंमें प्रवेश हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि इस योग्य हो जाती है कि वह अपना भला बुरा—हानि लाभ—सोच ले और अपनी उन्नति कर ले।

मनुष्य की इच्छाएँ।

सबसे पहिले मनुष्य की इच्छाओं को लीजिये। मनुष्य की इच्छाएँ सात भागों में विभाजित हैं। (१) बहुत दिन जीनेकी इच्छा। (२) स्त्री, पुत्र, रति, शोभा, शृंगार की इच्छा। (३) खाने पीने, पहिरने ओढ़ने, मकान, गृहस्थी, बाग़ बग़ीचे और खेत तथा पशुओं की इच्छा। (४) यश और मान आदि की इच्छा (५) विद्या, ज्ञान, विज्ञान और मालूमात की इच्छा। (६) अपने साथ कोई अन्याय न करे, अर्थात् न्याय की इच्छा और (७) बार बार जन्ममरण के दुःख से छूटकर मोक्षप्राप्ति की इच्छा मनुष्यमात्र को रहती है। वेदोंने गायत्री मन्त्र के द्वारा इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए नित्य परमेश्वर से प्रार्थना करने का

उपदेश किया है। गायत्री का माहात्म्य वर्णन करते हुए अथर्ववेद १९।७१।११ में कहा गया है कि—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अर्थात् प्रचोदयात् पदान्तवाली और द्विजों को पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री की मैं इसलिए स्तुति करता हूँ कि वह मुझको आयु, बल, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और वैदिक ज्ञान देकर ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षपद को पहुँचावे। इस आदेश से ज्ञात हुआ कि मनुष्यमात्र की ये इच्छाएँ स्वाभावि हैं। फ्रीनॉलॉजीवाले भी बतलाते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञान, मान, अर्थ, काम, आयु, विज्ञान और न्यायधर्म के ही प्रधान सात स्थान हैं। अन्य स्थान तो इन्हीं के अन्तर्गत इन्हीं की शाखाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये इच्छाएँ नैसर्गिक हैं। इन सबमें दीर्घ जीवन की इच्छा सर्वप्रथम है, इसलिए सबसे पहिले हम दीर्घजीवन के ही मंत्रों का नमूना दिखलाते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥

(यजु० २५।२२)

अर्थात् हे विद्वानों! मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है, अतः जब तक हमारे शरीरों की जरा अवस्था न हो जाय और हमारा पुत्र भी पिता न हो जाय जब तक हम जिएँ अर्थात् सौ वर्ष के अन्दर हमारी आयु क्षीण न हो। इतना ही नहीं कि हम किसी प्रकार सौ वर्ष तक जिएँ, प्रत्युत आरोग्यता और बल के साथ जिएँ, जैसा कि लिखा है कि—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात् ज्ञानियों का हित करनेवाला शुद्ध ज्ञाननेत्र उदित है। उससे हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक दीन न हों और सौ वर्ष से भी अधिक दिन तक आनन्द से रहें।

वेद में दीर्घजीवन की इच्छा के आगे काम की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥

(अथर्व० १९।५२।१)

अर्थात् जो 'काम' मन में बीजरूप से है, वह पहिले हुआ। हे काम! तूने बहुत बड़े काम का विस्तार कर दिया है, इसलिए अब धन दे।

प्रियः देवानां भूयासं; प्रियः प्रजानां भूयासं।
प्रियः पशूनां भूयासं; प्रियः समानानां भूयासं॥ (अथर्व० १७।१।२-५)

अर्थात् देवों के लिए, प्रजा के लिए, पशुओं के लिए और समानों के लिए प्रिय होऊँ। कामना से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मन्त्रों में कहा गया है कि मन और रेत ही काम का मूल है। इस काम से ही आगे बड़ी बड़ी पुत्रादि की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और इसी से बनाव चुनाव, शोभा शृंगार और ठाटबाट की आवश्यकता होती है। इस सबका मूल मन और रेत अर्थात् रति ही है। रति ही प्रजा, पशु और अन्नादि धन की ओर विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न कराती है। क्योंकि दीर्घजीवन और कामजन्य स्त्रीपुत्रादिकों के लिए ही धन की इच्छा होती है।

मनुष्य को इस धन की इच्छा किस प्रकार रहती है, उसका नमूना वेद ने निम्न मंत्र में दिखलाया है—

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तिरुपतिष्ठमानः ॥

(ऋ० १०।११७।८)

अर्थात् एक गुणा धन रखनेवाला अपने से दुगुने धन रखनेवाले के मार्ग का आक्रमण करता है, दुगुने धनवाला तिगुने धनवाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धनवाला अपने से दूने धनवाले की महत्ता को प्राप्त होता है। अर्थात् मनुष्य धनवानों को देखकर स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

इस धन की इच्छा आगे मान की इच्छा होती है। वेद में मान की इच्छा का नमूना इस प्रकार दिखलाया गया है—

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१७॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा० ॥१८॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि । एवा० ॥१९॥
यथा यशः कन्यायां यथास्मिन संभृते रथे । एवा० ॥२०॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा० ॥२१॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा० ॥२२॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम् । एवा० ॥२३॥
यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा० ॥२४॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् । एवा० ॥२५॥ (अथर्व० १०।३)

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य, चंद्रमा, पृथिवी, ब्रह्मचारिणी कन्या, मधुपर्क और सोमपान-प्राप्त विद्वान्, अग्निहोत्री, यज्ञ करनेवाला यजमान, परमेष्ठी और प्रजापति यश और कीर्ति को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार की कीर्ति, तेज और यश मुझको भी प्राप्त हो। इन मंत्रो में यश, कीर्ति और मान के लिए प्रार्थना की गई है। क्योंकि लिखा है कि 'सर्वे नन्दन्ति यशसा' अर्थात सबको यश से आनन्द मिलता है।

इस मान की इच्छा के आगे वेद में ज्ञान की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ॥ (यजु० ३२।१४-१५)

अर्थात् जिस मेधा (ज्ञान) की देवता और पितर उपासना करते हैं, उस मेधा से हे परमेश्वर ! मुझे शीघ्र ही मेधावी कीजिये । वह मेधा मुझको वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु और परमात्मा देवे । अर्थात् इन सब पदार्थों का ज्ञान मुझे शीघ्र हो । इसलिए—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ (अथर्व० ६।४१।१)

अर्थात् मन, अन्तःकरण, बुद्धि, विचारशक्ति, ज्ञानशक्ति, मति, श्रवणशक्ति और दृष्टिशक्ति की उन्नति के लिए हम सब यज्ञकर्म करें । ज्ञानेच्छा के आगे वेद में न्याय की इच्छा इस प्रकार बतलाई गई है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते ॥ (यजु० ३।५०)

अर्थात् मुझे दे और मैं तुझे दूँ । तू उत्तम गुण मुझमें धारण कर और मैं तुझमें धारण करूँ । यह मैं लेता हूँ और यह तू ले, अर्थात् परस्पर न्याययुक्त व्यवहार हो । कैसा सुन्दर न्याय का आदर्श है ! इसके आगे परमपद की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदःप्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥ (ऋ० ९।११३।११)

अर्थात् मैं उस अन्धकार से परे महान् प्रकाशमय सूर्यतुल्य परमात्मा को जानता हूँ । उसी के जान लेने से अमृतत्व प्राप्त होता है, इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इसलिए जहाँ आनन्द ही आनन्द है और जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस मोक्षधाम में मुझे अमर कीजिए । इन मंत्रों में दीर्घातिदीर्घ जीवन अर्थात् अमृतत्व की महान् इच्छा वर्तमान है । संसार में बहुत दिन जीने की जो इच्छा पाई जाती है, वह इसी अनन्त जीवन की अभिलाषा है । इस प्रकार से मनुष्य की ये सातों स्वाभाविक इच्छाओं को दर्शानेवाले मंत्र वेद में मौजूद हैं । परंतु ये इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूर्ण नहीं हो सकतीं ।

गृहस्थाश्रम ।

उपर्युक्त इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूरी नहीं हो सकतीं इसलिए वेदों में गृहस्थाश्रम का पर्याप्त वर्णन है । यहाँ हम नमूने के तौर पर गृहस्थाश्रम की ख़ास ख़ास बातें लिखते हैं । सबसे पहिले देखते हैं कि वेदमंत्रों के अनुसार गृहस्थ की हालत कैसी होनी चाहिये । अथर्ववेद में लिखा है कि—

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे । (ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात् किसी से विरोध न करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द करते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्शरूप बनाओ । इसके आगे यह दिखलाते हैं कि गृहस्वामी दंपति का परस्पर कैसा आदर्श होना चाहिये । ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

अर्थात् संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों—पतिपत्नी—को अच्छी प्रकार जानें, हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त हों और हम दोनों की प्राणशक्ति, धारणाशक्ति और उपदेशशक्ति परस्पर कल्याणकारी हो । यह वैदिक दम्पति का आदर्श है अब देखना चाहिये कि इस वैदिक दम्पति का घर कैसा है । वेदमन्त्रों के आदेशानुसार सर्वसाधारण के घर बहुत ही सादे होना चाहिये । अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः (अथर्व ९।३।१६)
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती । (अथर्व० ९।३।१७)
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ।
(अथर्व० ९।३।२१)

अर्थात् उपजाऊ और पानीवाली भूमि पर छोटी सी निर्वाहयोग्य जिसमें समस्त आवश्यक अन्न भरे हैं, ऐसी हे शाला ! तू अपने ग्रहणकर्ता (निवासी) को मत मारना । तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई हे शाला ! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देनेवाली है और लकड़ी के खम्भो पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी सी जमीन पर स्थित है । जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छे छप्परवाली और जो आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस इज्जत बचानेवाली शाला में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ । यह है वैदिक घरों की सादगी । अब देखना चाहिए कि इन घरों में खाद्य और पेय पदार्थों के तैयार करनेवाली गृहस्थी का कैसा वर्णन है । ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥१॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता । उलू० ॥२॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते । उलू० ॥३॥
यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव । उलू० ॥४॥
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥५॥ (ऋ० १।२८)

अर्थात् जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे ऊपर चलता है, जहाँ दो जंघाओं के बीच में सिलबट्टा चलता है, जहाँ स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना पकाना जानती हैं, जहाँ मथानी को रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर घर में उलूखल मसूल चलता है, वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय के समय दुंदुभी प्रकाशित होती है। इन वैदिक घरों में चक्की, सिलबट्टा, उखली मूसल और मथानी शब्द दुंदुभी के समान अन्न चाहनेवालों को घोषित कर रहे हैं और गृहदेवियाँ पदार्थों के धरने उठाने और रांधने, पकाने में लगी हुई हैं। इन घरों में जिस प्रकार अन्नदान की धूम मची हुई है, उसी तरह घी-दूध की भी धारा बह रही है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः (अथर्व० ४।३४।७)

अर्थात् चार चार घड़े दूध और चार चार घड़े पानी चारों आ देता हूँ। ये सब आपको स्वर्ग में—सुखस्थान में—पोषण पहुँचावें।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ (अथर्व० ३।१२।८)

अर्थात् हे स्त्री! तू दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धारा से इन पीनेवालों को तृप्त कर और वापी कूप तड़ाग तथा दान आदि सब प्रकारों से इनकी रक्षा कर।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ (यजुर्वेद २।३४)

अर्थात् बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों की धारा बह रही है, अतः हे स्वधा में ठहरे हुए पितरो! आप तृप्त हों। इन मंत्रों के अनुसार वैदिक घरों में देव, ऋषि और पितरों की तृप्ति के लिए घी, दूध और फलों का विशाल आयोजन दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं प्रत्युत वैदिक गृहस्थ अपने इष्टमित्रों, अतिथियों और क्षुधापीड़ित मनुष्यों को किस प्रकार अन्न, जल और सेवा से तृप्त करने के लिए बुला रहे हैं, वह भी देखनेयोग्य है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं बिभीत मत्॥१॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥२॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥३॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥४॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥५॥

सूनृतावन्त सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥७॥ (अथर्व० ७।६०।१–७)

अर्थात् हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो ! आप लोग इन घरों में प्रेमपूर्वक आइये, डरिये मत । घरों में आनेवालों के लिये ये घर आरोग्यवर्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मीवान् और श्रीमान् हैं । ये घर अमित धनवाले, मित्रों के साथ आमोदप्रमोद करनेवाले और क्षुधातृषा के हरनेवाले हैं, इसलिए आइये डरिये, मत । गौवें, बकरी और नाना प्रकार के रसीले अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं । ये घर सत्यवालों, भाग्यवानों, धनियों, हसमुखों और भूखप्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिये मत । थके हुए पथिक जो इन घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते हैं, इसलिए कहीं मत जाइये, यहीं रहिये । ये घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहाँ आ गये हैं, ठहरे हैं और सब प्रकार से सुखी हैं । इस उपदेश में गृहस्थाश्रम का कैसा भव्य वर्णन है और कैसे उदार गृहस्थों का चित्र खींचा गया है इसका कारण यही है कि वेदों में अतिथिसत्कार न करनेवाले और क्षुधातुरों को अन्न न देनेवाले गृहस्थों की निंदा की गई है । ऋग्वेद में लिखा है कि—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विंदते ॥२॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥ (ऋ० १०।११७)

अर्थात् जो अन्नवान् होता हुआ, अन्न चाहनेवालों और ग़रीबी से पास आये हुए दुखियों के लिए मन कठोर कर लेता है और आप मज़े में खाता है उसे सुख देनेवाला मित्र नहीं मिल सकता । जो अन्न चाहनेवाले दुर्बल याचक को अन्न देता है वही सच्चा भोजन करता है । ऐसे दाता के पास दान करने के लिए पर्याप्त अन्न आता है और कठिन समय में सहायक मित्र उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार से इन वेदमन्त्रों ने आदर्श गृहस्थ का चित्र खींचते हुए बतलाया कि मकान तो सदैव साधारण ही हो, पर वह साधारण मकान अन्न आदि आवश्यक पदार्थों से भरा हो और मकान पर आनेवालों का उत्तम सत्कार किया जाय ।

पर स्मरण रहे कि इस दानशीलता के कारण ऋण न होने पावे । ऋण मनुष्य को बहुत ही नीच बना देता है, इसलिए उतना ही खर्च चाहिये जितनी अपनी निज की आमदानी हो । अथर्ववेद में लिखा है कि—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥
(अथर्व० ६।११७।३)

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥
(अथर्व० १९।३१।५)

अर्थात् इस लोक, परलोक और तीसरे लोक में हम सब अऋण होवें और देवयान तथा पितृयान के जो मार्ग और स्थान हैं, उन सबमें हम अऋण होकर निवास करें। मैं चतुष्पाद पशुओं से, द्विपाद मनुष्यों से और धान्यों से प्राप्त पदार्थ स्वीकार करता हूँ और बृहस्पति तथा सविता देव परमात्मा ने जो मुझको पशुओं का दूध और औषधियों का रस दिया है उसी से पोषण करता हूँ। इन मन्त्रो का यही तात्पर्य है कि जो कुछ अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उसी के अनुसार खर्च किया जाय, ऋण लेकर नहीं। इस प्रकार से गृहस्थ की दशा का वर्णन करके अब गृहस्थ के नित्य करने योग्य पञ्चमहायज्ञों का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे ॥ (यजुर्वेद० ३।४५)

अर्थात् ग्राम में, जंगल में और सभा में हमने इंद्रियों से जो पाप किया है, उसे इस यज्ञ में होम करके दूर फेंकते हैं। इस मन्त्र का मतलब यही है कि गृहस्थ से जो पाँच स्थानों में पाप होता है अथवा युद्धों और हिंसा पशुओं की हत्या से जो पाप होता है अथवा ग्राम में, जंगल में और सभाओं में जो मन, वाणी और कर्म से बिना किसी इरादे के पाप हो जाता है, वह पञ्चमहायज्ञों और इष्टापूर्तादि लोकोपकारी कार्यों के करने से दूर हो जाता है, अर्थात् एक प्रकार से नित्य प्रायश्चित्त हो जाता है। इन पञ्चमहायज्ञों में सबसे पहिले वेदों का स्वाध्याय और प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप है। यही ब्रह्मयज्ञ है। वेद में इस ब्रह्मयज्ञ के करने की ताकीद की गई है। वेद के स्वाध्याय के लिए यजुर्वेद में लिखा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः
समृध्यतामुप मादो नमतु। (यजुर्वेद २६।२)

अर्थात् जैसे इस कल्याणकारिणी वाणी को मनुष्यों के लिए मैं बोलता हूँ वैसे ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, स्त्रियों और अनार्यों के लिए आप भी बोलिये और समझिए कि इस प्रकार के विद्यादान से मैं देवताओं में प्रिय होऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले और सब कामनाएँ पूर्ण हों। यह वेद के स्वाध्याय की महिमा है। पर वेद-स्वाध्याय का मतलब केवल वेदों का रटना ही नहीं है, प्रत्युत उनके अर्थों का जानना है। इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्व निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त अमी समासते ॥
(अथर्व० ९।१०।१८)

अर्थात् ऋचाएँ परमव्यापक अक्षर में ठहरी हुई हैं हैं, जिसमें वेद के देवता-ठहरे हुए हैं, अतः जो अक्षर और उनके अर्थों को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है ! ठीक है, जो अक्षर और अर्थों को जानता है, वही अच्छी तरह वेद के तात्पर्य

को पहुँचता है, इसलिए वेदों को अर्थ सहित ही पढ़ना चाहिये। वेद-विचार के बाद प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप करना चाहिये। अथर्ववेद में गायत्री की महिमा इस प्रकार लिखी है कि–

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (अथर्ववेद १९।७१।१)

अर्थात् द्विजों को करनेवाली पवित्र वेदमाता गायत्री की मैं स्तुति करता हूँ। वह मुझे आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस्व अर्थात् वेदज्ञान को देकर ब्रह्मलोक को पहुँचावे। यही ब्रह्मयज्ञ है। इसके बाद देवयज्ञ का अनुष्ठान है। देवयज्ञ का तात्पर्य दोनों समय हवन करना है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रात सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्नि सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥ (अथर्व० १९।५५।३-४)

अर्थात् शाम का नित्य हवन प्रातःकाल के समय गृहस्थ के मन को प्रसन्न करनेवाला होता है और प्रातःकाल का नित्य हवन सायंकाल के समय मन को प्रसन्न करनेवाला होता है, इसलिए गृहस्थ को नित्य दोनों सन्ध्याओं में हवन करना चाहिये। यही देवयज्ञ है। इस देवयज्ञ के पश्चात् पितृयज्ञ का विधान है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषाँल्लोकः स्वधा नमोः यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥ (यजु० १९।४५)

अर्थात् यम के राज्य में जो पितर एक समान हैं और समान विचारवाले हैं, उन पितरों को देवतों के बीच में लोक, स्वधा, नमस्कार और यज्ञ प्राप्त हों*। इस पितृयज्ञ के बाद बलिवैश्वदेव का विधान है। उसके लिए यजुर्वेद और अथर्व में लिखा है कि—

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्वं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥ (यजु० १८।६४)
अहरहर्बलिमित्ते हरंतोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥

अर्थात् जो अभी दिया है जो इसके पहिले दिया है तथा जो आगे दिया है और जो पीछे दिया है, वह सब बलिवैश्वकर्म की अग्नि को प्राप्त हो। जिस प्रकार नित्य घोड़ा घास

---

* ये पितर सौम्य हैं, इसलिए इनका सत्कार प्राय: जल से ही होता है। उधर वृक्ष भी सौम्य कहलाते हैं, यही कारण है कि पितृजल वृक्षों में ही डाला जाता है। पञ्च महायज्ञों में जहाँ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और कीटपतङ्गों तक को भोज्य भाग दिया जाता है, वहाँ सौम्य पितरों का हक सौम्य वृक्षों को ही दिया जाता है। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव' लिखकर पतंजलि ने महाभाष्य में इसी प्रकार का इशारह किया है।

पाता है, उसी प्रकार प्रतिदिन प्राणियों को उनका भाग अर्थात् बलि देना चाहिये। इसके बाद आतिथियज्ञ है। अतिथियज्ञ के विषय में लिखा है कि—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते
तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥२॥ (अथर्व० १५।१०)
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं
व्रात्य तर्पयंतु व्रात्य यथा ते प्रियं यथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु
व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥ (अथर्ववेद १५।११)

अर्थात् जब विद्वान् और व्रतधारी अतिथि राजा के घर आवे, तो राजा को उचित है कि वह अतिथि को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ माने। इससे राजा न तो क्षत्रियकुल में ही दोषी होता है और न राष्ट्र की ही ओर से दोषी होता है। जिसके घर में व्रतशील और विद्वान् अतिथि आ जाय, तो उसे चाहिये कि वह उठकर अतिथि से कहे कि हे व्रात्य! आप कहाँ से आ रहे हैं? आइये, लीजिये यह जल है, आप तृप्त हों और जो आपकी इच्छा हो, वह भी हाज़िर किया जाय तथा जो आज्ञा हो, वही किया जाय। यह वैदिक आतिथ्य का नमूना है। इस प्रकार से पञ्चमहायज्ञों के द्वारा गृहस्थ सबको अन्नजल पहुँचाता है और इसी प्रकार का गृहस्थ पहिले कही हुई आयु, बल, कीर्ति, विद्या, प्रजा, धन और मोक्ष आदि इच्छाओं को प्राप्त कर सकता है। परन्तु ये बातें गृहस्थ को तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब उसका सामाजिक व्यवहार भी उत्तम हो।

सामाजिक व्यवहार।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परन्तु उसका सम्बन्ध केवल अपने आप ही से नहीं है, प्रत्युत उसका संबंध दंपति, कुटुंब, जाति, समाज और समस्त संसार के मनुष्यों तथा समस्त संसार के प्राणिमात्र से है, इसलिए उसे सबके साथ प्रेम, दया और सहानुभूति से वर्तना चाहिये। वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में वही उदात्त उपदेश दिया है। यहाँ हम पहिले दंपतिप्रेम का नमूना दिखलाते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्ययाशिरा ॥ (ऋग्वेद ८।३१।५)
स्योनाद्योरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रो सुगृहो तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ (अथर्व० १४।२।४३)

अर्थात् जो दम्पति एक मन होकर यज्ञ अर्थात् उत्तम कामों के लिए साथ साथ दौड़ते हैं और नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे देवता हैं। हे दंपति! तुम दोनों इस सुखदायक घर में अच्छे प्रकार जागते हुए, हँसी खुशी के साथ, बड़े प्रेम से आनन्द मनाते हुए, सुन्दर सुपुत्रों और सुंदर गृहस्थीवाले होकर प्रकाशयुक्त बहुत से प्रातःकालों को देखो, अर्थात् बहुत दिन तक जीओ। इन वेदमंत्रों में दंपतिप्रेम का उत्कृष्ट नमूना यह बतलाया गया है

कि दोनों एक मन होकर आनन्दपूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहें और परस्पर प्रेम और विनोद के साथ व्यवहार करें। इस दंपति कर्तव्य वर्णन के आगे कौटुंबिक व्यवहार का उपदेश इस प्रकार है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥ (अथर्व० ३।३०)

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो, तथा स्त्री पति से मधुर और शांत वाणी से बातचीत करे। भाई से भाई द्वेष न करे और न बहन से बहन ही ईर्षा करे। सब लोग अपने अपने व्रत अर्थात् मर्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्रभाषा से ही बातचीत करें। कैसा सुन्दर कौटुंबिक व्यवहार है! इन समस्त कुटुंबियों में माता का स्थान बहुत ऊँचा है, इसलिए वेद में माता की बड़ाई इस प्रकार की गई है कि—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे ।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥
(ऋ० ५।२।१)

अर्थात् युवती माता पुत्र को अपने ही गर्भ में धारण करती है, अपने तुल्य पिता को नहीं देती और न उसके बल को क्षीण होने देती है, इसलिए विद्वान् पुरुष माता को प्रथम स्थान देते हैं। इन मंत्र में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है कि वह बराबरी का दावा करनेवाले अपने पति का बल नष्ट न करके गर्भ को अपने ही पेट में धारण करती है और पति को उस कष्ट से बचा लेती है। इस मातृभक्ति के आगे घर के बड़ों बूढ़ों की सेवा से पवित्रता मानने का उपदेश का इस प्रकार है—

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः
पुनंतु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा ।
पुनंतु मा पितामहाः पुनंतु प्रपितामहाः ।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥३७॥
पुनंतु मा देवजनाः पुनंतु मनसा धियः ।
पुनंतु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥३९॥ (यजुर्वेद १९)

अर्थात् सौम्य पिता मुझे पवित्र करें, सौम्य पितामह मुझे पवित्र करें और सौम्य प्रपितामह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष जीनेवाला होऊँ। पितामह और प्रपितामह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूँ। मुझे समस्त देवजन पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करे, समस्त पञ्चभूत मुझे पवित्र करें और अग्नि मुझे पवित्र करे। इन मन्त्रों में बूढ़ों की सेवा से पवित्रता और दीर्घायु की प्राप्ति बतलाई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक शिक्षा में बड़े बूढ़ों के मान और सेवा के लिए कितना ज़ोर दिया गया है। इस कौटुम्बिक व्यवहार के आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में

अपने कुटुम्ब से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जातिबन्धुओं के लिए किस प्रकार सुख की कामना करने का उपदेश है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ (ऋ० ७।५५।५)
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये। (अथर्व० ९।५।३०)

अर्थात् माता, पिता, जातिवाले, नौकर, चाकर और कुत्ते आदि पशु सब सुख से सोवें। आत्मीय जन, पिता, पुत्र, पौत्र पितामह, स्त्री, पितामही, माता और जो स्नेही हैं, उनको मैं आदर से बुलाता हूँ। इन कुटुम्बियों और जाति से सम्बन्ध रखनेवालों के साथ, व्यवहार का वर्णन करके आगे मित्र के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ (ऋ० १०।७१।१०)
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥
(ऋ० १०।११७।४)

अर्थात् मित्र के सहवास और यश से सब आनन्दित होते हैं। मित्र धन देकर समाज के पापों को दूर करता है और सबका हितकारी होता है। वह सखा अर्थात् मित्र नहीं है, जो धनवान् होकर अपने मित्र की सहायता नहीं करता। उसका घर सच्चा घर नहीं है। उसके पास से तो सदैव दूर ही भागना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों में मैत्री का भाव और कर्तव्य अच्छी तरह बतला दिया गया है और दिखला दिया गया है कि मित्र को भी कुटुम्ब और जाति की भाँति ही सहायता देना चाहिये। इसके आगे अब समस्त आर्यजाति के साथ व्यवहार करनेका उपदेश इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्व० १९ ६२।१)
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८।४८)

अर्थात् मुझको ब्राह्मणों में प्रिय कीजिये, क्षत्रियों में प्रिय कीजिये, वश्यों में प्रिय कीजिये और शूद्रों में प्रिय कीजिये। हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो, वैश्यों और शूद्रों में रुचि हो तथा इस रुचि में भी रुचि हो। इन मन्त्रों में आर्यजातिके चारों वर्णों के साथ रुचि रखने और उनके बीच में प्रिय होने का उपदेश है। इसके आगे समस्त मनुष्यजाति के साथ व्यवहार करने का आदेश इस प्रकार है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ (अथर्व० ३।३०।६)
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। (अथर्व० ३।३०।१)
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः॥ (यजुर्वेद १९।४६)

अर्थात् तुम सब मनुष्यों के जलस्थान एक समान हों और तुम सब अन्न को एक समान ही बाँट चूँट कर लो । मैं तुमको एक ही कौटुम्बिक बन्धन से बाँधता हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करो, जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए आरे कर्म करते हैं। मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ और तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित करता हूँ। तुम एक दूसरे को उसी तरह प्रीति से चाहो, जैसे गो अपने सद्यःजात बछड़े को चाहती है। जो जीव, मन, वाणी से इस प्रकार की समानता के पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिए मैंने इस लोक में सौ वर्ष तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है। इन मन्त्रों में मनुष्यमात्र के साथ समता का व्यवहार करने का उपदेश किया गया है। इस उपदेश में अच्छी तरह बतला दिया गया है कि समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति, विचार और रहनसहन एक समान होना चाहिये, तभी सौ वर्ष तक लोग सुख से जी सकते हैं। समस्त मनुष्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने की आज्ञा के बाद वेदों में अच्छी तरह कह दिया गया है कि मनुष्यों के ही साथ नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र के साथ प्रेम, तथा और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। वेद उपदेश करते हैं कि—

> यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधु मान् भवति ।
> ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वाँश्च
> व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ (अथर्व० ९।१।२२)
> इते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
> मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
> मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (यजुर्वेद ३६।१८)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, धेनु, बैल, धान, यव और मिठाई, ये सात मिठाइयाँ हैं। जो मनुष्य ज्ञान के इन सात मधुओं (मिठाइओं) को जानता है, वह मधुमान् अर्थात् मधुर हो जाता है। हे दृष्टिस्वरूप परमात्मान् ! मेरी दृष्टि को दृढ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें। इसी तरह मैं भी सब प्राणियों को मित्रदृष्टि से देखूँ और हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रदृष्टि से देखें। यहाँ तक हमने सामाजिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों का संग्रह किया। इस संग्रह में अपने कुटुम्ब से लेकर समस्त संसार के मनुष्यों और समस्त प्राणियों तक के साथ प्रेम, दया, ममता, सहानुभूति और मित्रता के भावों के दर्शानेवाले वेदोपदेश ग्रथित है। हम नहीं समझते कि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले इससे अधिक उदात्त और व्यापक व्यवहार और कहीं संसार में होंगे। परन्तु ये सामाजिक व्यवहार जब तक सदाचार की सुदृढ भूमिका पर स्थिर न हों, तब तक स्थायी नहीं हो सकते।

सदाचार ।

विना सदाचार के सामाजिक व्यवहार उत्तमता से निभ ही नहीं सकते। सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है। सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता और व्रत आदि के विना मनुष्य की समाज में गुज़र ही नहीं है। इसीलिए सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेकों उपदेश वेदों में दिये गये हैं। यहाँ हम नमूने के तौर पर थोड़े से मन्त्र उद्धृत करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ (ऋ० १०।५।६)

अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुवा, असत्य भाषण और इन पापों के करनेवाले दुष्टों के सहयोग का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से जो एक भी मर्यादा का उल्लंघन करता है, अर्थात् एक भी पाप को करता है, वह पापी होता है और जो धैर्य से इन हिंसादि पापों को छोड़ देता है, वह निस्सन्देह जीवन का स्तम्भ (आदर्श) होता है और मोक्षभागी होता है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।

(ऋग्वेद ७।१०४।२२)

अर्थात् गरुड के समान मद (घमड), गीध के लोभ, कोक (चिड़ा) के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उल्लूक के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िया के समान क्रोध को मार भगाइये। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छे विकारों को अपने अंतःकरण से हटा दीजिये। इन हिंसा आदि बाह्य और कामादि अन्तर्दुर्वासनाओं के त्याग से ही मनुष्य उत्तम सामाजिक हो सकता है। इन सबमे सत्य की महिमा महान् है। वेद उपदेश करते है कि—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाची।

(ऋ० १०।७१।२)

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)
दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (यजु० १९।७७)
यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः॥ (अथर्व० १०।५।२२)
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋग्वेद ७।१०४।१२)

अर्थात् जिस प्रकार छाननी से सत्तू छाने जाते हैं, उसी तरह जहाँ विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से शुद्ध करके बोलते हैं, वहीं पर लक्ष्मी और मित्रता ठहरती है। हे परमेश्वर! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपनी शक्ति भर सत्य का पालन करूँगा, अतः इस असत्य से निकल कर सत्य में आता हूँ। प्रजापति ने सत्य और असत्य को समझ बूझकर अलग किया है और असत्य में अश्रद्धा तथा सत्य मे श्रद्धा उत्पन्न की है। तीन वर्षों के इस पार जो हम झूठ बोले हों तो हे परमात्मन्! उन सब दुष्फल पापों से हमारी रक्षा कीजिये। मनुष्य की सुविधा के लिये सत्य और असत्य के विज्ञान को एक दूसरे के विरुद्ध कहा गया है। इन दोनों में जो

सत्य है, वह सरल और सीधे स्वभाव से कहा जाता है, तथा उससे कोमलता आती है। पर जो असत्य है, वह तो हर प्रकार से सत्यानाश ही कर देता है। इन सत्य के प्रतिपादन करनेवाले मंत्रों ने सत्य भाषण की समस्त खूबियों का सुन्दर वर्णन कर दिया है। अब आगे मधुर भाषण की खूबियों का वर्णन करते हैं।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥२॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥३॥ (अथर्व० १।३४)

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता! मेरे कर्म में तेरा वास हो और मन के अन्दर भी तू पहुँच जा। मेरा आनाजाना मधुर हो, मैं जो भाषा बोलूँ वह मधुर हो और मैं स्वयं मधुर मूर्ति बन जाऊँ। यहाँ तक सत्य और मधुर वाणी बोलने की शिक्षा देकर अब वेद उपदेश करते हैं कि अपनी किसी भी इन्द्री से अभद्र, असभ्य और अमङ्गल व्यवहार न होने दो, किंतु सब व्यवहार भद्र ही भद्र हों। यजुर्वेद उपदेश करता है कि—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ (यजु० २५।२१)

अर्थात् हे यज्ञ करनेवाले परमेश्वर के भक्त विद्वानो! हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखों से देखें और अपने दृढ अंगों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो। इसके आगे मनसा, वाचा, कर्मणा बुराई से बचने का उपदेश किया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥४॥
इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३॥
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ (अथर्व० १९।९।३–५)

अर्थात् वह जो ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ मन है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। यह जो ब्राह्मण के द्वारा संस्कृत हुई परमेष्ठिनी वाणी है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। ये जो पाँचों ज्ञान अथवा कर्मेंद्रियाँ हैं और जिनसे छठे मन के साथ भयंकर पाप हो पड़ते हैं, वे हमें शान्ति दें। इस प्रकार से इन मन्त्रों ने मनसा, वाचा और कर्मणा पापों से बचने और शांति से रहने का उत्तम उपदेश दिया है। इन सब मन, वाणी और कर्मों में मन ही प्रधान है। उसी से सब पापों की उत्पत्ति होती है, इसलिए मन को निष्पाप करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ६।४५।१)

अर्थात् हे मेरे मन के पापो ! तुम मुझसे दूर हो जाव। मुझसे बुरी बातें क्यों करते हो ? मैं तुमको नहीं चाहता, इसलिये मेरे पास से दूर हो जाव और जहाँ वनवृक्ष हैं, वहाँ चले जाव। क्योंकि मैं अपने शरीर, इन्द्रिय और मनमें चित्त लगा रहा हूँ। इसी तरह मनसे सम्बन्ध रखनेवाले ईर्षाद्वेष से बचने का भी उपदेश दिया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ (अथर्व० ६।१८।२)

अर्थात् जैसे पृथिवी मुर्दे से भी अधिक मननशक्तिशून्य है और जैसे मरे हुए का मन भी शून्य हो जाता है, उसी प्रकार ईर्षा करनेवाले का मन भी मुर्दा हो जाता है। इस उपदेश का यही मतलब है कि ईर्षाद्वेष करने से मन की विशालता नष्ट हो जाती है वह अत्यन्त संकुचित हो जाता है, मर जाता है और निन्दा भी होती है। निंदा से बचने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अयुतोहमयुतो मे आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे।
प्राणोयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥ (अथर्व० १९।५१।१)

अर्थात् मैं अनिन्दित होऊँ, मेरा आत्मा अनिन्दित होवे और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान अनिन्दित होवें। इसके आगे वेदमंत्रोंमें व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों के त्याग करने की शिक्षा इस प्रकार दी गई है।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः (ऋ० १।१२५।७)

अर्थात् दुष्ट कर्म मत करो और न प्रतिष्ठित तथा धर्मात्माओं में व्यभिचार ही करो, क्योंकि व्यभिचार करनेवालों के लिए दूसरा ही क़ानून है, जिससे वे शोक को प्राप्त होते हैं। इसके आगे हिंसा का निषेध इस प्रकार है।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥
(अथर्व० १०।१।२९)

ये श्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषांकुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ (अथर्व० १२।२।५१)

अर्थात् हे हिंसा ! निर्दोषों की हत्या निश्चय ही महाभयानक है, अतः तू हमारी गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। जहाँ जहाँ तू गुप्तरूप से छिपी है वहाँ वहाँ से हम तुझे निकालते हैं, अतः तू पत्ते से भी अधिक हलकी हो जा। अश्रद्धावाले जो धन की कामना से मांस खानेवालों का साथ करते हैं, वे सदैव दूसरों की ही हंडी का खाते हैं। इन मंत्रों में पशुवध और मांसभक्षण का निषेध किया गया है। इसके आगे मद्य का निषेध इस प्रकार है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ (ऋ० ८।२।१२)

अर्थात् शराब को दिल खोल कर पीनेवाले दुष्ट लोग आपस में लड़ते हैं और नंगे होकर व्यर्थ बड़बड़ाते हैं, इसलिए शराब का पीना बुरा है। जिस तरह शराब का पीना बुरा है, उसी तरह जुवा खेलना भी बुरा है। वेद उपदेश करते हैं कि—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति । (ऋ० १०।३४।१०)

अर्थात् जुवारी की स्त्री सदा कष्टमय अवस्था के कारण दुखी रहती है, गली गली मारे मारे फिरनेवाले जुवारी की माता रोती है, क़र्ज़े से लदा हुआ जुवारी खुद सदा डरता रहता है और धन की इच्छा से वह रात के समय दूसरों के घरों में चोरी करने के लिए पहुँचता है, इसलिए जुवा खेलना निहायत खराब है। इसी तरह चोरी को भी बुरा बतलाया गया है। अथर्ववेद में है कि—

येऽमावस्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् । (अथर्व १।१६।१)

अर्थात् जो मुफ्तखोर, भूखे और भटकनेवाले अँधेरी रात में बस्ती के भीतर चोरी करने और डाका डालने के लिए आते हैं, उनसे बचने के लिए राजपुरुष सबको सचेत करता है और उन्हें पकड़कर मार डालता है इसलिए कभी किसी की चोरी नहीं करना चाहिये।

यहाँ तक स्थूल सदाचार का वर्णन करके अब सभ्यतासम्बन्धी सदाचार का वर्णन करते हैं। सभ्यता में सबसे पहिली बात स्वच्छता और पवित्रता की है। इसलिए वेद उपदेश करते है कि—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः । (यजुर्वेद २०।२०)
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा । (यजुर्वेद १९।३९)

अर्थात् जैसे वृक्ष से सूखे पत्ते गिर जाते हैं, जैसे पसीना निकला हुआ आदमी स्नान से मल को धो डालता है और जैसे घी से पवित्रता होती है, उसी तरह हे जल ! मेरे शरीर, वस्त्र और घर के मलों को शुद्ध कर दीजिये। मुझे विद्वान् पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करें, समस्त संसार के प्राणी मुझे पवित्र करें और यह अग्नि मुझे पवित्र करे। इस स्वच्छता और पवित्रता के उपदेश के आगे सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाली दिनचर्या का उपदेश इस प्रकार है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ॥
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ (ऋ० १०।१५१।५)
सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति ।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति ॥ (ऋ० १।१२५।२)
प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते ।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥ (ऋ० १।१२५।१)

अर्थात् मैं प्रातःकाल श्रद्धा की पूजा करता हूँ, मध्यदिन में श्रद्धा की पूजा करता हूँ और मैं सूर्य छिप जाने पर श्रद्धा की पूजा करता हूँ, इसलिए हे श्रद्धा ! तू श्रद्धाके लिए आ।

जो प्रातःकाल उठता है, उसे सुन्दर गौएँ, सोना, घोड़े और लम्बी आयु प्राप्त होती है और उसे सूर्यदेवता वसु के द्वारा इस तरह बाँध देता है, जैसे कोई रस्सी से बँधा हो। अर्थात् प्रातःकाल उठने का अभ्यास करने से सूर्य आप ही आप उठा देता है। प्रातःकाल उठनेवालों को अनेक प्रकार के रत्नों की प्राप्ती होती है, इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य उस समय को पकड़ कर रखते है, क्योंकि प्रातःकाल के जागरण से प्रज्ञा, आयु, धन, पुष्टि बढ़ती है और बहादुरी आती है। इस प्रकार दिनचर्या का वर्णन करके अब सदाचार से घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाली उदारता अर्थात् दान का वर्णन करते हैं—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः। (ऋ० ५।४२।८)
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यंति दिवमुत्तमाम्॥ (अथर्व० ९।५।२९)

अर्थात् हे बृहस्पते! जो आपकी रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, वे दुःखो से रहित, धनवान् और पुत्रपौत्रवाले होते हैं और जो गायों, घोड़ और वस्त्रों का दान करनेवाले होते हैं, वे सौभाग्यवाले होते हैं और उनके घरों में अनेक प्रकार के धन सदा प्रस्तुत रहते हैं। जो जननेवाली गौ, बोझा ढानेवाला बैल, शिर के नीचे रखनेवाली तकिया, वस्त्र और सुवर्ण का दान करते हैं, वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। इस उदारता और दानसम्बन्धी उपदेश के आगे अब सदाचार के मूल सत्सङ्ग का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आया है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
(ऋ० १।१२५।५)

अर्थात् जो सदा विद्वानों के साथ रहता है, वह सुखकारी स्वर्ग में निवास करता है, जहाँ अपताव (ईश्वर) स्थान देता है और सूर्यकिरणें दक्षिणा देती हैं। इस मंत्र में विद्वानों के सत्संग का फल बतलाया गया है। इसके आगे विद्वानों को दक्षिणा देकर उनकी सेवा करने का फल भी बतलाते हैं। ऋग्वेद में हैं कि—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ (ऋ० १।१२५।६)
दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय। (ऋ० १०।१०७।५)
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्। (ऋ० १०।१०७।७)

अर्थात् दक्षिणावान् पुरुषों को नाना प्रकार के सुख; सूर्य के समान ऐश्वर्य और अमृत के समान फल तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। जो सबसे प्रथम श्रेणी का दक्षिणावान् होता है, वह सबसे पहिले बुलाया जाता है, वही ग्राम का आगेवान होता है और वही राजा के यहाँ सम्मान पाता है। जो विद्वानों को दक्षिणा में अश्व, गौ, सोना, चाँदी और अन्न देता है, उसके लिए यह दक्षिणा कवच का काम देती है—उसकी रक्षा करती

है। परन्तु यह सदाचारसम्बन्धी समस्त व्यवहार तभी सम्पन्न हो सकता है, जब मनुष्य व्रतवाला हो, जिसका सङ्कल्प दृढ हो और जो सदैव अपने सिद्धांत पर क़ायम रहे। इस व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ (यजु० १९।३०)

अर्थात् मनुष्य व्रत से दीक्षावान् होता है, दीक्षा से दक्षिणावान् होता है, दक्षिणा से श्रद्धावान होता है और श्रद्धा से सत्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार से यह व्रत ही सदाचार का मूल है। जो व्रतधारी हैं, दृढ प्रतिज्ञावाले हैं, वही सदाचार में सफलता प्राप्त करते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह दृढता और इस प्रकार का व्रत विना अभ्यास के नहीं हो सकता और न अभ्यास, विना संस्कारोंके हो सकता है।

इसलिए आगे देखते हैं कि संस्कारों के सम्बन्ध में वेद क्या उपदेश देते हैं।

विवाह और गर्भाधानादि संस्कार।

जिस प्रकार के सदाचार का वर्णन किया गया है, उस प्रकार के सदाचारी मनुष्य समाज में तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते, जब तक वे उत्तम संस्कारों के द्वारा जन्मसे ही संस्कृत न किये जाँय। संस्कार का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का सुधार। इसलिए मनुष्योंके जन्म से ही नहीं प्रत्युत जन्मके पूर्व गर्भ से भी संस्कार होना चाहिये। इतना ही नहीं प्रत्युत जिन स्त्री पुरुषों के द्वारा गर्भाधान होनेवाला है, उनको भी अच्छी प्रकार सुसंस्कृत होना चाहिये। कहने का मतलब यह कि समस्त संस्कारोंका मूल विवाह को ही समझना चाहिये। विवाह करनेवाले वरवधू की क्या योग्यता हो, उनकी क्या आयु हो और उनका क्या कर्तव्य हो, ये बातें संस्कारों के आरम्भ के पूर्व विवाहकाल में ही स्थिर हो जानी चाहिये। वेदों ने इन समस्त बातों को बहुत ही उत्तम रीति से स्थिर कर दिया है, इसलिए हम यहाँ इन बातोंका इसी क्रम से वर्णन करते हैं। वेदों की आज्ञानुसार सबसे पहिला संस्कार विवाह ही है और विवाह में सबसे पहिली बात वरवधू की योग्यता की है। अतएव हम वेद के वे मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनमें विवाह करनेवाले वरवधू की योग्यता का वर्णन है। अथर्ववेदमें लिखा है कि—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

अर्थात् शुद्ध, पवित्र और पूजनीय इन स्त्रियों को मैं ज्ञानियों के हाथों में अलग अलग सौंपता हूँ और जिस कामना के लिए मैं यह तुम्हारा अभिषेक कर रहा हूँ, वह मेरी कामना सब देवता पूर्ण करें। इस मंत्र में विवाह करनेवाली कन्या को शुद्ध, पवित्र और पूजनीय बतलाया गया है और जिसके साथ विवाह करना है, उसे ज्ञानी विद्वान कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि हर प्रकार से योग्य कन्या और वर का ही विवाह वैदिक है, अयोग्यों का नहीं। क्योंकि अबोध कन्याएँ स्वयं अपने योग्य वर के लिए अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकतीं। पर वेद उपदेश करते हैं कि योग्य कन्याएँ अपना वर आप ही चुन लें। ऋग्वेद में लिखा है कि—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥ (ऋ० १०।२७।१२)

अर्थात् वधू बननेवाली कितनी ही स्त्रियाँ जो भद्र और सुरूपा होती हैं, मनुष्यों की योग्यता को पसन्द करके अपने मित्र (पति) को जनसमूह से खुद चुन लेती हैं। इस मन्त्र में पतिवरण करने में कन्याओं की स्वतन्त्रता दिखलाई पड़ती है। इसके आगे विवाह के समय कन्याओं की आयु का उपदेश इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। (ऋ० १०।८५।४०-४१)

अर्थात् पहिला पति सोम है, दूसरा गन्धर्व है, तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य है। सोम गन्धर्व को देता है, गंधर्व अग्नि को देता ह और अग्नि धन और पुत्रों के लिए मुझको देता है। इन मंत्रों के द्वार बतलाया गया है कि सोम, गंधर्व और अग्नि के उपभोगों के बाद केवल संतान के लिए ही विवाह होना चाहिए। इन मंत्रों का अर्थ करते हुए अत्रिस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य के पूर्व कन्या को सोम, गंधर्व अग्नि आदि देवता भोगते हैं, अर्थात् रोमकाल में सोम, स्तनकाल में गंधर्व आर रजोदर्शनकाल में अग्नि का प्रभाव रहता है। इसलिए कन्या का विवाह रोम, स्तन और रजोधर्म के बाद ही होना चाहिये ×।

इस तरह से कन्या की आयु को बतलाकर वर की आयु के लिए ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयंति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ (ऋ० ३।८।४)

अर्थात् जो युवावस्था को प्राप्त होकर, विद्या पढ़कर और यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रों को पहिने हुए आता है, वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान् तथा धीर पुरुष अन्तःकरण से उन्नत करते हैं और बड़ा मानते हैं। इस मंत्र में समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के बाद ही विवाह होता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय पुरुष भी युवा ही होना चाहिये। क्योंकि यदि विवाह करनेवाले योग्य और युवावस्था को प्राप्त न हों तो वे अपना कर्तव्य समझकर परस्पर प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वरवधू की परस्पर वैवाहिक प्रतिज्ञाओं को वेदमंत्रों में बहुत ही अच्छी तरह दर्शाया गया है। विवाह के समय वर प्रतिज्ञा करता है कि—

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः॥
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा। (अथ० १४।१।५०)
भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ (अथर्व० १४।१।५१)

अर्थात् भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि आदि देवताओं ने मुझको गार्हपत्य के लिए तुझे दिया है। अतएव मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू वृद्धावस्थापर्यन्त मेरे

× पूर्वं स्त्रिया सुरैर्भुक्ते देवगंधर्ववह्निभिः। पश्चात्तु मानवाः भुञ्जते न तां दुष्यंति कर्हिचित्।
रोमदर्शनसंप्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम्। रजो दृष्ट्वा तु गंधर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पातकः।
(अत्रिस्मृति)

साथ रह । भग और सविता आदि देवताओं ने मुझे तेरा हाथ पकड़ाया है इसलिये अब तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हूँ । वर की इस प्रतिज्ञा पर वधू प्रतिज्ञा करती है कि—

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तियाश्चन । (अथर्व० ७।३७।१)
अहं वदामि नेत् त्वं सभायामहं त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ (अथर्व० ७।३८।४)

अर्थात् हे मननशील पुरुष ! मैं तुझे अपने वस्त्रसे बाँधती हूँ कि जिससे तू मेरा ही रहे और दूसरी स्त्रियों की कभी बात न करे । मैं प्रतिज्ञा कर रही हूँ और इस सभा में तू भी प्रतिज्ञा कर कि जिससे तू मेरा ही होवे और अन्य स्त्रियों की कभी बात न करे । इस प्रकार के इन प्रतिज्ञावचनों के बाद ही विवाह हो जाता है । विवाह हो चुकने पर मातापिता को उचित है कि वे वरवधू को आवश्यक पदार्थ देवें । यह बात वेदमन्त्र ने सूर्या के अलङ्कार से इस प्रकार बतलाई है कि—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् । (अथर्व० १४।१।६)
या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययंत्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥ (अथर्व० १४।१।४५)
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखाद् । (अथर्व० १४।२।६८)

अर्थात् जब सूर्या (कन्या) पति को प्राप्त हो, तो चैतन्यबुद्धि ही ओढ़नी हो, दर्शनशक्ति ही अञ्जन हो और ज़मीन आसमान का सम्पुट ही पिटारी हो । जिन स्त्रियों ने सूत काता है, जिन्होंने ताना किया है, जिन्होंने बुना है और जिन देवियों ने अंचल काढ़ा है, वे सब स्त्रियाँ कन्या को वस्त्र पहिनावें और कहें कि हे आयुष्मती वधू ! तू इन्हें पहिन ले । कृत्रिम काँटों का बना हुआ अनेक दाँतोवाला जो यह कंघा है, वह वधू के केशों और शिर के मलों को निकाल डाले ।

इस प्रकार से अञ्जन, पिटारी, ओढ़नी, काढ़े हुए वस्त्र और कंघा आदि आवश्यक पदार्थ वधू को दिये जावें और पति के घर को वह अच्छी सवारी में बिठलाकर रवाना की जावे । वेद आज्ञा देते हैं कि—

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥ (अथर्व० १४।२।३०)

अर्थात् ज़री के बिछौनेवाली सेजगाड़ी जो अनेक प्रकार के पदार्थों से सजाई गई हो, उस पर सौभाग्यवती वधू पति के घर जाने के लिए चढ़े । जिस समय वधू सवारी में चढ़कर चलने लगे उस समय विद्वान् आशीर्वाद दें कि—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज । (अथर्व० १४।१।६४)
यथा सिंधुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य । (अथर्व० १४।१।४३)

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननांदुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ (अथर्व० १४।१।४४)

अर्थात् ब्रह्म आगे, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म मध्य में और ब्रह्म अन्त में समझकर हे वधू! तू अपने सुदृढ देवपुर—पतिगृह को—सुखदायिनी और कल्याणकारिणी होकर जा और विराजमान हो। जैसे बलवान् समुद्र ने नदियों का राज्य प्राप्त किया है, वैसे ही पति के घर की राजराजेश्वरी हो। श्वशुर की दृष्टि में रानी की भाँति, सास के निकट रानी की भाँति और ननन्द तथा देवर के लिए महारानी की भाँति होकर रह। इस प्रकार का आशीर्वाद पाकर वधू पतिगृह में पहुँचती है और पतिग्राम के स्त्रीपुरुष उसकी अगवानी करते हैं, तथा कहते हैं कि—

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः।(अथर्व० १४।२।१४)

अर्थात् यह आत्मवान् और उपजाऊ नारी आई है, इसलिए हे घर! उसमें बीज बो और यह शुद्ध वीर्य को धारण करके अपने गर्भ से तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करे। यहाँ तक वेदमन्त्रों ने अच्छी प्रकार बतला दिया कि विद्वान् योग्य युवा और धनधान्यसम्पन्न ही विवाह करने के अधिकारी हैं, अन्य नहीं। अयोग्यों के विवाह की निन्दा करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते : (अथर्व० १४।१।२७)

अर्थात् दरिद्री पुरुष जब स्त्री के वस्त्रों को पहनकर बाहर निकलता है, तब स्त्री का शरीर नग्न हो जाता है, इसलिए ऐसों के साथ विवाह न करना चाहिये। विवाह सदैव योग्य स्त्रीपुरुषों का ही होना चाहिये। वही गर्भाधानादि संस्कारों को अच्छी प्रकार कर सकते हैं और उन्हीं की सन्तान सदाचारी होकर समाज के योग्य हो सकती है और आरम्भ में बतलाई हुई सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकती है। उपर्युक्त वेद के मन्त्रों ने आदर्श विवाह का चित्र खींचकर बतला दिया है कि इस प्रकार के आदर्श विवाह के बाद ही गर्भाधान होना चाहिये। वेद का गर्भाधानप्रकरण प्रजननशास्त्र के बहुत ही सूक्ष्म नियमों का उपदेश करता है। वह इस रहस्य को एक उच्च श्रेणी के वैद्य की भाँति बतलाता है, जिससे सन्तान उत्तम पैदा हो और दम्पति उन व्याधियों और हानियों से बच जायँ, जो प्रायः अनजान युवकों और सद्यो विवाहिताओं को भोगना पड़ती हैं। इन उपदेशों को अश्लील न समझना चाहिये। आगे इसी विवाहप्रकरण में गर्भाधानसंस्कार के लिए वेद आज्ञा देता है कि—

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥
(अथर्व० १४।२।३१)

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ (अथर्व० १४।२।३२)
तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशंतः प्रहरेम शेपः (अथर्व० १४।२।३८)

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः ।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ (अथर्व० १४।१।५८)
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्त परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥ (अथर्व० १४।२।३६)
यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत् ।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ (अथर्व० १४।२।६६)

अर्थात् हे वधू ! तू प्रसन्नचित होकर इस पर्यंक पर चढ और इस अपने पति के लिए संतान को उत्पन्न कर तथा इन्द्राणी की भाँति हे सौभाग्यवती ! बुद्धिमानी से सूर्य निकलने के पहिले उषःकाल ही में जागना । विद्वान् लोग पहिले भी अपनी पत्नियों को प्राप्त हुए हैं और अपने शरीरों को उनके शरीरों से अच्छी तरह मिलाया है, इसलिए हे बड़े ऐश्वर्य-वाली और प्रजा को प्राप्त होनेवाली स्त्री ! तू भी अपने इस पति से मिल । हे पालनकर्ता परमेश्वर ! जिस स्त्री में आज बीज बोना है, उसको प्रेरित कीजिये कि जिससे वह हमारी कामना करती हुई अपना जाँघों को फैलावे और हम कामना करते हुए अपनी गुप्तेन्द्रिय का प्रहार करें । हे वधू ! मैं तेरे पति के द्वारा जंघा प्रदेश के गुप्त मार्ग को सुगम करता हूँ और तुझे उस वरुण के उत्कृष्ट बन्धन से छुड़ाता हूँ, जिसको सविताने बाँधा है । हे पुरुष ! तू जाँघों के ऊपर आ जा, हाथ का सहारा दे, प्रसन्नचित होकर पत्नी को चिपका ले और हर्ष मनाते हुए तुम दोनों संतान को उत्पन्न करो, जिससे सविता देव तुम दोनों कि आयु को बढ़ावें । इस वैवाहिक कार्य से जो मलिनता हम दोनों के द्वारा हुई है, उस कम्बल के दाग़ को हम धो डालें । इन मन्त्रों में गर्भाधानक्रिया का उपदेश आयुर्वैदिक विज्ञान के अनुसार किया गया है ।

सबसे पहिले मन्त्र में गर्भाधान के लिए रात्रि का समय बतलाया गया है, दिन का समय नहीं । क्योंकि कहा गया है कि उषःकाल के पहिले ही जागना । इसका यही मतलब है कि दिन के समय में लज्जा और संकोच होता है । दूसरे मंत्र में आलिङ्गन का उपदेश है । आलिङ्गन से विद्युत्–परिवर्तन होता है, भय दूर होकर आनन्द का उद्रेक होता है । और लज्जा का निवारण होता है, जो प्रायः प्रथम समागम के समय स्त्रियों में होती है । इसीलिए तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि स्त्री प्रसन्नतापूर्वक इस कार्य में सम्मिलित हो । चौथे मन्त्र में बतलाया गया है कि समागम के पूर्व प्रत्येक स्त्री का गर्भमार्ग एक बारीक झिल्ली से ढका रहता है, इसलिए पुरुष को उससे सावधान रहना चाहिये और ऐसा मौक़ा न आने देना चाहिये कि जिससे स्त्री को कष्ट हो ×। पाँचवे मन्त्र में स्वाभाविक आसन का वर्णन किया गया है जिसका यही मतलब है कि उलटे टेढ़े आसनों का उपयोग न हो । क्योंकि अस्वाभाविक आसनों से सन्तान विकलांग उत्पन्न होती है । पाँचवे मन्त्र में कार्यनिवृत्ति के बाद सचैल स्नान करने का उपदेश है । जिसका मतलब स्वच्छता और आरोग्यरक्षा है । इन सब उपदेशों के तीन तात्पर्य हैं । पहिला यह कि प्रथम समागम का ब्रह्मचर्ययुक्त रजवीर्य अज्ञानता के कारण व्यर्थ न चला जाय, किंतु गर्भ अवश्य स्थापित हो जाय । इसलिए रात्रि

× यह बन्धन एक बारीक झिल्ली से बँधा रहता है जो प्रायः प्रथम समागम के ही समय में खुलता है, परन्तु अपवादरूप से यह रजोदर्शन के साथ भी खुल जाता है और समागम होने के बाद भी बना रहता है ।

के हृदय का, आलिंगन का, स्त्री के प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होने का उपदेश और स्वाभाविक आसन का उपदेश किया गया है। दूसरा यह कि सन्तान सर्वांगसुन्दर और उत्तम हो, इसलिए भय, लज्जा, संकोच और कष्ट का निवारण बतलाया गया है और तीसरा यह कि दम्पति की आरोग्यता क़ायम रहे, इसलिए आनंद और शुद्धता का उपदेश किया गया है। सब उपदेश का मतलब यही है कि ब्रह्मचर्ययुक्त रजवीर्य से सर्वगुणसम्पन्न संतान उत्पन्न हो जाय और दम्पति के आरोग्य में बाधा उपस्थित न हो। इन मन्त्रों के द्वारा इस रहस्यपूर्ण कृत्य का वर्णन करके आगे वेद उपदेश करते हैं कि जब पतिपत्नी गर्भस्थापन से निवृत्त हो जाय, तब वस्त्रों को धो डालें और दोनों स्नान करके गार्हपत्याग्नि में हवन करें तथा पति विनम्र भाव से परमेश्वर की इस प्रकार प्रार्थना करे कि—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥१॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा ॥२॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे ॥३॥ (ऋ० १०।१८४)

अर्थात् हे वधू! विष्णु तेरे गर्भस्थान को गर्भ ग्रहण करने योग्य करे, त्वष्टा तेरे गर्भ के आकारों को स्पष्ट करे, प्रजापति जीवनी शक्ति का संचार करे और धाता गर्भ की पुष्टि करे। चंद्रशक्ति गर्भ को धारण करे, सरस्वती गर्भ को धारण करे और आकाशपुत्र अश्विनी देवता गर्भ का पोषण करें। अश्विनदेवता जिस विद्युत् प्रेरणा से गर्भ को बाहर लाते हैं, उस शक्ति द्वारा दशवें महीने में गर्भ को बाहर लाने के लिये हम उनका आवाहन करते हैं *।

इस प्रकार से गर्भाधानसंस्कार के बाद प्रातःकाल गाँव घर के वृद्ध पुरुष वधू का मुख देखते हैं और आशीर्वाद देते हैं। वेद आदेश करते हैं कि—

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै सपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छंतु ॥ (अथर्व० १४।२।७३)

अर्थात् वधू के देखनेवाले पितर जो इस विवाह में आये हैं, वे सब पतिसहित वधू को उत्तम प्रजा के लिये आशिर्वाद दें। इस प्रकार से यह वैदिक विवाह और गर्भाधान समाप्त होता है, किंतु कभी कभी दुर्भाग्य से पतिसंयोग के पूर्व ही कन्या विधवा हो जाती है। ऐसे आपत्काल के लिए वेद उपदेश देते हैं कि—

---

* इस प्रार्थना में विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति, धाता, चंद्र, सरस्वती और अश्विन आदि शक्तियों का वर्णन आया है। ये वे सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा गर्भ का धारण, पोषण और जनन होता है। इसलिए सगर्भा को चाहिये कि ऐसे आहारविहार से रहे, जिससे गर्भ दश मास तक सुरक्षित रहे और समय पर सरलता से सन्तानोत्पत्ति हो। वेद सदैव प्रार्थनाओं के द्वारा तत्तत्कार्यशक्ति की सूचना देते हैं, जिसके उपयोग से वह वह कार्य होता है। यह वेद की शैली है।

प्राह्मा गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः ।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ (अथर्व० १२।२।३९)
या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥२७॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२८॥ (अथर्व० ९।५।२७-२८)

अर्थात् जब स्त्रियों के पति मर जाते हैं, तब घर उजड़ जाते हैं, इसलिये कन्या का पति सदैव वेदवेत्ता ही ढूँढना चाहिये, जिसने कभी मांस न खाया हो । जो स्त्री पहिले पति को पाकर दूसरे पति को प्राप्त होती है, वह पञ्चौदन के द्वारा उससे जुदा नहीं होती । दूसरा पति विधवा स्त्री के साथ पंचौदन-यज्ञ-द्वारा विवाह करके अपनी जाति में समानता से स्थान पाता है । यहाँ तक हमने वेदमंत्रों से विवाह और गर्भाधानसंस्कार का वर्णन किया ।

अब आगे पुंसवनसंस्कार से संबंध रखनेवाले मंत्रों का लिखते हैं । इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थ को पुत्र बनाना है । यह कार्य एक औषधि के द्वारा किया जाता है । वेद में लिखा है कि—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥ (अथर्व० ६।११।१-२)

अर्थात् जिस शमी वृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष उगा हो, उसकी जड़ को गर्भाधानके दिन से दो तीन मास तक स्त्री को देने से पुत्र की प्राप्ति होती है । जो वीर्य स्त्री में डाला जाता है, वह पुंसत्व (पुत्र) को प्राप्त हो जाता है और पुत्र की प्राप्ति होती है, यह बात प्रजापति-परमात्मा ने कही है । इस पुंसवनसंस्कार के आगे सीमन्तोन्नयनसंस्कार होता है । जब गर्भ चार पाँच महीने का हो जाता है तब मस्तिष्क उन्नत होत है और बुद्धि जागृत होती है । इसी को सीमन्त-उन्नयन अर्थात् शिर की उन्नति कहते हैं । शिर के विषय में वेद में लिखा है कि—

तद्वा अथर्वणः शिरोः देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ (अथर्व० १०.२।२७)

अर्थात् ज्ञान का केन्द्र शिर है जो देवताओं का सुरक्षित कोश है । इस कोश की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं । ऐसे ज्ञानकोश शिर की वृद्धि के समय से गर्भिणी को चाहिये कि वह वीरों की कथाएँ सुने, उत्तम चित्र देखे और उत्तम कर्मों (यज्ञों) का अनुष्ठान करे, जिससे गर्भस्थ का मस्तिष्क उत्तम संस्कारों से संस्कृत हो जाय । इस संस्कार के आगे जातकर्मसंस्कार है यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर किया जाता है । जिस समय बालक उत्पन्न होने लगता है, उस समय की प्रार्थना का अर्थात् कुदरत की वैज्ञानिक क्रिया का वर्णन वेदों ने इस प्रकार किया है—

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः ॥७॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥८॥
दश मासाच्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥९॥ (ऋ० ५।७८-९)*

अर्थात् जिस प्रकार हवा से छोटा तड़ाग सब ओर से हिलने लगता है, वैसे ही दश मास में तेरा गर्भ हिले और बच्चा बाहर आवे। जिस तरह हवा, बन और समुद्र हिलते हैं, वैसे ही हे बालक! तू जरायु के सहित आ। जीती हुई माता के जीवन पर जीनेवाले हे जीव (बालक)! तू माता के गर्भ में दश महीने सोकर अक्षत निकल। इन मंत्रों के द्वारा बतलाया गया है कि गर्भिणी के पेट में जो चारों ओर से दर्द पैदा होता है, उससे विचलित होकर वह गर्भस्थ के प्रति बुरे भाव न सोचे कि जिसका प्रभाव बालक पर बुरा पड़, प्रत्युत वह यह समझे कि यह दर्द बालक का पैदा किया हुआ नहीं है, किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के कारण हो रहा है। इसके आगे सबसे प्रथम दुग्धपान की क्रिया पर वेद कहते हैं कि—

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ (यजु० १७।८७)
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥
(ऋ० १।१६४।४९)

अर्थात् हे अग्नितुल्य बालक! तू संबंधियों के बीच में आकर इस जलीय रस से स्थूल हुए स्तन को पी और स्वादिष्ट, गतिशील तथा समुद्र के समान ज्ञान देनेवाले इस स्तन का सेवन कर। हे ज्ञानवती प्रसूता! तू अपना यह सुख देनेवाला शरीरस्थ स्तन जो बालक के अंगों को पुष्ट करनेवाला, दुग्धरूप रत्न का धारण करनेवाला और शोभा का देनेवाला है, इस बालक के मुँह में दे। इन मन्त्रों में आरम्भिक दुग्धपान की शिक्षा दी गई है। इस शिक्षा के द्वारा बच्चे में माता के दुग्ध के गुणों का संस्कार डाला जाता है, जिससे बच्चा आजीवन माता का भक्त बना रहे और प्रसव के समय माता के कष्ट के कारण जो बच्चे में ख़राब असर हुआ है, वह दूर हो जाय। इसी का नाम जातकर्म अर्थात् पैदा होने का कारण कर्म है। जातकर्म के आगे नामकरणसंस्कार है। वेद में आया है कि—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
(यजु० ७।२९)

अर्थात् तू कौन है और तेरा नाम क्या है? तू बड़े नामवाला हो और पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक पूजा और पोषण के साथ बढ़। इस मंत्र में नामकरणसंस्कार की

शिक्षा है। इस संस्कार का तात्पर्य बच्चे के नाम से है। नाम का मनुष्य पर बहुत बड़ा असर होता है। उत्तम, सार्थक और उच्चभाव का बोध करनेवाला नाम नामी को हर समय अपने नाम की सूचना देकर उसे अनेक दुर्व्यवहारों से बचाता है और उच्च बनने की प्रेरणा करता है। इसलिये वेद ने इस संस्कार की आज्ञा दी है। इस नामकरणसंस्कार के आगे निष्क्रमणसंस्कार है। इस संस्कार के द्वारा बालक घर से बाहर लाया जाता है। इसी संस्कार के द्वारा बालक का पहिलेपहिल संसार से परिचय होता है। इसके संबंध में वेद उपदेश करते हैं कि—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरंतु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥१४॥
शिवास्ते संत्वोषधय उतत्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचंद्रमसावुभा ॥१५॥ (अथर्व० ८।२)

र्थात् हे बालक! तेरे लिए यह द्यौ और पृथिवीलोक दुःख न देनेवाले, कल्याणकारी और शोभा तथा ऐश्वर्य को देनेवाले हों। यह सूर्य तेरे लिये प्रकाश का देनेवाला हो, वायु तेरे हृदय को शांत करनेवाला हो और जल तेरे लिए सुंदर स्वादवाला हो कर बहे। तुझे भीतर से बाहर इसीलिए लाया हूँ कि तेरे लिए औषधियाँ कल्याणकारी हो और सूर्यचंद्र दोनों तेरी रक्षा करें। इन मंत्रों में निष्क्रमण के दो मतलब बतलाये गये हैं। एक तो बालक को पदार्थों का परिचय कराना। दूसरा शीतोष्ण सहन करने का अभ्यास कराना। इस लिए यह संस्कार आवश्यक समझा जाता है। इसके आगे अन्नप्राशन है। इस संस्कार के द्वारा पदार्थों के स्वाद का ज्ञान कराना और हानिकारक पदार्थों के तिरस्कार का संस्कार जमाना है। इसके संबंध में वेद उपदेश करते हैं कि—

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ (यजु० ११।८३)

अर्थात् हे अन्न के स्वामी परमात्मन्! आप हमारे लिए, हमारे पशुओं के लिए और अन्य मनुष्यों के लिए रोगरहित और बलकारक अन्न को दीजिए और उसी को बढ़ाईये। इस प्रार्थना का यही मतलब है कि हम रोगरहित, बलकारक अन्नों का ही सेवन करें और उसी प्रकार के अन्नसेवन के संस्कार बालकपन से ही संतति में डालने का प्रयत्न करें। इस संस्कार के आगे मुण्डनसंस्कार है। वेद में उसके लिए इस प्रकार आज्ञा है कि—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥

(अथर्व० ६।६८।३)

अर्थात् जिस प्रकार छुरे से सोम और वरुण का क्षौर सविता विद्वान् करता है, उसी तरह ब्राह्मण को चाहिये कि वह इस बालक का मुण्डन करे जिससे यह बालक धनवान् और प्रजावान् हो। यहाँ बालक की हजामत का तरीका बतलाया गया है कि जिस प्रकार

सोम अर्थात् जलतत्त्व पर सूर्य अर्थात् अग्नितत्त्व अपना संचार करता है, उसी तरह बालक ठंडी खोपड़ी पर गर्म जल डाल कर हजामत की जाय। यह मुण्डनसंस्कार गर्भ के अपवित्र बालों को काटने के लिये किया जाता है, जिससे शुद्धता आवे और आरोग्यता बढ़े। इस संस्कार के आगे कर्णवेधसंस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। कर्णवेध से अण्डवृद्धि की बीमारी नहीं होती और इसी से आरोग्यता के लिए सुवर्ण पहिनने का काम भी निकल जाता है वेद उपदेश करते हैं कि—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु॥ (अथर्व० ६।१४१।२)

अर्थात् दोनों कानोंमें अश्विन देवताओं ने पहिले ही चिह्न किया है, उसी चिह्न पर लोहे के शस्त्र से हे वैद्यो! बहुत ही प्रजा के देनेवाले छिद्र को कीजिये। इस छिद्र को सुश्रुत में 'देवकृते छिद्रे' लिखा हुआ है। कानों में तीन नसों के बीच जो स्थान है, वही देवछिद्र है। उसी के छेदन करने से और उसमें सुवर्ण पहिनने से अण्डवृद्धि नहीं होती और अण्डदोष न होने से ही संतान होती है। इसीलिए यह संस्कार आवश्यक है। ये दोनों मुण्डन और कर्णवेधसंस्कार बालक में आरोग्यरक्षा के संस्कारों का प्रभाव डालना शुरू करते हैं। इस तरह से इन छोटे बड़े किंतु महत्त्वपूर्ण संस्कारों के बाद उपनयनसंस्कार होता है। वेद में इस संस्कार का वर्णन इस प्रकार है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः॥३॥
इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥४॥
(अथर्व० ११।५)

अर्थात् आचार्य आये हुए ब्रह्मचारी को अपने समीप गर्भ की भाँति तीन दिन तक रखता है और सब लोग उस ब्रह्मचारी को देखने के लिये आते हैं। उसको पहिली समिधा पृथिवी, दूसरी अन्तरिक्ष और तीसरी द्यौ के लिये होती है। वह समिधा से, मेखला से, श्रम से और तप से तीनों लोकों को पालता है। इन दोनों मंत्रों में ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में जाकर और आचार्य के घर पैदा होकर द्विज बनना बतलाया गया है और कहा गया है कि वह सादगी, यज्ञ, श्रम और तप से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के ज्ञान—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—को प्राप्त करे। इसके आगे उसकी भिक्षावृत्ति का गौरव वेद में इस प्रकार बतलाया गया है कि—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥
(अथर्व० ११।५।९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ने पहिले विशाल भूमि और द्युलोक की भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी उनकी दो समिधा बनाकर उपासना करता है, क्योंकि उन दोनों के बीच में सब भुवन स्थित हैं। इस मंत्र में पृथिवी से द्यौपर्यन्त ईश्वर के उत्पन्न किए हुए पदार्थों की

भिक्षा का उपदेश है। इसका यही मतलब है कि परमात्मा ने जीविका बंदोबस्त कर दिया है, इसलिए भिक्षा से उसे ग्रहण करो और विद्याध्ययन करो। इसके आगे वेद में ब्रह्मचर्य का महात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद् वशी ॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या ३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥ (अथर्व० ११।५।१६–१९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है, ब्रह्मचारी ही प्रजापति होता है और प्रजापति अर्थात् इन्द्र ही विराट् को वश में करनेवाला होता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है ब्रह्मचर्य से ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पढ़ा सकता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है, ब्रह्मचर्य से ही बैल और घोड़े घास को हज़म कर सकते हैं, ब्रह्मचर्य और तप से ही देवता मृत्यु को हटा देते हैं और ब्रह्मचर्य से ही इंद्र देवताओं को सुख से भर देता है। इस प्रकार से इस सदाचार और सभ्यता के मूल तथा लोक और परलोक के साधनरूप ब्रह्मचर्य की महिमा वेदों में विस्तार से वर्णित है। इसलिए इस संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट गुणों को पाकर ही समाज में मिलने के योग्य होता है। इस मिलाप का ही नाम समावर्तनसंस्कार है। समावर्तनसंस्कार की भी बड़ी महिमा है। क्योंकि यही समाज का मूल है। इसके लिए वेद आज्ञा देते हैं—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ (अथर्व० ११।५।२६)

अर्थात् जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर होकर और उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास करके महातप को धारण करता है और वेदपठन, वीर्यनिग्रह तथा आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा करके और समावर्तन की स्नानविधि को करके उत्तम गुण, कर्म स्वभावों से प्रकाशित होता है, वही धन्यवाद के योग्य होता है। इस मंत्र से समावर्तनसंस्कार का महत्त्व दिखलाया गया है। इसके आगे विवाह और गृहस्थाश्रमसंस्कार है, जिनका पूर्ण रूप से वर्णन हो चुका है। यहीं पर लौकिक संस्कारों की समाप्ति होती है। गृहस्थाश्रमसंस्कार के आगे परलोक से संबंध रखनेवाले तीन संस्कार और हैं। उनके नाम वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टिसंस्कार हैं। बिना इन तीनों संस्कारों के मनुष्य का जन्म सफल नहीं होता। क्योंकि बिना वानप्रस्थ और संन्यास के मनुष्य अच्छी तरह परलोकचिंता नहीं कर सकता और न परमतत्त्व को ही पा सकता है। इसीलिए ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त का उपदेश किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि—

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वा यथाकामं नि पद्यते॥ (ऋ० १०।१४६।५)

अर्थात् इस वानप्रस्थी को जंगल में कोई नहीं मारता और न कोई उसके पास जाता है। वह स्वादिष्ट फलों को खाकर सुख से जहाँ इच्छा है, वहाँ विचरण करता है। इस संस्कार के द्वारा एकान्त में रह कर तप और योग के द्वारा गृहस्थाश्रम अर्थात् लोक के संस्कारों को दूर किया जाता है और परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा के पारलौकिक संस्कारों को बद्धमूल करने का प्रयत्न किया जाता है। इस संस्कार के आगे संन्याससंस्कार है। परन्तु वैदिक संन्यास का अभिप्राय आजकल के संन्यासियों से नहीं है। आजकल के संन्यासी तो बौद्ध भिक्षुओं की नक़ल हैं। वैदिक संन्यासी इस प्रकार के न थे। वैदिक संन्यासी देव कहलाते थे और वे संसार से विरक्त होकर समाधि के द्वारा परमात्मा के दर्शनों का हर समय प्रयत्न किया करते थे। वेद में लिखा है कि '**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत**' अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप से ही समस्त देव मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये देवसंस्कार का उपदेश वेद में इस प्रकार है—

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे॥ (अथर्व० ९।५।१७)

अर्थात् हे अग्ने-परमेश्वर! जिस गृहस्थाश्रम को हज़ारों आदमी धारण किये हुए हैं, उसको छोड़कर हम देवों में प्रवेश करने के लिए तैयार होते हैं। यही संन्यास धारण करने का संस्कार है। इस संस्कार के आगे अन्त्येष्टिसंस्कार है। वेद में अन्त्येष्टिसंस्कार की बड़ी महिमा है। इसको भी पितृयज्ञ के ही नाम से कहा गया है। उस क्रिया का वेदों में विस्तार से वर्णन है। हम यहाँ उस प्रकरण का केवल एक मन्त्र देकर इस संस्कारप्रकरण को समाप्त करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥

अर्थात् चक्षु सूर्य में जावें, प्राण, वायु में जावें, पृथिवी का अंश पृथिवी में जावें, जल का अंश जल में जावे और औषधियों का अंश औषधियों में जावे। इस प्रकार से पैदा होने के पूर्व से लेकर मरने के बाद तक के संस्कारों का वर्णन वेदों में है। इन संस्कारों के द्वारा मनुष्य का मन, वाणी और कर्म सदाचारयुक्त बनाया जाता है, जिससे वह समाज में उत्तम गृहस्थ बन कर अपनी सारी इच्छाओं का पूर्ण कर सकता है। परन्तु मनुष्यसमाज का काम केवल सदाचरण से ही नहीं चल सकता। उसे सदाचार के साथ ही साथ जीविका की भी आवश्यकता होती है। इसलिए आगे देखते हैं कि वेदों में जीविका के विषय में क्या आज्ञा है।

जीविका, उद्योग और ज्ञानविज्ञान।

जीविका उत्पन्न करने के लिए सबको कृषि, पशुरक्षा और वाणिज्य का ही सहारा लेना पड़ता है। कृषि, पशुपालन और व्यापार पृथिवी की उपज से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए

विना भौगोलिक ज्ञान के जीविका का प्रश्न हल नहीं हो सकता। वेदों में भौगोलिक शिक्षा इस प्रकार दी गई है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥६१॥
इयं वेदिः परो अंत पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥६२॥
(यजु० २३।६१-६२)

अर्थात् तुझसे इस पृथिवी का अन्त पूछता हूँ, भुवन का मध्य पूछता हूँ, सेचन करनेवाला अश्व का रेत पूछता हूँ और इस आकाशमयी वाणी को पूछता हूँ। यह वेदी ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है, यह यज्ञ ही भुवन का मध्य है, यह सोम ही सेचन करनेवाला अश्व का रेत है और यह वेद ही आकाशमयी वाणी है। इन दोनों मंत्रों में प्रश्नोत्तर की रीति से बतला दिया गया है कि यह यज्ञ वेदीअर्थात् जहाँ खड़े हो, वही पृथिवी का अन्त है और वही स्थान भुवन का मध्य है। क्योंकि गोल पदार्थ का प्रत्येक बिन्दु (स्थान) ही उसका अन्त होता है और वही उसका मध्य होता है। पृथिवी और भुवन दोनों गोल हैं, इसलिए दोनों का प्रत्येक बिन्दु ही अन्त और मध्य है। इस भूगोलवर्णन के आगे पृथिवी के जल स्थान विभागों का ज्ञान कराने के लिए टापुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि—

वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद्दुच्छुनोभे युजंत रोदसी ।
प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादो यदेजथ स्वभानवः ॥ (ऋ० ८।२०।४)
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ (अथर्व० ११।७।१४)
एनाव्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वान्ति महते सौभागय ।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः ॥
(अथर्व० ४।८।७)

अर्थात् जब पृथिवी और आकाश में आकर्षण होता है और कंपन होता है, तब कहीं न कहीं या तो नवीन द्वीप उत्पन्न हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं और समस्त स्थावर दुःख पाते हैं। नई भूमि समुद्र से बाहर निकलती है और सूर्य रातदिन अपना प्रभाव करता है। पृथिवी के स्थलभाग समुद्र से घिरे हुए हैं, जिनमें सिंहव्याघ्रादि जन्तु गर्जते हैं। इन मंत्रों में द्वीपों और टापुओं की उत्पत्ति और उनका समुद्र से घिरा रहना बतलाया गया है। इसके आगे पृथ्वी की पैदावार का वर्णन करते हैं। सबसे पहिले जंगलों का वर्णन इस प्रकार है—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि ।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीम् ॥१॥
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः ।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥२॥

उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते ।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥३॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥४॥
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥५॥
आंजनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥६॥

(ऋ० १०।१४६।१–६)

अर्थात् इस महावन में गौ आदि पशु घास चर रहे हैं। यह वन मकान के सदृश दिखता है। कोई गाड़ियों को भेज रहा है, कोई गायों को बुला रहा है, कोई सूखा काष्ठ काट रहा है और कोई सन्ध्या के समय घबरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो, तो यह अरण्य किसी को नहीं मारता। अरण्य में स्वादिष्ठ फल खाने को मिलते हैं, यह कस्तूरी और पुष्पों को सुगन्धि देता है और विना खेती के बहुत सा अन्न देता है। अनेकों प्रकार के पशुओं का उत्पत्तिस्थान यह अरण्य महाप्रशंसा के योग्य है। इस जंगल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञान्नों का वर्णन इस प्रकार है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे
मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे
श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधुमाश्च मे
मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।१२)

अर्थात् मेरे धान, यव, उड़द, तिल, मूँग, चना, काकुन, कोदो, साँवाँ, पसाही, गेहूँ और मसूर आदि सब अन्न यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इन अन्नों के आगे हर प्रकार के जलों का वर्णन इस प्रकार है—

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

(ऋ० ७।४९।२)

अर्थात् जो पवित्र जल बरसते हैं, जो खोदने से होते हैं, जो खुद (नदियों द्वारा) उत्पन्न होते हैं और जो समुद्र से बनाये जाते हैं, वे दिव्य जल यहाँ मेरी रक्षा करें। इस प्रकार से जलों के वर्णन के आगे खनिज पदार्थों का वर्णन इस प्रकार है—

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे
सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे
लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।१३)

अर्थात् मेरे ये पत्थर, मिट्टी, गिरि, पर्वत, बालू, वनस्पती, सोना, ईसपात, लोहा, सीसा, जस्ता आदि सब यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार से पृथिवी की बनावट, द्वीपों की उत्पत्ति और पृथिवी में हर प्रकार की उपज का ज्ञान देकर पोषण करनेवाली मातृभूमि की वेद इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और उपदेश करते हैं कि वेद के माननेवालों

को मातृभूमि का गुणगान और अभिमान किस प्रकार करना चाहिये । अथर्ववेद में आया है कि—

यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥
विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ॥ ११ ॥
शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्चकृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥
ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥
यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्य ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥१२॥

(अथर्व० १२।१)

अर्थात् जिस भूमि पर समुद्र, नदी और कुएँ है, जिस पर अन्नों की खेती होती है और जिस पर प्राणी बसते हैं, वह रक्षा करनेयोग्य भूमि हमको स्थान दे । जिस पर हमारे पूर्वजों ने बढ़कर कर्तव्य किये हैं और जिस पर देवताओं ने असुरों को हराया है वह गौवों, घोड़ों और अन्नों की खान हमारी पृथिवी हमको ऐश्वर्य और तेज दे । सबको सहारा देनेवाली धन और सुवर्ण को अपनी छाती पर रखनेवाली और सुख देनेवाली हमारी भूमि हमको दे । तेरे पहाड़, तेरे हिमवान् पर्वत और तेरे जंगल हमको सुखकारी हों । जो पृथिवी शिला, पत्थर और धूलि को धारण किये हुए है और जो सुवर्ण को अपनी छाती पर लिए हुए है, उस

मातृभूमि को नमस्कार है। जिस पर वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और जो बड़े बड़े वीरों द्वारा धारण की गई है, उस पृथिवी का हम स्वागत करते हैं। जिस पर एक भाषा को अनेक प्रकार से बोलनेवाले बसते हैं, जिस पर नाचनेवाले नाचते है, जिस पर युद्ध करनेवाले कोलाहल करते हैं और जिस पर नाना प्रकार के बाजे बजते हैं, वह हमारी पृथिवी शत्रुहीन हो। जिस पर अनेक प्रकार के जौ आदि अन्न होते हैं और जिसके संबंधी पाँचो तत्त्व हैं, उस वर्षा से प्रेम करनेवाली और मेघों के द्वारा पालन की गई भूमि को नमस्कार है! अपने गुप्त खज़ाने में अनेक प्रकार की निधियों को सुरक्षित रखनेवाली मातृभूमि हमें मणि और सुवर्ण देवे और हमारा पोषण करे। जिसमें बहुत से मनुष्य चलते हैं, जिसमें रथ और छकड़े दौड़ते है, जिसमें भले और बुरे सभी निवास करते हैं, यह शत्रुरहित और तस्कररहित मंगलमय भूमि हमको हमको विजय देकर सुखी करे। तुझ पर जो ग्राम हैं, वन हैं, सभाएँ हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं, उन सब स्थानों में हम तेरा यश वर्णन करें। हे मातृभूमि ? हमको सुबुद्धि के साथ बड़ी प्रतिष्ठावाला बनाये रखें और श्री तथा विभूतियों मे सम्पन्न रख। हे पृथिवीमाता! तू अपना मध्य, अपना कर्म और अपने शरीर का बल हमको दे। हे मातृभूमि! तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र हैं। इस प्रकार से इन मन्त्रों में मातृभूमि के महत्त्व का, उसकी उपज का, उसकी पोषक शक्ति का और उनके प्रति भक्तिभाव का उपदेश किया गया है। जिससे भौगोलिक और भौगर्भिक ज्ञान की अच्छी तरह उन्नति हो सकती है। अब इसके आगे जीविका से संबंध रखनेवाले वैश्यधर्म का वर्णन करते हैं।

वैश्यधर्म में कृषि, जंगल, खनिज पदार्थ, पशु और अन्य अनेकों वाणिज्य से संबंध रखनेवाले और जीविका प्रदान करनेवाले साधन सम्मिलित हैं। जब तक ये समस्त साधन न उपस्थित किये जाएँ और जब तक समस्त समाज को उसके व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार कारीगरी, श्रम और अन्य बौद्धिक कामों में न लगाया जाय, तब तक समाज की जीविका का प्रश्न अच्छी तरह हल नहीं हो सकता। इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

> अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
> आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥ (ऋ० १०।७१।७)
> समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
> यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ (ऋ० १०।११७।९)

अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियों के एक समान होने से सब मनुष्य समान ही दिखलाई पड़ते हैं, परंतु मनोवेगों और बुद्धिबलों में सब असमान ही हैं! कोई मुख पर्यन्त सरोवर के समान है, कोई बगल पर्यंत सरोवर के समान है और कोई केवल स्नान कर लेने मात्र भर के जलाशयों के ही बराबर है। दोनों हाथ एक समान होते हुए भी वे समान कर्म नहीं कर सकते, एक ही माता से उत्पन्न दो गौवें भी दूध नहीं देतीं, साथ ही जन्मे हुए दो यमज भाई भी एक सा पराक्रम नहीं करते और एक ही जाति के होते हुए भी सब एक समान दान नहीं करते। इन दोनों मंत्रो में बतलाया गया है कि यद्यपि समस्त मनुष्य शारीरिक बनावट में समान हैं, परंतु सबके मन की शक्तियाँ और कर्तव्य अलग अलग हैं। परमेश्वर को इस प्रकार की असमानता में भी अर्थ, काम और मान की समता समस्त

मनुष्यों में एक समान रखना है, इसलिए उसने धन को समान रूप से बाँटते हुए उपदेश किया है कि—

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । सवितारं नृचक्षसम् ॥

(यजु० ३०।४)

अर्थात् नाना प्रकार के सुखदायक धनों का जिसने विभाग किया है, उस सबके उत्पादक और ज्ञानदाता परमात्मा की हम लोग पूजा करें। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि समान भोगों के लिए सारा समाज यथायोग्य काम को करके जीविका उत्पन्न करे, जिससे समाज में दरिद्रता न आने पावे। दरिद्रता के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ।
शिरिंबिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥ (ऋ० १०।१५५।१)

अर्थात् हे धनहीन, विरूप, कुरूप, सदा आक्रोश करनेवाली दरिद्रे! तू निर्जन पर्वत पर जा। यहाँ हम दृढ अन्तःकरणवाले मनुष्यों के पुरुषार्थ से तेरा नाश करेंगे।

इस दरिद्रता के नाश करनेवाले सर्वप्रधान व्यवसाय खेती के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ १ ॥
क्षेत्रस्य पते मधुमंतमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥२॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वंतरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥३॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिंगय ॥४॥
अर्वाची सुभगे भव सीते वंदामहे त्वा ।
यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलासति ॥६॥
शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥८॥

(ऋ० ४।५७)

अर्थात् खेत के स्वामी के लिए हम गाय, घोड़े और पोषक पदार्थ देते हैं, उसी तरह वह किसान भी हमें सुख देवे। हे कृषक! धनपति! आप गोदुग्ध की भाँति मीठा पवित्र जल, दूध और मीठे आम के फल हम लोगों में परिपूर्ण कीजीये। उत्तम औषधियाँ, द्यौलोक, जल और अन्तरिक्ष अनुकूल रहे, जिससे क्षेत्रपति हमारे लिए मधुर हो सके और सज्जन पुरुष उसके अनुकूल रहें। बैल, मजदूर, हल के अंग, बरेत (रस्सी) आदि सब सुखकारी हों और खेती के अन्य अवयव भी सुखकारी होकर चलाये जायँ। हे सौभाग्यवती फाल! नीचे की चलने-वाली हो। जैसे तू हमारे लिए सौभाग्य देनेवाली और सुफला है, वैसे ही हम तेरी याचना करते हैं हमारी सुख देनेवाली फाल ज़मीन को जोते, हमारा जोतनेवाला बैलों से सुख प्राप्त करे,

वर्षा उत्तम जलों से तृप्त कर दे और खेती हम लोगों में सुख धारण करे। इस प्रकार खेती का वर्णन करके अब बागबगीचों का वर्णन करते हैं। वेद में वृक्षों को पशुपति कहकर उनका आदर बतलाया गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये यमो नमः। (यजु० १६।१७)

अर्थात् हे हरिकेश वृक्षों! तुम पशुपति हो इसलिए हम तुम्हारा आदर अर्थात् पालन करते हैं। वनस्पति के आदर का यही कारण है कि समस्त मनुष्य और पशु वृक्षों से ही जीते हैं। वनस्पति न हो, तो न मनुष्य ही रह सकें और न पशु ही। इसलिए खेती के साथ बाग-बगीचे लगाना और जंगलों की रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वेद में वनस्पतिरक्षा के आगे पशुरक्षा बतलाई गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

षष्टिं सहस्राश्वयस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ (ऋ० ८।४६।२२)

अर्थात् साठ हज़ार घोड़ी, दश हज़ार ऊँट, तीन हज़ार भेड़ी, एक हज़ार गधी और दश हज़ार गौवें हों। इस प्रकार पशुधन की वृद्धि की जावे और इन्हीं को व्यापार का माध्यम बनाया जावे वेद उपदेश करते हैं कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ ऋ० ५।४५।६)

अर्थात् हे मित्रो! आओ इकट्ठे होकर हम लोग धन के देनेवाले व्यापार को मिलकर करें और गौवें बड़े बड़े व्रज बनावें। इस प्रकार व्यापार की बात कहकर ऐश्वर्य की बड़ाई करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

भग एव भगवाँ २ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह। (यजु० ३४।३८)

अर्थात् ऐश्वर्य ही भगवान् हो और उससे ही देवता हमको भाग्यवान् करें, इसलिए हे ऐश्वर्य! तुझको समस्त जन पुकारते हैं और तेरा मुँह देखते हैं कि तू ही हमारा अग्रगामी हो। इस ऐश्वर्य देनेवाले व्यापार और व्यापारियों को उत्तेजन और सहायता देने के लिए वेद में राजा को इस प्रकार उपदेश दिया गया है कि—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्। (अथर्व० ३।१५।१)

अर्थात् मैं (राजा) उत्तम व्यापारी को अपने पास बुलाता हूँ और उसे अपना मुखिया बनाता हूँ, इसलिए हे धनदाता! इन अनुदार, बटमार (डाकू) और सिंहादि क्रूर पशुओं को दूर करके हमको धन दे। इसके आगे व्यापारी को अपने व्यापार में मन लगाने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥

(अथर्व० ३।१५।६)

अर्थात् धन से अधिक धन मिलाने की इच्छा से धन के द्वारा जो व्यापार करता हूँ, उसी व्यापार में मेरी रुचि रहने दीजिये । यह रुचि तभी बढ़ सकती है, जब अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया जावे । वेद उपदेश करते हैं कि लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने अपने धन्धों को ही करें—

नाना नं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वंतमिच्छति ॥ (ऋ० ९।११२।१)

अर्थात् अपनी और अन्य लोगों की बुद्धि और कर्म सचमुच ही भिन्न भिन्न हैं । बढ़ई चीड़ने फाड़ने को, वैद्य रोगनिवृत्त की और ब्राह्मण यज्ञ की इच्छा करता है ।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानां ।
कर्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छति । (ऋ० ९।११२।२)

अर्थात् परिपक्व औषधि लेकर वैद्य, पक्षियों के पङ्ख लेकर चीज़ें बनानेवाले कारीगर, चमकने हुये रत्न लेकर सुनार और अन्य चीज़ों को लेकर अन्य धंधेदार अपनी अपनी दुकानों में बेचने की इच्छा करते हैं । इनके आगे वेद उपदेश करते हैं कि पूर्वसञ्चित कर्मानुसार एक ही कुटुम्ब में पैदा होते हुए और रहते हुए भी मनुष्यों को अलग अलग कामों में रुचि होती है और वे लोग अलग अलग अपने अपने धन्धों को करते हैं । निम्नलिखित मन्त्र में यही उपदेश किया गया है । यथा—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम ॥ (ऋ० ९।११२।३)

अर्थात् मैं बढ़ई हूँ, मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है, इसलिए इसी प्रकार के विविध बुद्धि और कलाकुशलतावाले लोगों में हम बसें । इसका यही अभिप्राय है कि स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति (tendency) के अनुसार काम करने से ही कला और व्यापार में उन्नति होती है और सब लोक पर्याप्त जीविका प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए वेद में विविध प्रकार के कारीगरों का मानपान देने की आज्ञा इस प्रकार दी गई है—

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो
नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ (यजु० १६।२७)

अर्थात् तक्षा, रथकार, कुलाल, बढ़ई, निषाद और अन्य छोटे बड़े कारीगरों का सत्कार हो । कारीगरों की इस प्रतिष्ठा से प्रतीत होता है कि भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ तैयार कराने का वेदों में आदेश है । कपड़ा बनाने के लिए वेद उपदेश देते हैं कि—

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ।
अश्विना यज्ञᳬ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ॥ (यजु० १९।८०)

अर्थात् सीसा के यंत्र से मननशील विद्वान् ऊन को उसी तरह बुनते हैं, जिस तरह दोनों बिजलियों को बरसात में वरुणदेव ओतप्रोत करते हैं । इसके आगे कवच सीने का उपदेश इस प्रकार है—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥ (ऋ० १०।१०१।८)

अर्थात् हे राजन्! बड़े बड़े गाँवों के व्रज क़ायम करो, मोटे मोटे चमड़े के वर्म सिलवाओ और लोहे के किले बनवाओ, जिससे तुम्हारा हवन का चमचा न टपके-राज्य न नष्ट हो जाय। यहाँ सीने का प्रयोग पाया जाता है, इसके अतिरिक्त नाव और विमान बनाने का उपदेश इस प्रकार है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः ॥ (ऋ० १।२५।७)

अर्थात् जो पक्षी बादल आदि 'वी' के स्थान को और अन्तरिक्ष में उनके चलने की गति को जानता है, वह आकाश के विमान और समुद्र की नाव को जानता है। क्योंकि पक्षी जिस नियम से उड़ते हैं, उसी नियम से विमान और नौका भी चलाई जाती है। इसी लिए वि=पक्षी और मान=सदृश अर्थात् पक्षी के सदृश ही को विमान कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदों में हल, रथ, गाड़ी, धनुष बाण, यज्ञपात्र और गृहनिर्माण संबंधी अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और औषधि आदि बनाने के समस्त औज़ारों का विस्तृत उपदेश है, इसलिए वेदों में कलाकौशल का पर्याप्त ज्ञान पाया जाता है। परन्तु विना गणित के व्यापार का काम नहीं चल सकता, इसलिए देखते हैं कि वेदों में अङ्कगणित और रेखागणित का कैसा वर्णन है।

यजुर्वेद अध्याय १५ के मंत्र ४ और ५ में अनेक प्रकार के छंदों का वर्णन करते हुए 'अक्षरपंक्तिश्छन्दः' और 'अङ्काङ्कंछन्दः' का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें अक्षर और अङ्क अलग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

य एतं देवमेकवृतं वेद। (अथर्व० १३।४।१५)
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। (१३।४।१६–१८)

इन्हीं नौ अङ्कों की दहाई बनाने का वैज्ञानिक क्रम अथर्ववेद काण्ड ५ सूक्त १५ के कई मन्त्रों में विस्तारपूर्वक इस प्रकार बतलाया गया है कि—

एका च मे दश च मे०, द्वे च मे विंशतिश्च मे०, तिस्रश्च
मे त्रिंशच्च मे०, चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०, पञ्च च मे
पञ्चाशच्च मे०, षट् च मे षष्टिश्च मे०, सप्त च मे सप्ततिश्च मे०,
अष्ट च मेऽशीतिश्च मे०, नव च मे नवतिश्च मे०, दश च मे
शतं च मे०, शतं च मे सहस्रं च मे०। अथर्व० ५।१५।१–११)

इस मंत्र के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वेदों के आदेशानुसार एक से लेकर नौ तक अङ्कों से ही दस, बीस, तीस, चालीस, पचास और नब्बे आदि दहाइयाँ बनाई गई हैं। दहाइयों के लिए कोई नवीन संज्ञा मुकर्रर नहीं की गई। यही नहीं बल्कि जिस संकेत से दो का बीस, तीन का तीस और नौ का नब्बे बनता है, उसी से दश का सौ और सौ का हज़ार भी बनता। क्योंकि उपर्युक्त मंत्र में '**दश च मे शतं च मे शतं च मे सहस्रं च मे**' स्पष्ट

कहा गया है । इस दहाई का क्रम बतानेवाला नीचे दिया हुआ यजुर्वेद का मंत्र बड़ा ही स्पष्ट है—

> इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, दश च शतं च,
> शतं च सहस्रं च, सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च, नियुतं च प्रयुतं
> चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे
> अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके । (यजु० ७।१२)

इस मंत्र में दहाई का चिह्न बढ़ाते हुए परार्द्ध तक की संख्या बतलाई गई है । संसार में इससे बड़ी संख्या का पता अबतक नहीं लगा । इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि एक का दश, दश का सौ, सौ का हज़ार हो जाता है और इसी तरह दहाई बढ़ाते हुए परार्द्ध तक हो जाता है ।

इन नौ तक अङ्कों, बीस, तीस, चालीस तथा नब्बे तक की दहाइयों और दश, सौ, हज़ार आदि परार्द्ध तक की संख्याओं के संकेतों का वर्णन करके अब आगे दहाइयों और अङ्कों के संयोगों से जो संख्यायें बनती हैं, उनका नमूना दिखलाते हैं । इनका वर्णन यजुर्वेद और ऋग्वेद में इस प्रकार आया है—

> एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पंच च मे, पंच च मे सप्त च मे;
> सप्त च मे नव च मे, नव च मे एकादश च मे एकादश च मे त्रयोदश
> च मे, त्रयोदश च मे पंचदश च मे, पंचदश च मे सप्तदश
> च मे, सप्तदश च मे नवदश च मे, नवदश च मे एक-
> विंशतिश्च मे, एक विंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे, त्रयो
> विंशतिश्च मे पंचविंशतिश्च मे, पंचविंशतिश्च मे
> सप्तविंशतिश्च मे, सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे,
> नवविंशतिश्च मे, एकत्रिंशच्च मे, एकत्रिंशच्च मे त्रय-
> स्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । (यजु० १८।२४)
> चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे, द्वादश च मे
> षोडश च मे, षोडश च मे विंशतिश्च मे, विंशतिश्च मे
> चतुर्विंशतिश्च मे, चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे
> अष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे, द्वात्रिंशच्च मे षट्-
> त्रिंशच्च मे, षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे, चत्वारिंशच्च मे
> चतुश्चत्वारिंशच्च मे, चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे
> यज्ञेन कल्पन्ताम् । (यजु० १८।२५)
> इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
> जघान नवतीर्नव ॥ (ऋग्वेद १।८४।१३)

यहाँ हमने तीन मत्रं उद्धृत किए हैं, जिनमें क्रम से दो दो और चार चार बढ़ाकर एक, तीन, पाँच, ग्यारह, तेरह, सत्रह, इक्कीस, पच्चीस, इकतीस और तैंतीस आदि तथा चार, आठ, बारह, सोलह, बीस, चौबीस, बत्तीस, चालीस, चवालीस और अड़तालीस आदि

संख्याओं का वर्णन किया गया है । इसी तरह ऋग्वेदवाले मंत्र में निन्यानवे का भी वर्णन है । जिससे पाया जाता है कि वेदों ने इस जोड़ और बाक़ी का ज्ञान देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की जितनी संख्याएँ हैं वे सब उन्हीं नौ अंकों और दहाई के संकेतों से ही बनी हैं, इसके लिए किसी अन्य संकेत की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार से हमने यहाँ तक के वर्णन से देखा कि बेदों में दो ही प्रकार के संकेत हैं, एक तो एक, द्वि, त्रि चत्वारि, पंच, षट्, सप्त, अष्ट और नव आदि इकाई के लिए और दूसरे दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध आदि दश के क्रम से बनी हुई संख्याओं के लिए । बस, इनके अतिरिक्त और किसी प्रकार के संकेत नहीं हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में इन्हीं दो प्रकार के संकेतों से सारी अंक विद्या फैलाई गई है । क्योंकि हमने मत्रों को लिखकर दिखला दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की संख्याएँ उन्हीं नौ तक अंकों और दश के संकेतों के ही उलटने पलटने से बनी हैं । जिस प्रकार एकादश, त्रयोदश, सप्तविंश, चतुश्चत्वारिंश और नवतिनव आदि संख्याएँ बनी हैं उसी तरह विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति आदि दहाइयाँ भी उन्हीं द्वि, त्रि, चत्वारि, षट्, सप्त और नव से ही बनी हैं तात्पर्य यह कि समस्त अंकजाल उपर्युक्त नौ तक अंकों और केवल दहाई के चिह्नों से ही फैलाया गया है, अनेकों मनमाने नामों से नहीं ।

एक से लेकर दश तक अंकों में दश शब्द बड़ा ही रहस्यपूर्ण है । विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि और नवति आदि शब्द जिस प्रकार अपने उच्चारण से द्वि, त्रि, चत्वारि, षष्ठ और नव से बने हुए ज्ञात हो जाते हैं, उसी तरह बना हुआ यह दश सूचित नहीं होता । षष्ठ का षष्टि के साथ और चत्वारि का चत्वारिंश के साथ जो संबंध सूचित होता है, वही संबंध एक और दश के साथ सूचित नहीं होता—एक का दश से कोई वास्ता ही प्रतीत नहीं होता । इसी तरह शत, सहस्र, अयुत और नियुत आदि का भी एक, द्वि, त्रि, चत्वारि अथवा विंश, त्रिंश आदि से वास्ता प्रतीत नहीं होता । वे भी दश की तरह स्वतंत्र ही मालूम होते हैं । परन्तु दश का संकेत अंकों की भाँति अकेला अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता । वह नौ अंकों को ही किसी विशेष सूचना से दशगुना कर देता है । इसका एक अच्छा उदाहरण अथर्ववेद में आया है । वहाँ लिखा है कि—

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥३॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥४॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ॥५॥ (अथर्व० १९।४७)

इन मंत्रों में ९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२ और ११ का क्रम से वर्णन है । एक ओर से ग्यारह ग्यारह की हानि है । और एक ओर से ग्यारह ग्यारह की वृद्धि है । हर तरह से यह ग्यारह ग्यारह का पहाड़ा है, पर इसमें दहाई की (११ × १०=११०) संख्या नहीं है, जो निहायत आवश्यक थी । परन्तु हम लिख आये हैं कि दश के लिए वेदों में किसी ख़ास अंक की आवश्यकता नहीं बतलाई गई । दश के लिए तो शून्य का ही चिह्न स्थिर किया गया है । इसीलिए इस मंत्र में दहाई के लिए कुछ भी नहीं कहा

गया। यह मंत्र चूँकि ग्यारह से आरम्भ करता है और ग्यारह के पहिले दश हो चुके हैं, अतः जो दश पहिले क़ायम हो चुके हैं, वही वहाँ ग्यारह पर रख देने से ग्यारह दहाई बन जायँगी। दहाई न लिखने का यही कारण है। क्योंकि दहाई अंक नहीं है। वह तो केवल संख्या का चिह्न है। इसी से उस चिह्न को शून्य माना है। क्योंकि शून्य का अर्थ अंक का अभाव ही है।

उपर्युक्त तीन मंत्रों में जहाँ ग्यारह का पहाड़ा समझाया गया है, वहाँ प्रकारान्तर से ९+९=१८, ८+८=१६, ७+७=१४, ६+६=१२, ५+५=१०, ४+४=८, ३+३=६, २+२=४, और १+१=२, का जोड़ भी बतलाया गया है। इस जोड़ में २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, और १८ अंकों की प्राप्ति होती है और मज़े से दो का पहाड़ा बन जाता है। इसके आगे अतिरिक्त ऊपरवाली संख्या को ९×९=८१, ८×८=६४ ७×७=४९, ६×६=३६, ५×५=२५, ४×४=१६, ३×३=९, २×२=४, इस प्रकार गुणित करने से ८१, ६४, ४९, ३६, २५, १६, ९, ४ ये संख्याएँ प्राप्त होती हैं। ये एक दूसरी से १७, १५, १३, ११, ९, ७, ५, ३ के क्रम से छोटी हैं। इन छोटाई के अंकों में नीचे से ऊपर की ओर जाने से ठीक दो दो की संख्या अधिक है और ऊपर से नीचे की ओर जाने से ठीक दो दो की संख्या कम है। अर्थात् जब नीचे से चलते हैं, तो तीन और दो पाँच, पाँच और दो सात, सात और दो नौ आदि के क्रम का जोड़ प्राप्त होता है और जब ऊपर से नीचे की ओर आते हैं, तो सत्रह में से दो निकल गये तो पन्द्रह, पन्द्रह में से दो निकल गये, तो तेरह आदि के क्रम की बाक़ी प्राप्त होती है। इसी क्रम में गुणा भी सम्मिलित है। जब ९×९=८१ का क्रम चलता है, तब गुणन की विधि होती है, परन्तु जब ८१ से नौ नौ के निकालने का क्रम चलता है, तो वही भाग हो जाता है। क्योंकि जोड़ का विशाल रूप गुणा है और बाक़ी का विशाल रूप भाग है, जो उपर्युक्त मन्त्रों से पाया जाता है। इसी तरह 'इन्द्रो दधीचो' मंत्र में नौ के नौ से गुणनफल को नौ से ही वध करना कहा गया है, जिसका यह मतलब है कि नौ के पहाड़े की प्रत्येक संख्या फिर नौ होती हुई पाई जाती है। अर्थात् ९, १८, २७, ३६. ४५, ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० की कोई संख्या जोड़ी जाय, तो नौ ही हो जायगी। जैसे १८ के एक और आठ मिलकर नौ, २७ के दो और सात नौ, ३६ के तीन और छे मिलकर नौ हो जाते हैं, उसी तरह ८१ पर्यन्त समझाना चाहिये। ८१ का उलटा १८, ७२ का उलटा २७, ६३ का उलटा ३६ और ५४ का उलटा ४५ है। नौ के पहाड़े की पाँचवीं संख्या तक ९, १८, २७, ३६, और ४५ के अंक होते हैं और यही आगे उलट कर ५४, ६३. ७२, ८१ और ९० हो जाते हैं। इस मंत्र में जोड़ के साथ साथ नौ तक अंकों की पूर्ण महिमा दिखलाई गई है और बतला दिया गया है कि समस्त अंकगणित नौ तक के मौलिक अंकों में ही भरा हुआ है। इसी तरह इन्हीं के द्वारा संख्या, जोड़, बाक़ी, गुणा और भाग बतलाया गया है, जो अंकविद्या का मूल है।

जिस प्रकार यह अंकगणित का नमूना है, उसी तरह रेखागणित के मौलिक सिद्धांतों का नमूना भी वेद ने बतला दिया है। रेखागणित के तीन सिद्धान्त हैं—नापने के साधन, त्रिकोण का सिद्धांत और वर्तुलक्षेत्र का गणित। नापने के साधनों को बतलानेवाला यह ऋग्वेद का मंत्र प्रसिद्ध है—

काऽसीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छंद किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥

(ऋ० १०।१३०।३)

अर्थात् इस हवनकुंड का पैमाना क्या था, नक़शा क्या था, परिधि क्या थी, घी क्या था और किन मंत्रों से उसका हवन किया गया था, जिसमें देवों ने समस्त देवों का यजन किया था ? इसमें नाप, नक़शा और परिधि का वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि हवनकुंड रेखागणित के ही हिसाब से बनते थे। इसीलिए यज्ञप्रकरण में पैमाना, नक़शा और परिधि की बात कही गई है। इन रेखागणित के साधनों के आगे त्रिकोणक्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है—

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ (अथर्व० ८।९।२)

अर्थात् पानी के लेवल (सतह) को सच्चा मानकर और आधार तथा लम्ब को ठीक करके त्रिभुज चक्र (क्षेत्र) बनावे, जिसके भीतर वत्सरूप से क्षेत्रफल बैठा है। इस समकोण त्रिभुज का सिद्धान्त ३, ४ और ५ है। यदि लम्ब ३ और आधार ४ होगा, तो कर्ण ५ ही होगा और इन्हीं में गुणा बाक़ी करने से क्षेत्रफल ज्ञात हो जायगा, जिस प्रकार यह त्रिकोण-क्षेत्र का सिद्धांत बतलाया गया है, उसी तरह चित्र का वर्णन करते हुए गोल क्षेत्र का भी सिद्धांत बतला दिया गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के त्रितों का वर्णन है। पहिले त्रित के विषय में लिखा है कि—

अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः।
इंद्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधींरिव त्रितः ॥५॥

(ऋ० १।५२।५)

अर्थात् वृष्टि की इच्छा से युद्ध करता हुआ इंद्र अपने वज्र से बादलों का ऐसा भेदन करता है, जैसे नपी हुई परिधि को त्रित छेद देता है। यहाँ व्यास को त्रित कहकर परिधि का छेदनेवाला कहा गया है। व्यास परिधि का प्रायः तिहाया होता है, इसीलिए उसे त्रित कहा है। परिधि और व्यास का संबंध $\frac{22}{7}$ है। यदि परिधि २२ होगी तो व्यास ७ होगा ही। परंतु परिधि उपर्युक्त ठीक तिहाया सच्चे व्यास से कुछ अधिक होता है। इसीलिये लिखा है कि त्रित ने परिधि को छेद दिया—वार पार कर दिया अर्थात् ठीक न निकला दूसर त्रित के विषय में लिखा है कि—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु० ॥ (ऋ० १।१०५।१७)

अर्थात् त्रित कुएँ में गिर गया और उसने देवताओं को पुकारा, किंतु उसकी आवाज़ को केवल बृहस्पति (ज्ञानवान्) ने ही सुना और उसे कुएँ से निकाल कर ठीक कर दिया। तात्पर्य यह कि यह भी ठीक न था पर गणितज्ञ ने तीसरे त्रित को $\frac{22}{7}$ करके ठीक कर दिया। रेखागणित के इस सिद्धांत को प्राचीन ग्रंथों में एक कथा के रूप में लिखा गया है जिसका मतलब यही है कि त्रित अर्थात् गोल वस्तु का तिहाया भाग यदि व्यास से कुछ अधिक या कम होता है, तो वह गोल चीज़ को छेद देता है या उसमें समा जाता है। परन्तु पूरा

$\frac{22}{7}$ वाला व्यास न तो छेदता और न समाता है। प्रत्युत घेरे में डटके बैठ जाता है—फिट हो जाता है। यहि तीनों त्रिनों की कथा का सार है और यही वेदों में त्रिकोण तथा क्षेत्रों के सिद्धान्तों का वर्णन है। रेखागणित के ये दोनों सिद्धांत—कोण और वर्तुल—ही विस्तार से ज्यामितिशास्त्र में वर्णित है, इसलिए कह सकते हैं कि वेद रेखागणित के मौलिक सिद्धांतो का उपदेश करते हैं।

जिस प्रकार वेदों में अंक और रेखागणित का उपदेश है, उसी तरह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धांतो का भी उपदेश किया गया है, क्योंकि गणित का विशाल रूप ज्योतिष में ही दिखलाई पड़ता है। व्यापारियों को गणित की ही भाँति ज्योतिष की भी आवश्यकता होती है। नौवक ज्ञान, पदार्थों की उत्पत्ति का ज्ञान और देशदेशान्तर की ऋतुओं का ज्ञान जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वह ज्योतिष से ही जाना जाता है। इसीलिए वेदों में ज्योतिशास्त्र का पर्याप्त वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में ज्योतिष का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, अतएव यहाँ उसे सारांशरुप से ही लिखेंगे। ज्योतिष में सबसे पहिले ग्रहो की स्थिरता का वर्णन आता है। इसीलिए वेद कहते हैं कि—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥ (ऋ० १०।८५।१-२)

अर्थात् पृथिवी निराधार केवल सत्य अर्थात् अपने नियम पर स्थित है, द्यौलोक सूर्य से ऊपर स्थित है और सोमशक्ति से पारहों आदित्य अप पथ में स्थित है। सोमशक्ति से ही सूर्य बलवान् है, उसी से पृथिवी बलवान् है और उसी सोम से समस्त नक्षत्र ठहरे हुए है। इसके आगे सूर्य द्वारा पृथिवी के आकर्षण का वर्णन है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इंद्रे परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥
(ऋ० १।३३।८)

अर्थात् बाँधनेवाली किरणों से सूर्य के द्वारा मणि की तरह पृथिवी अपने मार्ग का उल्लंघन न करती हुई चक्राकार फिरती है। इस मंत्र सूर्य के द्वारा खिंची हुई और घूमती हुई पृथिवी का वर्णन है। इसके आगे चन्द्रमा के नवीन नवीन होने का वर्णन इस प्रकार है—

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चंद्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
(ऋ० १०।८५।१९)

अर्थात् यह चंद्रमा रोज़ नया नया होता हुआ दिखलाई पड़ता है, जो हमें दीर्घजीवन देता है। इस चंद्रमा के विषय में यजुर्वेद १८।४० में लिखा है कि '**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य**' जिस पर निरुक्तकार कहते हैं '**अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति-दीप्सति**' अर्थात् सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रमा में उसका निज का प्रकाश नहीं है, किन्तु वह सूर्य से ही प्रकाशित है। इसके आगे नक्षत्रों का वर्णन इस प्रकार है—

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१॥
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥२॥

(अथर्व० १९।८।१-२)

अर्थात् जिन नक्षत्रों को आकाश के मध्यलोक में, जिनको जल के ऊपर, भूमि के ऊपर, बादलों के ऊपर सब दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है, वे सब मेरे लिए सुखदायक हों। अट्ठाईस नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकारी और सुखदायक हों तथा योगक्षेम अथवा क्षेमयोग को मैं पाऊँ। यहाँ तक वेदमंत्रो के द्वारा पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का वर्णन हुआ। इन्हीं सूर्य, पृथिवी और चंद्रमा तथा नक्षत्रों से ही वर्ष और कालविभाग होता है। इस समस्त विभाग की गणना इस प्रकार की गई है—

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि ।
उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पताम्
मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳसंवत्सरस्ते कल्पताम्० ॥

(यजु० २७।४५)

अर्थात् तू संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और वत्सर है। तूने प्रातःकाल, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और वर्ष को बनाया है। इसके आगे अधिक मास अर्थात लौंद मास का वर्णन इस प्रकार है—

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥

(अथर्व० १३।३।८)

अर्थातू उसके क्रोध से डरो जिसने तीस अहोरात्र और तेरहवाँ महिमा निमार्ण किया है। प्रत्येक वर्ष में लगभग १२ दिन अथवा १२ रात्रि का अन्तर पड़ता है, तभी तीसरे वर्ष में अधिक मास होता है। इन १२ दिनों और १२ रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ (अथर्व० ४।११।११)

अर्थात् ये, बारह रात्रियाँ संवत्सर की यज्ञ के योग्य कही गई हैं। उनमें जो सूर्य का यज्ञ करता है, वही जीवन पहुँचानेवाले वर्ष को जानता है। इन बारह दिनों की बारह रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः ।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ (ऋ० ४।३३।७)

अर्थात् सोती हुई ऋतुएँ आकाश में प्रत्यक्ष आतिथ्य ग्रहण करने को १२ दिन अच्छी तरह ठहरती हैं। इससे नादयों का जल नीचे आता है, औषाधियाँ खेतों में होती हैं और सब प्रकार के सुख होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि १२ दिन साल मे घट बढकर चांद्र और सौर वर्ष बराबर हो जाते हैं, जिससे ऋतुएँ ठीक समय में पानी बरसाती हैं और फल फूल होते हैं। इस घटाव बढ़ाव से चांद्रवर्ष और सायनवर्ष बराबर हो जाता है। सायनवर्ष के १२ मास और प्रत्येक मास के ३० अंगो का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥
(अथर्व० १० ८ ४)

अर्थात् वर्षचक्र के बारह मास पुट्ठि हैं, पूरा वर्ष पहिया है, तीन ऋतुएँ नाभि हैं और तीन सौ साठ दिन काँटे हैं, जो टेढ़े टेढ़े चलते हैं । इसके आगे इस सायनवर्ष के दोनों अयनों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानमुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥
(ऋ० १०।८८।१५)

अर्थात देवयान् और पितृयान दो मार्ग हैं, इन्हीं के द्वारा मोक्ष और आवागमन होता है । इन्हीं को उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं । अथर्ववेद में इनके लिए लिखा है कि 'षडाहुः उष्णान् षडाहुः शीतान्' अर्थात् छ मास गर्मी और छ मास शीत होता है । इसी तरह वेद में अनेक ऋतुओं का वर्णन है । यजुर्वेद २२ ३१ और ७ ३० में छ ऋतुओं के अतिरिक्त एक सातवीं ऋतु 'अंहसस्पतय' का भी नाम आता है और अथर्व० ८ ९।१८ में 'मधूनि-सप्त' तथा 'ऋतवो ह सप्त' का वर्णन भी हुआ है । इसी तरह अथर्व० ८।९।१५ में ऋतवो नु पञ्च कहकर पाँच ऋतुओं का भी वर्णन कहा गया है । छे ऋतुएँ तो प्रसिद्ध हैं ही । इस प्रकार से संसार की अनेक परिस्थितियों के कारण अनेक प्रकार की ऋतुएँ बतलाई गई हैं । इसके आगे राशिचक्र का वर्णन इस प्रकार है—

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त ।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥ (ऋ० १।१२३।८)

अर्थात् यज्ञों की नाभि, धनों का घर, बड़े से बड़े अध्वरों का मार्ग और यज्ञ के पताका वैश्वानर को देवता जानते हैं और उसकी स्तुति करते हैं । भूमि के इस मार्ग में भ्रमण करने के कारण जो रातदिन में अन्तर पड़ता है—घट बढ़ होती है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम ।
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः ॥ (ऋ० १।१२३।८)

अर्थात् आज भी एक समान और कल भी एक समान ही रात मालूम होती है, पर दोनों में महान् भेद होता है और वरुणस्थान में शीघ्रता के कारण एक एक से तीस तीस योजन का फ़र्क़ पड़ जाता है तात्पर्य यह है कि तीस योजन चलने में जितना समय लगता है, उतने ही समय के हिसाब से प्रत्येक रात्रि एक दूसरी से छोटी या बड़ी होती है । इस गणना के अनुसार ही ग्रहण जाने जाते हैं । ऋग्वेद में ग्रहण जानने के लिये यंत्र बनाने का आदेश दिया गया है ।

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ ऋ० ५।४०।६)

अर्थात् चंद्रमा की छाया से जब सूर्यग्रहण होता है, तब उसको तुरीययंत्र से आँख देखती है । इस प्रकार से वेद ज्योतिषज्ञान के खास खास आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन करते

हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य अपनी समुद्रीय यात्रा और अनेक प्रकार के अन्नों की फ़सलें तथा देशदेशान्तर के मौसमों को जान सकता है और व्यापार तथा जीविकासंबंधी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार के समस्त आवश्यक ज्ञानविज्ञानों और कलाओं में ललित कला की भी गणना है। ललित कला में काव्य और संगीत ही प्रधान है। वेदों में काव्य और संगीत का बहुत वर्णन है। अथर्ववेद में काव्य के लिए लिखा है कि '**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**' अर्थात् परमेश्वर का ससाररूपी काव्य पढ़ो जो न कभी पुराना होता है और कभी नष्ट होता है। इसी तरह काव्य और संगीत के लिए ऋग्वेद में लिखा है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ (ऋ० १।१०।१)

अर्थात् हे शतक्रत! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य पूजा करते हैं और ब्राह्मण तुम्हारे वंश का बखान करते हैं। इस मन्त्र में ऐतिहासिक काव्य के गाने का एक साथ ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चारों वेद संहिता में ही वर्णित हैं और सामवेद तो बिलकुल ही गाने के लिए ही रक्खा गया है। वेदों में वीणावादन का भी वर्णन आता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में काव्य और संगीत की शिक्षा प्रचुर परिमाण में है। काव्य और संगीत भी जीवन प्रदान करनेवाले हैं, जीविका में ही उनका भी समावेश है। इस प्रकार से जीविकासम्बन्धी विस्तृत ज्ञान वेदों से प्राप्त होता है और ज्ञात होता है कि वेदमन्त्रों के अनुसार उद्योग करनेवाला समाज धनधान्य से पूर्ण रह सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे सुखी, सदाचारी और सांघेसांद समाज की रक्षा का प्रबन्ध वेदों ने क्या बतलाया है।

समाज और साम्राज्य की रक्षा।

उपर्युक्त आदर्श वैदिक आर्यसमाज का पवित्र चित्र देखकर उसकी रक्षा का प्रश्न सामने आ जाता है और प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि जहाँ जहाँ भय की सम्भावना हो, वहीं वहीं रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। वेदों में रक्षासम्बन्धी अनेकों प्रकार के उपदेश हैं, जो स्थूल रूप से चार भागों में बाँटे जा सकते हैं। बीमारी से रक्षा, प्राकृतिक विघ्नों से रक्षा, समाज के भीतरी दुष्टों से रक्षा और बाहर के शत्रुओं से रक्षा। इन चारों प्रकार की रक्षाओं को आयुर्वेद, यज्ञ, प्रार्थना और राज्यप्रबन्ध के अन्तर्गत रक्खा गया है। इनमें सबसे पहिला आयुर्वेद ज्ञान है। आयुर्वेद दो प्रकार का है—व्यक्ति का और समाज का। व्यक्ति का आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र है और समाज का यज्ञ है। व्यक्तिगत व्याधियाँ वैद्यकशास्त्र से और ऋतुसम्बन्धी या महामारी आदि सामाजिक व्याधियाँ यज्ञों के द्वारा नष्ट होती हैं। वेदों में दोनों प्रकार का ज्ञान दिया गया है। यहाँ हम पहिले वैद्यक ज्ञान का नमूना दिखलाते हैं। वेद में सबसे पहिले जीवन का उपदेश इस प्रकार है—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ (ऋ० १०।१८।४)

अर्थात् मैं मनुष्यों के आयु की मर्यादा १०० वर्ष मुक़र्रर करता हूँ । इससे पहिले इस जीवनधन को न गँवाओ, सौ वर्ष जिओ और अपमृत्यु को पर्वत से दबा दो । इस मन्त्र में अपमृत्यु से बचने का उपदेश है । अपमृत्यु बीमारियों से ही होती है और बीमारियाँ दोषों के ही कोप से होती हैं । इसलिए वेद में दोषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती ।
वाजेवाजे हव्या भूत् । (ऋग्वेद ६।६१।१२)

अर्थात् तीन स्थानों (कफ, वात और पित्त) में ठहरी हुई सात धातुएँ पाँच तत्वों से उत्पन्न होकर बढ़ती हैं और अन्न से पुष्ट होती हैं । इसका तात्पर्य यही है कि पाँचों तत्वों से बने हुए खानेपीने के पदार्थों से ही सातों धातुएँ उत्पन्न होती हैं जो वात, पित्त और कफ में स्थित हैं । इसके आगे हृदय और नाडी आदि के विषय में लिखा है कि—

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः (ऋ० १०।१३५।७)

अर्थात् यह हृदय देवमान—नियमित गति का बतानेवाला—यम का घर है और यही नाडी को धौंकता है । इस मन्त्र में हृदय की चाल का नियमित रूप बतलाकर नाडीज्ञान का उपदेश किया गया है । इसके आगे पथ्याहार का वर्णन इस प्रकार है—

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि ॥ (अथर्व० १८।१।१७)

अर्थात् बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार से निरूपण करने योग्य, अद्भुत गुणवाले, सबके जानने योग्य और आनन्द देनेवाले तीन पदार्थों को बहुत तरह से समझ लिया है । वे तीनों पदार्थ जल, वायु और औषधियाँ हैं, जो संसार को दी गई हैं और हर जगह में मौजूद हैं । यहाँ स्वास्थ्यरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले और हर समय उपयुक्त होनेवाले वायु, जल और अन्नों का वर्णन किया गया है । क्योंकि मनुष्य का स्वास्थ्य इन्हीं के अधीन है । इसके आगे आहार का नियम बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि —

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥
यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥२॥
यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥ (अथर्व० ६।१३५।१-३)

अर्थात् जो कुछ मैं खाता हूँ उसे बल बना देता हूँ, तभी मैं शत्रु के कंधा का तोड़नेवाला वज्र उसी तरह ग्रहण कर सकता हूँ, जैसे वृत्र के लिए इन्द्र अपने वज्र को ग्रहण करता है । इसी तरह जो कुछ पीता हूँ वह भी यथाविधि ही पीता हूँ, जैसे समुद्र यथाविधि पीता है । इसलिए जो कुछ हम पीवें, वह उस पदार्थ के सारभाग को चूसकर पीवें । इसी तरह जो कुछ चबाता हूँ, वह यथाविधि चबाता हूँ जैसे समुद्र चबाकर पचा जाता है, इसलिए पदार्थों के प्राणस्वरूप सार को खूब दांतों से पीसकर चबाना चाहिये । इन मन्त्रों में खूब चबाकर उतना ही खाने की आज्ञा है, जितना पच जावे और बल उत्पन्न करनेवाला

हो। समुद्र के उदाहरण से बतला दिया गया है कि कभी अजीर्ण न होना चाहियें, क्योंकि समुद्र को जल से कभी अजीर्ण नहीं होता। इसके आगे संसार की दोनों ताक़तें—सर्दी और गर्मी—इस प्रकार बतलाई हैं।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवम्॥ (ऋ० १०।९।६)

अर्थात् मुझसे सोम ने कहा कि पानी में सब औषधियाँ हैं और अग्नि सबको आरोग्य देता है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि अग्नि और जल ही अर्थात् सर्दी और गर्मी ही दो दवाएँ हैं। इसीलिए शतपथ–ब्राह्मण १।६।२।८ में लिखा है कि '**अग्निषोमावाभि सम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वेयशः सर्वमन्नाद्यं सर्वां श्रीम्**' अर्थात् संसार में अग्नि और सोम (जल) दो ही पदार्थ हैं, इन्हीं से सब वैद्यविद्या, यश, अन्न और शोभा प्राप्त होती है। इसीलिए वेद में सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी बतलाई गई है। वेद में लिखा है कि—

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥९॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥१०॥ (यजु० २३।९–१०)

अर्थात् कौन अकेला चलता है? कौन बार बार पैदा होता है? सर्दी की दवा क्या है और बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान क्या है? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा बार बार पैदा होता है, अग्नि (गर्मी) सर्दी की दवा है और पृथिवी ही बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान है।

इस मंत्र में सर्दी की दवा गर्मी बतलाई गई है, परन्तु अर्थापत्ति से यह बतला दिया गया है कि गर्मी की दवा सर्दी है। इसके आगे समस्त शरीर के भीतरी बाहरी अंगों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥१॥
कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत॥२॥
चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥३॥
कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन्॥४॥
को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्यादधौ॥५॥
कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्॥६॥
हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमाधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत॥७॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥
(अथर्व० १०।२।१-८)

अर्थात् किसने पैर की दोनों एड़ियों में मांस भरकर पुष्ट किया ? किसने मांस जोड़ा ? किसने दोनों टखने जोड़े, किसने उँगलियों के जोड़ों, को जोड़ा, किसने नख और किसने पाँव के दोनों तलवों को जोड़ा है ? किसने पैर के नीचे के दोनों टखने, उपर के दोनों घुटने, दोनों टाँगें और दोनों घुटनों के भीतर दोनों जोड़ों को जोड़ा है ? किसने दोनों कूलों और जाँघों को चार प्रकार से सटी हुई नोकों के ऊपर इस ढीले धड़ को जोड़ा है ? किसने मनुष्य की छाती और गले को मिलाया, किसने दोनों स्तनों को बनाया, और किसने दोनों गालों, कन्धों और पसलियों को एकत्र किया ? किसने इन वीरकर्म करनेवाले भुजाओं को पुष्ट किया है और कन्धों के साथ मिलाया है ? किसने शिर में दो आँखें, दो कान, दो नासाछिद्र और एक मुख को बनाकर सात गोलकों में जोड़ा, जिसके सहारे द्विपद और चतुष्पाद प्राणी अपना अपना कार्यनिर्वाह करते हैं ? किसने दोनों जबड़ों के बीच में बहुतसी बोलनेवाली जिह्वा को जोड़ा है ? किसने इस मस्तिष्क, ललाट, शिर के पिछले भाग और कपाल को दोनों जबड़ों के साथ मिलाया है ? यहाँ तक इन मंत्रों में मनुष्य के पैर से लेकर शिरपर्यंत समस्त आवश्यक अङ्गों का वर्णन है । इसी प्रकार का शारीरिक वर्णन वेद के और भी कई स्थलों में आया है, जिससे प्रतीत होता है । कि वेद में शरीर के अवयवों का वर्णन है । इसीलिए सुश्रुत शरीरस्थान ५।१८ में लिखा है कि 'त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते' अर्थात् वैदिक लोग शरीर की हड्डियों की संख्या तीन सौ साठ बतलाते हैं । इससे प्रकट होता है कि वेद में शरीर का पूरा वर्णन है । क्योंकि शरीर के अन्तर्भाग ही में तो वैदिक लोग जीव और ब्रह्म को भी ढूँढ निकालते थे । इसी शरीरप्रकरण के आगे लिखा है कि—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टाः३ सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
(अथर्व० १०।२।२६-३२)

अर्थात् परमेश्वर ने मस्तिष्क को हृदय के साथ सी दिया है, जो अग्निविशे के द्वारा शरीर को प्रेरित करता है। यह शिर देवकोश है। इसी में सब ज्ञानविज्ञान निवास करता है। इसका प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। परमात्मा ही इन उलटे, आड़े और साधे शरीरों को अपनी व्यापकता से बनाता है। इसलिए जो इस पुररूपी शरीर को जानता है, वही पुरुष कहलाता है। जो उस अमृत ब्रह्म से शरीरपुर को जानता है, वही वेद को, परमात्मा को, स्वास्थ्य को, बल को और सन्तति को प्राप्त होता है। उस मनुष्य के, बुढ़ापे के पूर्व, न नेत्र खराब होते हैं और न बल ही कम होता है, जो इस ब्रह्मपुर—शरीर—को अच्छी तरह समझता है। इस आठ चक्र और नव द्वारवाले अयोध्यानगर में प्रकाशमान कोश है, जो स्वर्गीय ज्योति से छाया हुआ है। उस तिहरे और तीन ओर से रक्षित कोश में जो आत्मा की भाँति महान् यक्ष बैठा है, उसी को ब्रह्म के ढूंढनेवाले प्राप्त करते हैं। इन मन्त्रों में शिर को विज्ञान का कोश बतलाकर और हृदय के साथ सिया हुआ कहकर बतला दिया कि शरीर के हृदयाकाश में ही वह, ज्योतिस्वरूप परमात्मा विराजमान है, जिसको ब्रह्मज्ञानी ही ढूंढ पाते हैं। इस प्रकार शरीर, मस्तिष्क और हृदय के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों का वर्णन करके अब वैद्य का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ (ऋ० १०।९७।६)

अर्थात् राजसभा में जिस प्रकार सभासद् एकत्रित होते हैं, उसी तरह जिसके पास ओषधियाँ एकत्रित रहती हैं, उसको विद्वान् लोग रोगों को दूर करनेवाला और अपमृत्यु का नाश करनेवाला—वैद्य—कहते हैं ! वैद्य के पास इकट्ठी रहनेवाली सैकड़ों ओषधियों का वर्णन वेदों में है। यहाँ नमूने के लिए दातौन का वर्णन करते हैं ! वेद में अपामार्ग—लटजीरा—के लिए लिखा है कि—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ (अथर्व० ४।१७।६)

अर्थात् क्षुधा मारनेवाले, तृषा मारनेवाले, निर्धनता और निर्वंशता दूर करनेवाले हे अपमार्ग (लटजीरा) ! तुझे हम तलाश करते हैं। इस मंत्र के द्वारा लटजीरा में उपर्युक्त गुण बतलाये गये हैं। इसके आगे पिप्पली के गुण इस प्रकार लिखे हैं—

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी ।
ता देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ (अथर्व० ६।१०९।१)

अर्थात् विद्वानों ने पिप्पली को उन्मत्त की औषधि, बड़े घाववाले की दवा और जीवन देनेवाली माना है। पीपल के गुण इसी प्रकार वैद्यक में भी लिखे हैं। इसके आगे बालों को बढ़ाने, श्याम रखने और दृढ करने की औषधि का वर्णन इस प्रकार है—

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ (अथर्व० ६।१३७।३)

अर्थात् हे औषधि ! तू बालों की जड़ों को दृढ कर, नोक को बढ़ा और मध्यभाग को लम्बा

कर जिससे केश काले होकर लम्बी घास के समान बढ़ें। औषधियों के अतिरिक्त वायुसेवन के द्वारा रोगनिवृत्ति करने का उपदेश इस प्रकार है—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥४॥
(ऋ० १०।१६८।४)

अर्थात् देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायुदेव अपनी इच्छा से चलता है। इसका केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप नहीं दिखता। उस वायु के लिए हम हविष देते हैं।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥ (ऋ० १०।१८६।३)

अर्थात् हे वायु! आपके घर में जो अमृत का रखना है, वह हमें जीने के लिए दीजिये!

वात आ वात भेषजं शम्भु मयोभुनो हृदे।
प्र ण आँयूषि तारिषत् (ऋ० १०।१८६।१)

अर्थात् वायु आरोग्यता के लिए औषधि है। उससे हृदय की आरोग्यता बढ़ती है, बल प्राप्त होता है और आयु बढती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥ (ऋ० १०।१८६ २)

अर्थात् हे वात! तू हमारा पिता है, हमारा भाई है और हमारा सखा है, अतः तू हमको जीवन के लिए तैयार कर। इस आगे जल के द्वारा आरोग्य प्राप्त करने का उपदेश इस प्रकार है—

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् अपामुत प्रशस्तिभिः।
अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ (अथर्व० १।४।४)

अर्थात् जल में अमृत है और जल में औषधि है, इसीलिए जल के इन श्रेष्ठ गुणों से गौ, बैल और घोड़े बलवान् होते हैं। जिस तरह जल से आरोग्यता होती है, उसी तरह सूर्यताप से भी आरोग्यता होती है। एक मंत्र में वेद उपदेश करते हैं कि—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ (ऋ० १।५०।११)

अर्थात् आज और नित्य प्रातःकाल आनेवाले हे सूर्य! मेरे हृदय के रोगों का और रात के समय चोरी करनेवालों का नाश करो। इसका तात्पर्य यही है कि सूर्य देवता उदय होकर हृदयरोग और चोर दोनों का नाश करते हैं। इसके आगे शल्यकर्म (शर्जरी) का उपदेश इस प्रकार है—

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ (अथर्व० ४।६।५)

अर्थात् शल्यकर्म से, लेप से पर से सींग से (सींगी से चूसकर), चाकू से और बाण से विष निकालता हूँ। इस मंत्र में चीर फाड़, पोल्टिस, सींगी और बाण की नौक से मवाद

निकालने का उपदेश है। इसके आगे रुके हुए पेशाब को खोलने के लिए इस तरह कहा गया है कि—

> विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
> तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥
> (अथर्व० १।३।१)

अर्थात् हम जानते हैं कि वृष्टि की अधिकता से सरकंडा होता है। उस सरकंडे से तेरे शरीर को आरोग्य करता हूँ। अब तेरे मूत्र का प्रवाह पृथिवी पर हो और बलबलाकर बाहर निकल। इसके आगे टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने का उपदेश इस प्रकार है—

> य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः॥४६॥
> संधाता सधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहृतं पुनः॥४७॥
> (अथर्व० १४।२)

अर्थात् जो वैद्य टकराने से टूटी हुई ग्रीवा आदि जोड़ों की हड्डियों को यथास्थान चिपका कर जोड़ता है, वही टेढ़े और अकड़े हुए अङ्ग को सीधा कर देते हैं। इस मंत्र में बतलाया गया कि टकराने आदि से टूटी हुई हड्डियों को ठीक ठीक बाँधकर जोड़नेवाला ही टेढ़े अंगों को भी ठीक कर सकता है। इसके आगे विना दवादारू के केवल रोगी के मन को उत्तेजना, उत्साह और प्रेरणा (Suggestion) देकर रोगों को निर्मूल करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

> अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि।
> यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते॥ (ऋ० १०।१६३।६)

अर्थात् मैं अपने आत्मबल से अङ्ग–अङ्ग, रोम–रोम, जोड़–जोड़ से यक्ष्मारोग को निकाल बाहर करता हूँ। इस प्रेरणा को आकर्षणशक्ति के साथ किस प्रकार करना चाहिये, उस क्रिया का उपदेश इस प्रकार किया गया है—

> अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
> अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥६॥
> हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
> अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥७॥
> (अथर्व० ४।१३।६–७)

अर्थात् मेरा यह हाथ प्रभावशाली है, मेरा यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगों की दवा है और मेरे इस हाथ के स्पर्श से आरोग्यता होती है। मैं प्रेरणात्मक वाणी और दशशाखा (अंगुली) वाले तथा आरोग्य देनेवाले दोनों हाथों से तुझे स्पर्श करता हूँ। इन मन्त्रों में पास के द्वारा प्रेरणात्मक वाणी से रोगी को आरोग्य करने का उपदेश है। इसके आगे वाजीकरण औषधियों का वर्णन इस प्रकार है—

> यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः।
> एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥ (अथर्व० ६।१३९।५)

अर्थात् जैसे नेवला साँप को चीथकर फिर जख्मों को भर देता है, वैसे ही मैं गुप्तेन्द्रिय की क्षीणता को ठीक करता हूँ।

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ (अथर्व० ६।१०१।२)
यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् वर्धतां पस ॥२॥
यावदङ्गीनं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥
(अथर्व० ६।७२।२–३)

अर्थात् जिससे कृश रहता है और जलदी पात हो जाता है, उस कारण को दूर करके तेरे उपस्थ को धनुष की तरह फैलाता हूँ। जिस तरह से वह स्थूल हो जाय और जितना आवश्यक है, उतना बढ जाय, वह उपाय करता हूँ। जितना समर्थ पुरुषों का होना चाहिये, उतना (गार्दभ), बड़ा (हास्तिन) स्थूल और (वाजिन) तेज हो जाय, वह उपाय करता हूँ।

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ (अथर्व० ४।४।१)

अर्थात् जिस औषधि को मृत वरुण के लिए गन्धर्व ने खोदा था, उसी वाजीकरण औषधि को मैं खोदता हूँ। इस प्रकार से इन वाजीकरण उपचारों के द्वारा नपुंसकत्वादि दोषों को दूरकर पुरुषों को अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के योग्य बनाना वेद का तात्पर्य है। इसीलिए यह चिकित्सा सब चिकित्साओं से अधिक मूल्यवान् है। क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य प्रजानिर्माण का कार्य सम्पादन होता है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक वेदों से आयुर्वेदसम्बन्धी आवश्यक उपदेशों को इकट्ठा कर दिया है। इतने आयुर्वेदिक ज्ञान से मनुष्य आरोग्यता के नियम समझ सकता है और रोगों से आरोग्यता प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तिचिकित्सा का उपदेश हुआ। अब समाजचिकित्सा का वर्णन करते हैं।

व्यक्तिव्याधियों की आयुर्वेदिक चिकित्सा के बाद वेद में सामाजिक व्याधियों की निवृत्ति का भी उपदेश किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि बहुत सी चेपी व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो आयुर्वेदिक चिकित्सा से दूर नहीं होतीं और सर्वत्र फैलकर असंख्य मनुष्यों का संहार कर देती हैं। उनके दूर करने का उपाय केवल यज्ञ ही है। हम यज्ञों का विस्तृत वर्णन प्रथम खण्ड में कर आये हैं और बतला आये हैं कि यज्ञों का सिद्धांत शिल्प और विज्ञान की नीव पर स्थिर है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड में यज्ञों के लिए नाना प्रकार के शिल्पों और विज्ञानों की आवश्यकता बतलाई गई है ×। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि ऋतु-

× ततोऽब्रवीद् द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् ।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥
कर्मान्तिकान् शिल्पकारान्वर्धकीन् खनकान ।
गणकान् शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥
तथा शुचीन् शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् ।
यज्ञकर्मसमीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥
इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति ।
उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ (वाल्मीकि० बालकाण्ड)

सम्बन्धिनी सार्वजनीन बीमारियाँ यज्ञों से ही दूर होती हैं *। वेद स्वयं उपदेश करते हैं कि अज्ञात और सर्वत्र फैली हुई चेपी और मारक बीमारियाँ यज्ञों से दूर हो जाती हैं। अथर्ववेद में आया है कि—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥

(अथर्व० ३।११।१)

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥

(अथर्व० ३।११।३)

अर्थात् हे मनुष्य! तुझे मैं हवन के द्वारा अज्ञात महामारी रोग से और क्षयरोग से सुखमय जीवन के लिए छुड़ाता हूँ। इस रोगी को अध्याय रोग ने पकड़ रक्खा है, इसलिए हे इंद्र और अग्नि! आप इसे आरोग्य करें। मैंने इस हवनीय हविष को सैंकड़ों गुणदायक और आयु बढ़ानेवाली औषधियों को डालकर तैयार किया है, इसलिए हे यज्ञपति इंद्र! आप इस संसार में फैले हुए रोग को हटाकर इस बीमार को सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

इन मन्त्रों में अनेकों औषधियों का हवन करके अज्ञात और सर्वत्र फैले हुए चेपी और मारक रोगों को हटाने का उपदेश है। ऐसे यज्ञों का माहात्म्य वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजा पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

(अथर्व० १९।६३।१)

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते! उठो और यज्ञों से देवताओं को जगा दो, जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति और राजा की उन्नति हो। यज्ञ का इस प्रकार माहात्म्य बताकर यज्ञ में सबसे प्रधान वस्तु अग्नि का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥

(यजु० १२।१८)

अर्थात् पहिला अग्नि—सूर्य—द्यौ से पैदा हुआ, दूसरा जातवेद हमसे (पृथिवी पर) पैदा हुआ और तीसरा (विद्युत्) अन्तरिक्ष के जलों से पैदा हुआ। इस मंत्र में अग्नि के तीन रूप तीन स्थानों में बतलाये गये है। इसके आगे अग्नि को देवताओं तक हुत द्रव्यों के पहुँचानेवाला दूत कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे।
देवाँ २ आ सादयादिह॥ (यजु० २२।१७)

अर्थात् पूर्व ही अग्निदूत को धारण किया गया है और यह हव्य पदार्थों का ढोनेवाला कहा गया है। यह देवता तक पदार्थों को पहुँचाता है, अतः यज्ञ के लिए इस अग्नि की स्थापना इस प्रकार बतलाई गई है कि—

---

* भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। (शतपथ ब्रा०)

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

(यजु० ३।५)

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में स्थित महान् सूर्य इस विस्तृत पृथिवी के ऊपर देवयज्ञ कर रहा है, उसी प्रकार भोज्य पदार्थों के लिए मैं भी इस अग्नि की स्थापना करता हूँ । इसके आगे अग्नि को तदीप्त करने के लिए लिखा है कि—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

(यजु० १५ ५४)

अर्थात् हे अग्नि ! तू प्रदीप्त हो और हमको सतेज कर तथा तू और हम मिलकर इष्ट सुख की युक्ति और प्राप्ति करें, जिससे यहाँ हम और अन्य यजमान तथा दूसरे विद्वान् भी यज्ञ किया करें । इसके आगे समिधा में घी डालने की विधि बतलाते हैं ।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ (यजु० १२।३०)

अर्थात् समिधा से अग्नि प्रदीप्त करो, घृतादि से उसे प्रज्वलित करो और उस प्रदीप्त हुए अग्नि में हवन करो । इसके आगे यह बतलाते हैं कि हवन किये गये पदार्थ किस प्रकार वायु की मलिनता को दूर करते हैं ।

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य (यजु० ३।३)

हे अंगारो ! बढ़ी हुई अग्निओ ! तुम सब पदार्थों को (विष्ठ्य) छेदन-भेदन करके (बृहत्-शोचः) महान् शुद्धि करनेवाले हो । इसीलिए समिधाओं और घृत से हम तुम्हें बढ़ाते हैं । इन मन्त्रों में अग्नि को जलाने, प्रदीप्त करने और उसके द्वारा पदार्थों के छेदन-भेदन की क्रिया को बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि यह अग्नि वायु को हुत पदार्थ देता है । ऋग्वेद में लिखा है कि—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथा वशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १०।१६८।३)

अर्थात् देवताओं का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायु अपनी इच्छा से चलता है । यद्यपि इसका शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप देखने को नहीं मिलता, तथापि हम उसके लिए हविष देते हैं ।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ (यजु० ८।२१)

अर्थात् हे हमारे मन के पति ! इस यज्ञको सुहुत बनाकार हुत द्रव्यों को वायु पर स्थापित करो और मार्ग की खोज लगानेवाने हुत द्रव्यों से कहो कि वे अपने मार्ग से जायँ । इस मंत्र में यज्ञ के हुत पदार्थों को वायु में जाने देने का उपदेश किया गया है । इसके आगे यज्ञ में किन किन पदार्थों की आहुतियाँ देनी चाहिए, वह बतलाते हैं—

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् इन्द्र ।
प्रातर्जुषस्व नः (ऋग्वेद ३।५२।१)

अर्थात् हमारे धनवाले, दधिदूधवाले, मालपुएवाले और स्तोत्रवाले ढेरों को हे इंद्र! प्रात:काल के समय सेवन कीजिए।

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय धानाः ।
अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ॥
(ऋ० ३।५२।७)

अर्थात् हे वृत्र के मारनेवाले विद्वान् शूर! तेरी पोषण करनेवाली किरणों के लिए हमने जो दिया है, उस दूध, दधि, धान और मालपुवा आदि को खा तथा मरुतों के साथ सोम को पी। इसके आगे हवन किए हुए पदार्थों के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि जो धन यज्ञ में लगाया जाता है, वही सुकृत होता है। क्योंकि—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ (ऋ० ६।२८।३)

अर्थात् जो देवों को दिया जाता है और जिससे यज्ञ किया जाता है, उसका न नाश होता है, न उसे चोर चुरा सकते हैं, न उसका कोई शत्रु होता है और न उस पर कोई आफ़त डाल सकता है। उसके द्वारा यजमान सदैव ही गोपति के साथ रहता है, अर्थात् वह धनवान बना रहता है। सत्य है, ऐसे सार्वजनिक पुण्यकार्य में धन खर्च करने से ही धन का सदुपयोग कहा जा सकता है। धन के सदुपयोग से अधिक धन की वृद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार से यज्ञों के द्वारा सार्वजनिक बीमारियों से रक्षा पाने की युक्ति बतलाकर अब प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का जो उपाय वेदों ने बतलाया है, उसका वर्णन करते हैं।

वैद्यक और यज्ञों के द्वारा व्यक्तिगत व्याधि और समाजगत चेपी रोगों की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विप्लवों से—भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर और वज्रपात आदि से—रक्षा नहीं हो सकती। इन उत्पातों से रक्षा करनेवाला परमात्मा ही है। इसलिए ऐसे समयों में परमात्मा की प्रार्थना करने का ही वेद में उपदेश है। यहाँ हम ऐसी प्रार्थनाओं के कुछ नमूने लिखते हैं, जो इस प्रकार है—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥ (यजुर्वेद १३।२७–२९)

अर्थात् हे परमात्मन्! संसार में वायु मधुर होकर बहे, नदियाँ मधुर होकर बहें, औषधियाँ मधुर होकर उगें। रात मधुर हो, प्रभात मधुर हो, पृथिवी मधुर हो और हमारा द्यौ पिता मधुर हो। वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो और गौवें मधुर हों। इसके आगे फिर प्रार्थना है कि—

यतो–यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ (यजु० ३६।२२)

अर्थात् जहाँ जहाँ हमारे लिए जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो, वहाँ वहाँ हमें हर प्रकार से अभय करिये तथा प्रजा और पशुओं की ओर से भी हमें सुखी और अभय कीजिये ।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चदभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥५॥
अभयं मित्रादभयमित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥६॥
(अथर्व० १९।१५।५–६)

अर्थात् हमें अन्तरिक्ष अभय करे, द्यावा तथा पृथिवी हमें अभय करें और नीचे–ऊपर तथा आगे–पीछे से भी हमें अभय प्राप्त हो । मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो । जाने हुए से अभय हो और अज्ञात से अभय हो । रात से अभय हो और दिन से अभय हो । अर्थात् हमारी समस्त आशाएँ वा दिशाएँ अभय हों । इसके आगे संसार की समस्त जड शक्तियों के कल्याणकारी और शांत होने की अभिलाषा की गई है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि—

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥९॥
शन्नो वातः पवताᳬ शन्नस्तपतु सूर्यः ।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥१०॥
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम् ।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शन्न इंद्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥११॥
शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१२॥
स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥१३॥
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१४॥
द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬ शांतिः पृथिवी शांतिरापः शांतिरोषधयः शांतिः ।
वनस्पतयः शांतिर्विश्वे देवाः शांतिर्ब्रह्म शांतिः सर्वᳬ शांतिः
शांतिरेव शांतिः सा मा शांतिरेधि ॥१७॥ (यजुर्वेद अध्याय ३६)

अर्थात् मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और उरुक्रम आदि देवता हमारा कल्याण करें । वायु की चाल कल्याणदायक हो, सूर्य का ताप कल्याणदायक हो, और शब्द करते हुए पर्जन्यदेव की वर्षा भी कल्याणकारी हो । दिन कल्याणकारी हो, रात्रि कल्याणकारिणी हो और इन्द्र, अग्नि तथा वरुण आदि देवता भी कल्याणकारी हों । पीने का जल कल्याणकारी हो और वर्षा का जल भी कल्याणकारी हो । पृथिवी हमारे लिए कंटकरहित और उत्तम बसने योग्य हो । पानी हमारे लिये सुखकारी हो, उसे हम बल के लिए धारण करें और प्राअतिक युद्धों में हमारी विजय हो । द्योलोक शांत हो, अन्तरिक्ष शान्त

हो, पृथिवी शान्त हो, जल शांत हो, औषधियाँ शांत हों, वनस्पतियाँ शांत हों, संसार की समस्त शक्तियाँ शांत हों, ज्ञान शांत हो, सब कुछ शांत हो, शांति भी शांत हो और वह शांत शांति यावज्जीवन बनी रहे। इस प्रकार से जिस समय समस्त जनसमूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति के द्वारा प्रार्थनापूर्वक प्रेरणा होती है, उस समय ईश्वर की इच्छा से बड़ी बड़ी प्राकृतिक शक्तियों में भी असर हो जाता है और विघ्न शांत हो जाते हैं ×।

यहाँ तक वैयक्तिक व्याधि, सामाजिक व्याधि और प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाकर अब वेद मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किए गए विघ्नों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। मनुष्यों द्वारा जो उत्पात होते हैं, उनके दो विभाग हैं। पहिला उत्पात सामाजिक है। यह ईर्षा, द्वेष, आलस्य, मूर्खता और विलासिता से उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के पाप कराता है। दूसरा बाह्य शत्रुओं के द्वारा उत्पन्न होता है, जो नाना प्रकार के कष्ट देता है। वेदों में इन दोनों से बचने के लिये राज्यव्यवस्था का उत्तम उपदेश किया गया है।

राज्यव्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्श रूप होता है। समाज की रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकार की है। भीतरी रक्षा समाज के दुष्टों से की जाती है और बाहरी रक्षा बाहर के शत्रुओं से। जिस समाज की इस प्रकार रक्षा होती है, वह बड़ा ही दिव्य होता है। वेद में ऐसे दिव्य समाज की कामना का वर्णन इस प्रकार है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो
न ओषधयः पच्यंतां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजु० २२।२२)

अर्थात्—

हे जगदीश दयालु ब्रह्म प्रभु! सुनिये विनय हमारी।
हों ब्राह्मण उत्पन्न देश में धर्मकर्मव्रतधारी॥
क्षत्रिय हों रणधीर महारथ धनुर्वेद अधिकारी।
धेनु दूधवाली हों सुंदर वृषभ तुंग बलधारी॥

× ये प्राकृतिक विप्लव जीवों के सामुदायिक पापों के कारण अज्ञात शक्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसलिए सिवा परमात्मा की प्रार्थना के इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है। प्रार्थना का मतलब उपाय और उद्योग है, किन्तु यहाँ प्रार्थना ही उपाय और उद्योग है। क्योंकि सामूहिक प्रार्थना का—जन समूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति का—भी बड़ा असर होता है।

हों तुरंग गतिचपल अङ्गना हों स्वरूपगुणवाली ।
विजयी रथी पुत्र जनपद के रत्न तेजबशाली ॥
जब ही जब जग करे कामना जलधर जल बरसावें ।
फलें पकें बहु सुखद वनस्पति योगक्षेम सब पावें ॥ पूर्ण

परन्तु ये बातें तभी हो सकती हैं, जब शासन अच्छे राजतन्त्र के द्वारा हो । अच्छा राजतन्त्र तभी हो सकता है, जब राजा प्रजाद्वारा मनोनीत हो । प्रजा के द्वारा ऐसे राजा को चुनने के लिए उपदेश करते हैं कि—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवास्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छंतु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतेवाचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारयः ॥१॥　(ऋग्वेद १०।१७३)

अर्थात् हे महापुरुष ! हम तुझको लाये हैं, इसलिए अन्दर आ और चञ्चल न होकर स्थिर रह, जिससे तुझे समस्त प्रजा चाहती रहे और तुझसे राष्ट्र का कभी पतन न हो । यहाँ आकर पर्वत के समान स्थिर होकर ठहर जा और इन्द्र के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण कर, जिससे कभी राष्ट्र का पतन न हो । इन मन्त्रों में प्रजा के द्वारा राजा के मनोनीत करने की आज्ञा है । आगे वेद उपदेश करते हैं कि किस प्रकार के पुरुष को राजा बनाना चाहिये ! अथर्ववेद में लिखा है कि—

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥
(अथर्व० ४।८।१)

अर्थात् वही सब प्राणियों का अधिपति होने योग्य है, जो समस्त संसार का दुग्धादि अन्नों से अच्छी तरह पोषण करता है । उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है, इसलिए वही राजा होकर इस राज्य को अङ्गीकार करे । इस मंत्र में बतलाया गया है कि जो महापुरुष प्रजापालन के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर हो, वही राजा होने योग्य है । ऐसे राजा को पाकर प्रजा को चाहिये कि वह उसे खूब बलवान् बनावे । इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ (अथर्व० ४।२२।१)

अर्थात् हे इन्द्र ! तू हमारे इस क्षत्रिय को बलवान् बना, इसी एक को सब प्रजाओं का नेता कर, इसके शत्रुओं को दूर कर और उनका सदैव नाश किया कर । इस मंत्र के द्वारा वेदों ने प्रजा की ओर से राजा को बलवान् बनाने की आज्ञा दी है । अब अगले मंत्र में प्रजा को आश्वासन देने के लिए राजा को आज्ञा दी गई है ! राजा कहता है कि—

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि
पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥ (यजुर्वेद २०।१०)

अर्थात् मैं क्षत्र में, राष्ट्र में, घोड़ों में, गौवों में, अङ्गों में, चित्तों में, प्राणों में, पुष्टि में, द्यौ में, पृथिवी में और यज्ञ में प्रतिष्ठावाला होऊँ। इस मंत्र में राजा ने बतला दिया है कि मैं ऐसे काम करूँगा, जिससे मेरी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। अब अगले मंत्रों में बतलाया जाता है कि राज्य का उत्तम काम चलाने के लिए राजपुरुषों और राजपुरुषों की सभाओं की आयोजना होनी चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥
(अथर्व० ७।१२।१)
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ अथर्व० ७ १२।२)
यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात्प्र मुंचति दत्तः शितिपात् स्वधा॥१॥
सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति॥२॥ (अथर्व० ३।२९।१-२)

अर्थात् राजा की सभा और समितिरूपी दो लड़कियाँ मेरी रक्षा करें। ये दोनों आपस में मेल रखनेवाली हों, जिससे मैं जिस सभासद के साथ मिलूँ, वह मुझे ज्ञान देवे, अतः हे सभासदों! आप लोग संगतों और सभाओं में ठीक ठीक बोलिए। हे सभा! हम तेरा नाम जानते हैं, अतः जो तेरे सभासद हैं, वे मेरे साथ सत्य वचन बोलनेवाले हों। राष्ट्रपति के जो बड़े बड़े राजे (प्रान्तिक सरकार) सभासद हैं, वे इष्टापूर्त का सोलहवाँ भाग केन्द्रिय सरकार को बाँट देते हैं। वह बाँटा हुआ धन उनका रक्षक होता है, उन्हें हानि से बचाता है और आत्मनिर्णय के लिए बल देता है। यह दिया हुआ कर रक्षक बनकर हानियों से बचाता है और सङ्कल्पों को पूर्ण करता हुआ सब कामनाओं को विजयी, प्रभावशाली और वृद्धियुक्त करके पूर्ण करता है। इन मंत्रों में राजसभा और सभासदों का कर्तव्य वर्णन करके अब अगले मंत्रों में वेद आज्ञा देते हैं कि राष्ट्र को चाहिये कि वह सबसे पहिले अपने अन्तर्गत घुसे हुए दुष्ट मनुष्यों को ढूँढ़े, जाने और उनको न्यायद्वारा दण्ड से शिक्षा दे। ऋग्वेद में लिखा है कि—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥
(ऋ० १।५१।८)
वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ (ऋ० १।३३।४)
इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आनमन्ति।
इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अनरुषे दधन्ति (ऋ० ७।५६।१९)
अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ (ऋ० ८।७०।११)

तांविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥ (ऋ० ७।९४।१२)

अर्थात् हे राजन् ! आप उत्तम गुणवाले आर्यों को जानो और धर्म की रक्षा के लिए अव्रती दस्युओं (डाकुओं) को शासित करो और मारो, जिससे आपके राज्य में धर्म के कार्य न बिगड़ें । हे राजन् ! आप एक ही झपट से धनुष्य बाण के द्वारा ठग और यज्ञ न करनेवाले धनी दुष्टों को मार डालें । जो गुरु से द्वेष करनेवाले हैं और हवा की भाँति जल्दी से साहस के साथ वज्र को दिखलाते हैं तथा लोगों के सामने व्यर्थ की बड़ाई हाँकते हैं और जो नास्तिक हैं, पशुस्वभाववाले हैं और यज्ञ न करनेवाले हैं, उनको पहाड़ों में कैद कर दीजिए । जो बुरा भाषण करनेवाले हैं, जो दुष्ट ज्ञान धारण करनेवाले हैं, जो अपने रमण (भोग) के लिए दूसरों का क्षय करनेवाले हैं और जो सब प्रकार से अपने ही भोगों की फ़िक्र में रहनेवाले दुष्ट दुर्जन हैं, उसका विचार करके अवश्य हनन कीजिए । इस प्रकार से इन मंत्रों में आर्यों और दस्युओं अर्थात् भले और बुरे को जानकर दुष्टों को विचारपूर्वक शासित करने का उपदेश है । इसी तरह दुष्ट स्वभाववाले अन्य दुराचारियों को भी दण्ड देने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ (अथर्व० ५।१४।६)

अर्थात् चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, जिसने पाप का कृत्य किया हो, उसको पशु की तरह बाँधकर वैसे ही ले जाना चाहिये, जैसे घोड़ा बागों से खींचा जाता है ।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये ।
योनिं यो अन्तरारेलिह तमितो नाशयामसि ॥१४॥
यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१५॥
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१६॥
(अथर्व० २०।९६।१४-१६)

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ (अथर्व० ८।६।२३)

अर्थात् दंपति के बीच सो कर जो तेरी जंघाओं का फैलाता है और जो तेरी योनि को भीतर से खींचता है, उसका हम नाश करते हैं । जो कोई भाई व्यभिचारी बनकर अथवा पति बनकर तेरे पास आ जावे और तेरी संतान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं । जो कोई सोते हुए नशा खिलाकर अँधेरे में तेरे पास आ जावे और तेरी संतान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं । जो कच्चे अर्थात् ज़िन्दा पशुओं के मांस को, जो मनुष्यों के मांस को और जो गर्भों (अंडों) को खाते हैं, उनका हम नाश करते हैं । इस प्रकार शासन के द्वारा पहिले समाज का संशोधन करके भले आदमियों को दुष्टों के पीड़न से बचाना चाहिए । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि दुष्टों का सुधार केवल कठोर शासन से ही नहीं हो जाता । इसलिए राज्य में ज्ञान, विद्या, सभ्यता, सदाचार और आस्तिकता का

भी प्रचार करना आवश्यक है । यह काम ब्राह्मणों से ही हो सकता है, अतः राजा को चाहिये कि यह ब्राह्मणों, विद्वानों और सदाचारी पुरुषों का आदर बढावे । इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥९॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥१०॥
पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥११॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्त्या ॥१२॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१३॥
नास्यक्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१४॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१५॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिषम् । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१६॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१७॥
नास्य धेनुः कल्याणी नाड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥ (अथर्व० ५।१७।९–१८)

अर्थात् मनुष्यसमाज का ब्राह्मण ही अधिपति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं । जिस तरह सूर्य पाँचों ग्रहों को आज्ञा करता हुआ चलाता है, उसी तरह विद्याबल से सबको ब्राह्मण ही चलाता है । इस विद्या को देवताओं ने पहिले ब्राह्मणों को दिया, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को और क्षत्रियों ने दूसरों को दिया । इस प्रकार से विद्या को सबमें बाँटकर ही मनुष्य बल और कीर्ति को प्राप्त होते हैं । जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ वह सैकड़ों धाराओं से बहकर और कल्याणकारी होकर प्रतिष्ठित नहीं होती । जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ बहुश्रुत और बड़े दिमाग का कोई मनुष्य पैदा नहीं होता । जिसके राज्य में विद्या का प्रचार बन्द है, ऐसे राजा का अलंकृत नौकर भी ऐश्वर्यवाले पुरुषों के सम्मुख नहीं जा सकता । जिस राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रोका जाता है, वहाँ श्यामकर्ण घोड़ा भी रथ में जुड़कर बड़ाई नहीं प्राप्त कर सकता । जहाँ विद्या का प्रचार नहीं होता, वहाँ न खेतों में पुष्करिणी होती है और न पृथिवी में कुछ पैदा ही होता है । पृथिवी की उपज खानेवाले वे किसान जिनमें विद्या का लेश नहीं है, भूमि म अधिक अन्न नहीं पैदा कर सकते । जहाँ ब्राह्मण रात्रि को भूखा सोता है, वहाँ न गौओं के दूध होता है और न बैल गाड़ी खींच सकते हैं । अर्थात् जहाँ ब्राह्मण और विद्या का निरादर होता है, वहाँ हर प्रकार से सर्वनाश हो जाता है ।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥११॥ (अथर्व० ५।१९।११

अर्थात् सौ में निन्यानबे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है, जिन्होंने ज्ञानियों को सताया है । इस विषय में अथर्ववेद १२।५।७–११ में लिखा है कि—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥८॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥९॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥१०॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥११॥

अर्थात् ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्राह्मण, राष्ट्र, प्रजा, कान्ति, यश, वर्चस्व. धन, आयु, रूप, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, यव, सत्य, ऋत (नीति) यज्ञ, वापी, कूप, तड़ाग, वाटिकादि, प्रजा और पशु आदि समस्त पदार्थ उस राजा के नष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मणों को सताता है और विद्या को छीन लेता है अर्थात् पढ़ना पढ़ाना बंद कर देता है । इस प्रकार विद्या की अवहेलना और ज्ञानियों के तिरस्कार का दुष्ट फल बतलाकर ब्राह्मणों की उपयोगिता का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमंतो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिंदन्त्यनेम् ॥ (अथर्व० ५।१८।९)

अर्थात् जिनके बाण तीखे हैं और जो हथियार धारण करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों के फेंके हुए ज्ञानशस्त्र व्यर्थ नहीं जाते । वे तेजस्वी बल के साथ तपकर शत्रु का पीछा करते हैं और निश्चय ही दूर से उसका भेदन कर देते हैं । इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ (यजु० २०।२५)

अर्थात् जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल साथ साथ अच्छी तरह प्रीतियुक्त होकर व्यवहार में लाये जाते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं, वही देश: पुण्यलोक होता है । कहने का मतलब यह कि जहाँ केवल शासन ही होता है, वहाँ उत्तम मनुष्य नहीं होते । प्रत्युत जहाँ शासन और शिक्षा दोनों होते हैं, वहीं समाज पुण्यमय होता है । इसीलिए वेद कहते हैं कि—

इदं में ब्रह्म क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा (यजु० ३२।१६)

अर्थात् ये मेरे ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों श्रेय को प्राप्त हों । जिस तरह देवता मुझको शोभा और लक्ष्मी से विभूषित करें, उसी तरह तुझ ब्राह्मण को भी सुशोभित करें । यहाँ तक समाज की भीतरी दुर्बलताओं से जो कष्ट होते हैं, उनको दूर करने के उपायों को बतलाकर अब वेद उपदेश करते हैं कि जो बाहर के शत्रु इस आर्यसमाज को नष्ट करने और उस पर शासन करन के लिए आवें, उनके साथ युद्ध किया जाय और उनको परास्त किया जाय । इस विषय में ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

हत्वाय देवा असुरान् यदायन्देवा।
देवत्वमाभिरक्षमाणाः (ऋ० १०।१५७।४)

अर्थात् जो तेजस्वी क्षत्रिय देवत्व के विरोधी शत्रुओं (असुरों) को युद्ध में मारकर विजयी होते हैं, वही रक्षा पाकर सुख से रहते हैं। क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है कि—

ये युध्यन्ते प्रधने षु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ (ऋ० १०।१५४।३)

अर्थात् जो शूर वीर क्षत्रिय, धर्मरक्षा के लिए युद्ध में सम्मुख लड़कर शरीर का परित्याग करते हैं वे अनुत्तम सुखवाले लोकों को प्राप्त होते हैं। इसीलिए वेद में युद्धविजय की बहुत ही प्रबल कामना का उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्रा नमदो जयेम।
धनु शत्रोरपकामं कृणोमि धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥
(यजु० २९।३९)

अर्थात् हम धनुष से पृथिवी और संग्राम को जीतें और हम धनुष से बड़ी वेगवाली सेना को भी जीतें। यह धनुष शत्रु की कामना को नष्ट कर देता है, अतः हम धनुष से सब दिशा विदिशाओं को जीत लें। विजयी योद्धा के लिए लिखा है कि—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥
(अथर्व० १८।२।६०)

अर्थात् हे वीर! तू अपने क्षात्रधर्म, तेज और बल के द्वारा इस संग्राम में मरे हुए शत्रुओं के हाथ से धनुष को और अन्य पुष्ट करनेवाले बहुत से सामानों को लेकर इन पराजितों के सामने से आदर के साथ आ। इसके आगे सेना का वर्णन इस प्रकार है—

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥७७॥
दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तकराँ २ऽउत।
हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥७८॥
ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥७९॥
यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥८०॥
(यजु० ११।७७–८०)

अर्थात् जो सेना सुस्त, बीमार, नालायक और चोर है, उसको मैं जलती हुई ज्वाला में डालता हूँ। हे अग्नि! आप उन चोरों और मैले कर्म करनेवाले लोगों को अपनी डाढ़ों, जबड़ों और दाँतों से खा डालें। हे अग्नि! जो नक़ब लगानेवाले, डाका डालनेवाले, ठग और पापकर्म से जीनेवाले हैं, उन अधर्मों को आप चबा डालें। हे अग्नि! आप शत्रुता करनेवाले,

द्वेष करनेवाले, निंदा करनेवाले और दम्भ दिखानेवाले दुष्टों को भस्म कर डालें। वेद ने इन मंत्रों में बतलाया है कि नालायक़ सेना को नष्ट कर देना चाहिये और समस्त समाज को चाहिये कि वह युद्ध के लिए राजा को उत्तेजित करे। उत्तेजना का उपदेश इस प्रकार है—

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् ।
धनञ्जयं रणे-रणे ॥ (यजुर्वेद ११।३४)

अर्थात् दस्यु के मारनेवाले, धन जीतनेवाले और अन्न देनेवाले तुझ राजा को हम प्रदीप्त कर रण के समय उत्तेजित करें। इस राष्ट्रीय सेना के प्रत्येक योद्धा को किस प्रकार उत्साहित होना चाहिये, उसका उपदेश वेद में इस प्रकार है—

अभीऽइदमेकमेको अस्मि निष्पाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निंदन्ति शत्रवोऽनिंद्राः ॥
(ऋ० १०।४८।७)

अर्थात् मैं हूँ तो अकेला ही पर एक, दो, तीन शत्रु भी मेरा कुछ नहीं कर सकते। मैं शत्रुओं को इस तरह कुचल डालूँगा, जैसे खलिहान में अन्न कुचला जाता है। क्योंकि जिनका कोई मार्गदर्शक सेनापति ही नहीं है, वे शत्रु मेरी क्या निंदा कर सकते हैं?

कृत्याः संतु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ (अथर्व० ५।१४।५)

अर्थात् ये शत्रुनाशक सेनाएं हिंसाकारी और दुर्वचन बोलनेवाले शत्रु के लिए हों। ये शत्रुनाशक सेनाएँ हिंसाकारियों में इस तरह चक्कर लगावें, जैसे रथ का पहिया चक्कर लगाता है। इस मंत्र में बतलाया गया है कि सेनाएँ हिंसकों, दुष्टों और बदमाशों के दमन के ही लिए हैं, अतः रथ की भाँति वे उक्त बदमाशों के अड्डों और देशों में चक्कर लगाती रहें। इस प्रकार से आवश्यकता पड़ने पर लड़नेवाला राजा अपने युद्धोपकरणों को मिट्टी के घरों में न रक्खे। इसके लिए वह अच्छे पक्के मकान बनावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (ऋग्वेद ७।८९।१)

अर्थात् हे राजन्! आप मिट्टी के घरों में निवास न करें, क्योंकि मिट्टी के घरों को वर्षाऋतु मिट्टी कर देती है—गिरा देती है। मिट्टी के सादे घरों में तो हम प्रजा को ही रहना चाहिये। इस मंत्र के अतिरिक्त वेद में राजा के लिए लोहे के क़िले बनवाने की आज्ञा है। अथर्ववेद में आया है कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥
(अथर्व० १९।५८।४)

अर्थात् हे राजन्! आप बड़े बड़े व्रज (चरागाह) तैयार करवाइए, बहुत से मोटे मोटे वर्म (कवच) सिलवाइये और अपना पुर बड़े बड़े लोहे के क़िलों से घेर दीजिये

जिससे आपके यज्ञ का चमचा न टपक जाय। उसके दृढ़ करने के लिए यही प्रबन्ध कीजिये। ये चीज़ें आपकी रक्षा करेंगी। इस मन्त्र में राज्य की इस तैयारी का कारण चमचे की रक्षा बतलाया गया है। जिसका यही मतलब है कि राज्य में छिद्र न होने पावे और वैदिक सभ्यता की रक्षा होती रहे। इसके अतिरिक्त राजा को और क्या क्या तैयारी करना चाहिये, उसका वर्णन इस प्रकार है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ (यजु० २०।५-८)

अर्थात् श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और दाढ़ी मूछ ही प्रकाश है, राजा ही प्राण है सम्राट् ही चक्षु है, विराट् ही कान है और यही सब अमरता है। भद्रता ही जिह्वा है, कीर्ति ही वाणी है, क्रोध ही मन है, स्वतन्त्रता ही प्रकाश है, आमोदप्रमोद ही अंगुलियाँ और अङ्ग है, तथा सहनशीलता ही मित्र है। बल ही बाहु हैं, कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ हैं, क्षत्र ही हृदय और आत्मा है। राष्ट्र ही पीठ है, प्रजा ही उदर, ग्रीवा, पैर, जंघा, घुटना और अन्य समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग हैं।

इन मन्त्रों में राष्ट्र की विशालता का वर्णन है। पर यह सब विशाल राज्यकार्य बिना धन के नहीं हो सकता, इसलिए वेद कहते हैं कि राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा लेकर इस महाकार्य का सम्पादन करे।

दूर पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥
(अथर्व० १०।८।१५)

अर्थात् पूर्णों के द्वारा दूर तक और अधूरों के द्वारा निकट तक भुवन के मध्य में राज्य का प्रबन्ध करनेवाला बैठा है। उसके लिए समस्त राष्ट्र बलि अर्थात् कर अदा करता है। इस प्रकार का राष्ट्रीय उपदेश करके अन्त में वेद शिक्षा देते हैं कि खण्डराज्यों में सदैव वैमनस्यजन्य उत्पातों का डर बना ही रहता है, इसलिए सबको सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिए, अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का प्रयत्न करना चाहिये। यजुर्वेद में लिखा है कि—

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा। (यजु० ५।२४)

अर्थात् स्वराज्य शत्रुओं का मारनेवाला है, सत्र-राज्य अभिमानियों का मद मारनेवाला है, जनराज्य दुष्टों का मारनेवाला है और सर्वराज्य अमित्र का मारनेवाला है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सर्वराज्य से शत्रु नहीं रहते। यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि शत्रुओं का सर्वथा नाश तो सर्वराज्य अर्थात् सार्वभौमराज्य से ही होता है। इसके आगे फिर वेद उपदेश देते हैं कि—

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति । (यजु० १२।११७)

अर्थात् हे अग्नि ! तू भूत, भविष्य और प्रियों तथा प्रियस्थानों में विना किसी परिवर्तन के एक समान अकेला एक ही राजाराजेश्वर विराजमान है । इस मंत्र के द्वारा अग्नि की उपमा देकर वेद ने बतला दिया कि समानता की स्थिरता तो तभी हो सकती है, जब अग्नि के समान सारी पृथिवी का एक ही सम्राट् हो । इसके आगे वेदों में राजा के लिए आपद्धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया गया है कि—

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनु रेत आगुः ॥
प्रजानेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥
(अथर्व० ८।९।१३)

अर्थात् ऋत की तीन विधियाँ चलती आई हैं और तीन मार्ग अनुधर्मा हैं । एक विधि प्रजा (समाज) की, एक राष्ट्र की और एक धर्म की रक्षा करती है । यहाँ ऋत अर्थात् आपद्धर्म की तीनों शाखाओं का वर्णन किया गया है । आपद्धर्म की आवश्यकता धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में आया ही करती है, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सत्य के जोड़ ऋत से भी काम लेना चाहिये । आगे वेद उपदेश करते हैं कि—

इंद्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः ॥
(ऋग्वेद ६ ४७।७)

अर्थात् हे राजा ! हमको नेताओं की भाँति देखिये और शत्रुओं के बल को उल्लंघन करनेवाले हमारे धर्मबल की अच्छी प्रकार परीक्षा कीजिये कि जिससे हमारा सब कुछ अच्छी प्रकार पार लगने अथवा बिलकुल ही पार लगने लायक हो जाय, इसलिए हमारे पास सुनीति और वामनीति दोनों होना चाहिये । इस मंत्र में स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि यदि सुपार हो अर्थात् सरल हो तो सुनीति से—धर्म से—चले जावे, किन्तु यदि अतिपार हो अर्थात् दुर्गम हो, तो वामनीति से—आपद्धर्म से—पार हो जावे । इस प्रकार से वेद ने इस राज्यप्रकरण के द्वारा समाज को भीतर और बाहरी आफ़तो से रक्षा करने का उपदेश दिया है । इस उपदेश से मनुष्य अपनी और अपने समाज की रक्षा कर सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि मृत्यु से कोई रक्षा नहीं कर सकता । सबको एक न एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा, इसलिए मरने के बाद के रहस्य का जब तक ठीक ठीक ज्ञान न हो जाय और जब तक परलोक की जटिल ग्रन्थि सुलझ न जाय तब तक लोक के समस्त सुख और प्रबन्ध निकम्मे हैं । इसलिए अब हम दिखलाना चाहते हैं कि वेद में परलोकविषय की क्या शिक्षा है ।

वैदिक उपनिषद् ।

सब प्रकार से उन्नत समाज का लक्षण यही है कि वह सदाचारी हो, विद्वान् हो, उद्योगी हो और हर प्रकार से अपनी खुद रक्षा कर लेता हो । ऐसे समाज के लिए लोक की कोई अभिलाषा शेष नहीं रह जाती और ऐसी उन्नत दशा में पहुँचकर उस समाज के उन्नतमस्तिष्क मनुष्यों में परलोकविचार की चरचा उत्पन्न हो जाती है । वे सोचने लगते हैं

कि, मृत्यु से बचने का क्या उपाय है और मरने के बाद क्या होता है, तथा इस संसार की उत्पत्ति का कारण क्या है। उनके हृदयों में यह प्रश्न बड़े वेग से प्रभाव उत्पन्न करने लगता है कि, जड और चेतन का भेद क्या है और इनके मूल कारणों के प्रत्यक्ष करने की युक्ति क्या है। विद्वानों ने इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के ऊहापोह का नाम दर्शन रक्खा है और इस ऊहापोह के अन्तिम उत्तरों को ही उपनिषद् कहते हैं।

इस औपनिषद् ज्ञान के दो विभाग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और नाश के कारणों का अनुसन्धान करना पहिला विभाग है और उन कारणों के प्रत्यक्ष कर लेनेवाले साधनों का उपयोग करना दूसरा विभाग है। और हम इन दोनों विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले वेद-मन्त्रों को एकत्रित करके दिखलाते हैं कि वेदों ने इन विषयों का कितना विशाल ज्ञान दिया है। इस सृष्टि को देखकर किसी भी विचारवान् मनुष्य के हृदय में जो सबसे पहिले स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है, उसको वेदों ने इस प्रकार कहा है— •

> किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
> मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

(ऋ० १०।८१।४)

अर्थात् कौनसा वह वन है और कौनसा वह वृक्ष है, जिसकी लकड़ी से यह द्युलोक और पृथिवीलोक बनाया गया है? हे बुद्धिमान् लोगो! अपने मन से पूछो कि इन भुवनों का धारण करनेवाला और उनका अधिष्ठाता कौन है? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

> नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥१॥
> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥२॥
> तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥३॥

(ऋ० १०।१२९।१-३)

अर्थात् यह सृष्टि पहिले न तो सत् अर्थात् बनी हुई दशा में थी, न असत् अर्थात् अभाव अथवा शून्य दशा में थी, न रज अर्थात् बनन की आरम्भिक दशा में थी और न उस समय यह ऊपर का नीला आकाश ही था। उस समय न मृत्यु थी, न जन्म था और न रात्रि थी, न दिन था। उस समय तम अर्थात् आरम्भ का पूर्वरूप केवल अन्धकार था और एक हलचलरहित स्वधा (मैटर, माद्दा, माया, प्रकृति) कुहर की भाँति सर्वत्र फैली हुई थी। इन मन्त्रों में इस सृष्टि के पूर्वरूप का वर्णन करके अब वेद यह बतलाते हैं कि यह सृष्टि तीन अनादि स्वयम्भू पदार्थों के मेल से बनती है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् दो पक्षी एक में मिले हुए मित्रभाव से अपने ही समान एक वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक मित्र वृक्ष के फलों को खाता है और सुखदुःखों को भोगता है और दूसरा मित्र फलों न खाता हुआ केवल देखता है। इस मन्त्र में परमेश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। यही तीनों पदार्थ इस संसार का कारण हैं। इन्हीं के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति विनाश होता है। इन तीनों में से परमेश्वर के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ (यजु० ३२।११)

अर्थात् परमेश्वर सब भूतों, लोकों और सब दिशाविदिशाओं को सब ओर से व्याप्त करके सत्य और अनादि स्वयंभू आत्मा में भी अच्छी तरह प्रवेश किये हुए हैं। इस मन्त्र में परमेश्वर का सर्वत्र व्यापकत्व बतलाया गया है। इस व्यापक परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरे व्याप्य चेतन जीवों का वर्णन इस प्रकार है—

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥
यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु ।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥
(अथर्व १०।८।१९–२०)

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥
शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् ।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥
इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख ॥ २७ ॥
(अथर्व० १०।८।२३–२७)

अर्थात् यह जीव जिसके भीतर ज्येष्ठ ब्रह्म ठहरा हुआ है, वह सत्य से ऊँचा होकर प्रतापी होता है और असत्य से नीचा होकर प्राणों के साथ तिर्यक् योनियों में जीवन धारण करता है। जो इन दोनों (ज्येष्ठ ब्रह्म और प्राण धारण करनेवाले जीव) को यज्ञ की दोनों अरणियों की तरह जान लेता है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म को भी जान लेता है और दूसरे सनातन जीव को भी जान लेता है। ये सनातन जीव रातदिन की भाँति भिन्न भिन्न रूपों को धारण करते रहते हैं और नित नये ही होते रहते हैं। ये सनातन जीव सौ, हज़ार, दश हज़ार, दश करोड़ और असंख्यों की तादाद में उस व्यापक परमात्मा में ही भरे हुए हैं। जब ये उस सर्वज्ञ परमात्मा को प्राप्त होते हैं, तभी सबको रुचते हैं। इन दोनों व्याप्य व्यापक ईश्वर और जीव में एक तो बाल की अनी से भी छोटा है और दूसरा तो बिलकुल ही अदृश्य है। यह

जीव उसी अदृश्य प्रिय देवता में चिपकनेवाला अर्थात् व्याप्य है। यह उस कल्याणकारिणी अजरा और अमृता प्रकृति माता के गर्भरूपी घर में सोता है। हे जीव! तू कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी कुमार, कभी कुमारी होता है और कभी वृद्ध होकर और लाठी लेकर चलता है, इसीलिए तू जन्म लेनेवाला सर्वतोमुख है। इन मंत्रों में वेदों ने जीव को सनातन, असंख्य, व्याप्य, जन्म धारण करनेवाला और परमेश्वर की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त करनेवाला बतलाया है। इसके आगे इस सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(यजु० २५।२३)

अर्थात अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है, अदिति ही पुत्र है, अदिति ही विश्व के देवता हैं, अदिति ही ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और अनार्य हैं और अदिति ही पैदा करनेवाली तथा वही पैदा होनेवाली है। अर्थात् यह सारा जगत् अदिति का ही प्रपञ्च है। इस मंत्र में अदिति—माया—का विशाल रूप दिखलाया गया है। यथार्थ में संसार के समस्त नामरूपात्मक पदार्थ प्राकृतिक ही हैं। यही बनते और बिगड़ते हैं और इन्हीं के द्वारा संसार का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। कहने का मतलब यह कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार उनको इस अदिति नामक प्रकृति के शरीररूपी घेरे में बन्द करके और उसी प्रकृति के इस ब्रह्माण्डरूपी बड़े घेरे में लाकर छोड़ देता है। इसी का नाम सृष्टि की उत्पत्ति है। परन्तु परमात्मा इस सृष्टि को किस प्रकार उत्पन्न करता है, इस बात का वर्णन वेद में इस प्रकार है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥२॥ (ऋ० १०।१९०।१–२)
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ (यजु० ३१।५)
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋ० १०।१९०।३)
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ (यजु० ३१।६)
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ (यजु० ३१।९)
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (यजु० ३१।११)
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१।७)

अर्थात् ऋत और सत्य (नीति और धर्म) को विचार कर परमात्मा ने तप (ईक्षण) किया । उस ईक्षण से हलचल उत्पन्न हुई और प्रकृतिरूपी अँधेरा हो गया, तथा उससे आकाश पैदा हुआ । उस आकाश से वायु और मेघरूप ऊपर का समुद्र और संवत्सररूपी सूर्य हुआ और सूर्य से पृथिवी का समुद्र हुआ और रात दिन हुए । इसके बाद विराट् हुआ और विराट् के बाद पृथिवी उत्पन्न हुई । परमात्मा ने इन सूर्य, चन्द्र, अन्तरिक्ष, दिन और पृथिवी आदि को उसी तरह बना दिया, जिस तरह उसने इस सृष्टि के पूर्व अन्य भूत सृष्टियों में बनाया था । पृथिवी उत्पन्न हो जाने के बाद उस पर वनस्पति उत्पन्न हुई । वनस्पति के बाद पशुपक्षी उत्पन्न हुए और पशुपक्षियों के बाद देव, ऋषि, साध्य, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए तथा इन्हीं श्रेष्ठ मनुष्यों के हृदयों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का उपदेश हुआ । उपर्युक्त मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति के क्रम का बहुत ही अच्छा वर्णन है । इन मंत्रों में बतला दिया गया है कि परमात्मा ने अपनी ईक्षणशक्ति से प्रकृति में प्रेरणा की । प्रेरणा से गति उत्पन्न हुई और गति से आकर्षण उत्पन्न हुआ । आकर्षण से प्रकृति परमाणु आपस में मिले, जिससे रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हुई । वह स्थिति जब चक्राकार गति में घूमी, तो और भी सघन हो गई और उसके चारों और आकाश उत्पन्न हो गया । उस खाली स्थान—आकाश—में वायु का समुद्र भर गया और वायुसमुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ, जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथिवी और रातदिन उत्पन्न हुए । अर्थात् यह समस्त सृष्टि उपर्युक्त क्रम के साथ परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई है और इसके उत्पन्न होने का प्रधान कारण जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है । उस न्यायकारी, दयामय और कारणों के भी कारण परम पिता परमात्मा का वर्णन वेदों में इस प्रकार किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३ ॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥
यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ ५ ॥
(यजु० ३२।१-५)

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजु० ३२।१०)
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
(यजु० ४०।८)

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर नीचे, आड़े, तिरछे और बीच से पकड़ा नहीं जा सकता। उसकी कोई नाप नहीं है, क्योंकि उसका नाम बड़े यशवाला है, इसीलिए अनेक वेदमन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। वही देव सब दिशा विदिशाओं में व्याप्त है और वही सबके अन्दर पहिले से ही बैठा है। वह सब ओर से सब प्राणियों में ठहरा हुआ है और वही पहले संसार का रूप धारण करके पैदा होता है और फिर सबको पैदा करता है। जिसके पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और जो सब भुवनों में अच्छी तरह स्थिर है, वही सोलह कलावाला पूर्ण प्रजापति समस्त प्रजा में रमण करता हुआ तीन प्रकार की ज्योतियों को—अग्नि, विद्युत् और सूर्य को—उत्पन्न करता है। वह कायारहित, छिद्ररहित, नाडीरहित, पापरहित है। वह शक्तिस्वरूप, शुद्ध, कवि, मनीषी, दुष्टों से दूर, स्वयंसिद्ध है और शाश्वत प्रजा के लिए सब ओर से व्याप्त होकर यथायोग्य अर्थों को उत्पन्न करता है। वही हमारा बन्धु, पिता, विधाता और सब भुवनों का जाननेवाला है, इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमको तृतीय लोक में जहाँ देवता मोक्ष प्राप्त करते हैं, वहाँ पहुँचावे। इन मन्त्रों में परमात्माके स्वरूप और उसके कार्य का वर्णन करके मोक्षसुख की याचना की गई है। वेदों में इस प्रकार के मन्त्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। सब में उसके स्वरूप का वर्णन और अपने कल्याण की याचना का वर्णन है। इन वर्णनों के द्वारा संसार के कारणों और कारणों के भी कारण परमात्मा की महत्ता का ज्ञान होता है और जिज्ञासु के हृदय में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह वैदिक उपनिषद् का पूर्वार्द्ध है। इसके आगे उस कारणस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करके अनन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की विधि को भी वेदों ने बतलाया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१।१८)

अर्थात् उस आदित्यस्वरूप प्रकाशमान परमात्मा को मैं जानता हूँ, अतः उसी के साक्षात्कार से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥
(अथर्व १०।८।३७)

अर्थात् जिस सूत्र में ये समस्त प्राणी पिरोये हुए हैं, जो मनुष्य उस फैले हुए सूत्र को जानता है और जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वही उस महान् ब्रह्म को जान पाता है। इन मंत्रो में बतलाया गया है कि परमात्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। अब अगले मंत्र में उपदेश करते हैं कि परमात्मा सर्वत्र मौजूद है।

> इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
> न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः (अथर्व० १।३२।१)

अर्थात् हे मनुष्यो! परमात्मा उपदेश करता है कि जिससे वनस्पति आदि प्राणी प्राण धारण करते हैं, वह परम पिता परमात्मा न केवल पृथिवी में है और न केवल द्यौलोक ही में है, प्रत्युत वह सर्वत्र परिपूर्ण है। इस मंत्र में उसकी सर्वत्र उपस्थित बतलाई गई है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या उसको सर्वत्र ढूँढ़ते फिरें? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

> पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
> तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
> अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
> तमेव विद्वांन न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४॥
> (अथर्व० १०।८।४३-४४)

अर्थात् इस नव दरवाज़ेवाले त्रिगुणात्मक शरीर में जो आत्मा की भाँति यक्ष बैठा है, उस को ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। वह निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू, रस से तृप्त और पूर्ण है, अतः उसी धीर, अजर, युवा आत्मा को विद्वान् जानकर निर्भय हो जाते हैं। इसके आगे फिर कहते हैं कि—

> ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
> यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
> ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः (अथर्व० १०।७।१७)

अर्थात् जो इस पुरुष के अंदर ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं और जो परमेष्ठी, प्रजापति और ब्रह्म को जानते हैं, वे इस समस्त स्तम्भ को जानते हैं। इन मंत्रो में जीव ब्रह्म की व्याप्य और व्यापकता बतलाकर स्पष्ट कह दिया है कि जो व्यापक ब्रह्म को जान लेता है, वह व्याप्य जीव को भी जान लेता है और एक दूसरे के परिचय से सबको ज्ञान हो जाता है और मोक्ष हो जाता है। परंतु प्रश्न यह है कि इस शरीर के अंदर परमात्मा कैसे ढूँढा जाय? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा को इस शरीर में ढूँढने की तय्यारी करने के साथ साथ अर्थ और काम के फंदे से अलग रहना चाहिये।

> ईशा वास्यमिद९ँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत९ँ समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजु० ४०।१-२)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् (अथर्व० ११।५।१९)

अर्थात् परमेश्वर को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उसी के दिये हुए पर सन्तोष करना चाहिये और दूसरों के धन की कभी इच्छा न करना चाहिये। इस प्रकार का जीवन बनाकर शेष आयु तक कर्म करने से मोक्ष हो जाता है, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से ही इंद्र देवों से द्यौलोक को पूरा करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य और तप से ही विद्वान मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इन मंत्रों में मुमुक्ष के लिए अर्थ (धन) और काम (रति) का परित्याग बतलाया गया है। जब अर्थ और काम की इच्छा समूल निवृत्त हो जाय तब किसी ब्रह्मविद्या के जाननेवाले के पास जाकर सत्सङ्ग करना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ (अथर्व० १०।७।२४)

अर्थात् जहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्म की उपासना करते हैं, वहाँ जाकर जो मुमुक्ष उनको जानता है—मिलता है—उसी सत्सङ्गी को ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिये। इस मंत्र में ब्रह्मविदों का सत्सङ्ग आवश्यक बतलाया गया है। जब सत्सङ्ग से मुमुक्ष ब्रह्मविद्या में निर्भ्रान्त हो जाय, तो उसे चाहिये कि वह किसी एकान्त स्थान में निवास करे। ऐसे स्थान का निर्देश करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ (ऋग्वेद० ८।६।२८)

अर्थात् पहाड़ों की कन्दराओं और नदियों के सङ्गमों में ही मुमुक्षु की बुद्धि का विकास होता है। ऐसे शांत और उपद्रवरहित स्थान में निवास करके योग का अनुष्ठान करना चाहिये। वेद करते हैं कि—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणा अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ (अथर्व० १०।२।२७)

अर्थात् मनुष्य का जो शिर है, वह ज्ञानविज्ञान का ख़ज़ाना है। उस शिर की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। इस मंत्र में विचार करने का अङ्ग शिर बतलाया गया है और उसके साथ अन्न, मन और प्राणों का सम्बन्ध भी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्न, प्राण, मन और विचारों की शृङ्खला का क्रम है। क्योंकि विचारों के रोकनेवाले को मन रोकना पड़ता है, मन रोकनेवाले को प्राण रोकना पड़ता है और प्राण रोकनेवाले को अन्न का नियंत्रण करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु को एकान्त में युक्तहार होकर प्राणों के निग्रह में लग जाना चाहिये और मन तथा विचारों के प्रवाह को बन्द कर देना चाहिये। इस योगक्रिया के लिये वेद उपदेश करते हैं कि—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति ॥ (ऋ० ५।८१।१)
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ (यजुर्वेद० ११।२)

युञ्जे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि-तस्थुः ॥
(यजु० ११.५)

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञयाग करनेवाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोक स्वर्गीय सुखों के लिए अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोलकर सुन लें कि पूर्वजों ने योगबल से ही सूर्यमार्ग से यात्रा की है, इसलिए जो योग करेगा—इसमें मन लगायेगा—वही उस उत्तम गति को प्राप्त होगा। इन मन्त्रों में योग का बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। क्योंकि योग का सम्बन्ध मन से है। को एकाग्र करके उसे परमात्मा में लगाना ही योग है। इसीलिए वेद में मन को कल्याणकारी बनाने का बहुत बड़ा उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।.१॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥
(यजु० ३४।१-६)

अर्थात् जो सोते और जागते समय दूर दूर जाता है, वह दूर दूर तक जानेवाला ज्योतिरूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो। जिसके द्वारा बुद्धिमान् और धीर पुरुष नाना प्रकार के सुकर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह सबके अन्दर बैठा हुआ अपूर्व शक्तिवाला मेरा मन उत्तम विचार करनेवाला हो। जो प्रज्ञान, चेतना और धारणा शक्तिवाला है, जो अन्तर्ज्योति है, जो सब प्राणियों में अविनाशी सत्तारूप से विराजमान है और जिसके बिना किञ्चन्मात्र भी कोई काम नहीं हो सकता, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। जिसने अपनी अमरता से भूत, भविष्य और वर्तमान को ग्रहण कर रक्खा है और जिसकी सहायता से आँख, कान, नाक और जिह्वा आदि सातों कार्यकर्ता इस शरीर के व्यवहार को कर रहे हैं, वह मेरा मन कल्याणकारी विचारवाला हो। जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, रथचक्र के आरों की भाँति जुड़ रहे हैं और जिसमें सब प्राणियों के चित्त ओतप्रोत है, वह मेरा मन शुभ विचारवाला हो। जिस तरह अच्छा सारथी रथ के घोड़ों को चलाता है, उसी तरह हृदय में बैठा हुआ और अपनी क्रियाबल से मनुष्यों को नियम में

चलानेवाला मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो। इन मन्त्रों में मन की महत्ता बतलाते हुए उसको उत्तम विचारवाला बनाने का उपदेश किया गया है, जिससे योगसिद्धि में शीघ्र सहायता मिले। यह योग मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। मनुष्य योगानुष्ठान करके जप, तप, तितिक्षा और समाधि तक अपना पुरुषार्थ कर सकता है। परन्तु यदि परमात्मा इतने पर भी मुमुक्षु के हृदय में स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन न दे और मोक्ष प्राप्त न हो, तो वह अपने पुरुषार्थ से उसे प्रकट होने के लिए और मोक्ष देने के लिए विवश नहीं कर सकता। इसलिए उसके शरणागत होकर दर्शन और मोक्ष के लिए प्रार्थना करता है। वेद में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करने का उपदेश इस प्रकार है—

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां ३ वाचं वदन्।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्द्रो परि स्रव॥६॥
यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो० ॥७॥
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥८॥
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥९॥
यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥१०॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥११॥
(ऋ० ९।११३।६–११)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा (अथर्व० १९।४३।८)

अर्थात् जहाँ वेदवेत्ता ब्रह्मा अर्थवाणी को बोलता हुआ योगद्वारा परमात्मा को प्राप्त होता है और परमात्मा के द्वारा आनंद पाता है, वहीं हे परमात्मन्! इस योगी को भी अमृतबिन्दु देकर—दर्शन देकर—पहुँचाइये। जहाँ निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है और जहाँ सब सुख ही सुख है, उस अक्षय आनन्द में मुझे पहुँचाइये। जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ का द्यौलोक दरवाजा है और जहाँ अमृत जल की वृष्टि होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ इच्छानुसार विचरण होता है और जहाँ ज्योतिरूप स्थान है, उसी तीसरे द्यौलोक के उस पार मुझे अमर कीजिये। जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जहाँ सब से बड़ा सुख प्राप्त होता है और जहाँ स्वधा तथा हर प्रकार की तृप्ति प्राप्त होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ पूर्ण हर्ष, पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वहीं हे परमात्मन्! दर्शन देकर मुझे पहुँचाइये। जहाँ ब्रह्मविद् विद्वान् तप और दीक्षा के प्रताप से जाते हैं हे ब्रह्म! मुझमें ब्रह्म को धारण करके वहीं पहुँचाइये। इन मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि मुझे पहिले दर्शन दीजिये

जिससे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ और फिर मरने के बाद तृतीय लोक के बाहर जहाँ प्राकृतिक जगत् का लेश भी नहीं है और जहाँ केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, वहाँ हमेशा के लिए पहुँचा दीजिये। इस प्रकार की निरंतर प्रार्थना से समाधिस्थ निश्चल आत्मा में परमात्मा प्रकट हो जाता है। उस समय वह जीवन्मुक्त कहता है कि—

> यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः।
> य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं
> मयि गृह्णामि त्वामहम्॥ (यजु० २०।३२)

अर्थात् जो सब भूतों का अधिपति है, जिसमें सब लोक ठहरे हैं और जो बड़ों से भी बड़ों स्वामी है, उस तुझ परमात्मा को मैं ग्रहण करता हूँ—अपने अंदर तुझको ग्रहण करता हूँ। इस मंत्र में जीवन की अन्तिम सफलता का वर्णन है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वर-दर्शन से कृतार्थ होकर सब प्रकार की शंकाओं से निवृत्त होकर और सब कुछ जानकर शेष जीवन में लोगों के ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हुआ प्रसन्नता से मृत्यु को प्राप्त होता है और मुक्त हो जाता है। यह वैदिक उपनिषद् का उत्तरार्ध है।

वेदों में आरम्भ से लेकर अन्त तक इसी प्रकार की शिक्षा है, जिसका नमूना हमने इन शिक्षा के पृथक् पृथक् आठ विभागों में अच्छी तरह दिखला दिया है। हमारा दृढ विश्वास है कि जितनी विस्तृत शिक्षा वेदों में है, यदि उतनी शिक्षा विधिपूर्वक किसी भी मनुष्य-समाज को दी जाय, तो वह समाज अपनी उन्नति हर विभाग में आसानी से अच्छी तरह कर सकता है। परन्तु आज कल किसी विस्तृत उन्नति वेदों की दृष्टि से समस्त मनुष्यजाति और समस्त प्राणिसमूह के लिए कल्याणकारी नहीं है, इसीलिए वैदिकों ने अकेले वेद ही को एक पूर्ण साहित्य का काम देनेवाला माना है। वेद स्वयं समस्त मनुष्योपयोगी शिक्षा दे देते हैं, इसलिए वे किसी अन्य ग्रंथ या अन्य साहित्य के मोहताज नहीं हैं। वेद अकेले ही अपनी शिक्षा से मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपना हरएक आवश्यक कार्य आसानी से कर सकता है और अपने ज्ञान को विस्तृत भी कर सकता है। यज्ञों का वर्णन करते हुए द्वितीय खण्ड में हम लिख आये हैं कि आदिमकाल से मध्यमकाल पर्यंत वैदिक आर्यों ने इसी मौलिक ज्ञान की बदौलत बहुत बड़ी उन्नति की थी और अपनी एक खास सभ्यता स्थापित की थी, जिसमें आदि से अन्ततक सम्पूर्ण वेद ही चरितार्थ थे। आगे हम उसी आदिम वैदिक आर्यसभ्यता के आदर्श का वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि किस प्रकार अकेला वैदिक ज्ञान मनुष्यसमाज को आदर्श उन्नति के शिखर तक पहुँचाता है।

वैदिक आर्यों की सभ्यता।

हमने अभी गत पृष्ठों में वेदमंत्रों की शिक्षा का जो सारांश दिखलाया है वह केवल वेदों की शोभा, प्रतिष्ठा और महत्त्व बढ़ाने के ही लिए नहीं है, प्रत्युत यह बतलाने के लिए है कि वेदों की इसी शिक्षा के द्वारा वैदिक आर्यों ने आपनी एक विशेष सभ्यता स्थिर की है, जो आदि सृष्टि से लेकर आज पर्यंत जीवित है। हमने जो मनुष्यों की स्वाभाविक इच्छाओं

से लेकर मोक्षसुखपर्यंत वेदमंत्रों की शिक्षा का क्रम दिया है, इसी अन्तिम पारलौकिक मोक्षप्राप्ति की सुदृढ भूमिका पर आर्यों ने अपनी सभ्यता की इमारत स्थिर की है। उन्होंने अपना अन्तिम ध्येय मोक्ष को ही माना है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि मोक्ष भी इसी संसार के द्वारा ही प्राप्त होता है, इसलिए मुमुक्षु को इस संसार के तत्त्व का और उसके उचित उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है। संसार का तत्त्वज्ञान और इसका उचित उपयोग ही मोक्ष का साधक है, इसीलिए आर्यों ने संसार का उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्त करने की विधि को अपनी सभ्यता का मूल ठहराया है और उस विधि को चार भागों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के नामों से विभक्त किया है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष आर्यों की सभ्यता की आधारशिलाएँ हैं। इन में मनुष्य की वे समस्त अभिलाषाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं, जिनका उल्लेख हमने वेदों के मंत्रसंग्रह के आदि में किया है। क्योंकि मनुष्य के शरीर में आवश्यकताओं को चाहनेवाले चार ही स्थान हैं और ये चारों पदार्थ उनकी पूर्ति कर देते हैं। मनु भगवान् अपने एक श्लोक में कहते हैं कि—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
(मनुस्मृति)

अर्थात् पानी से शरीर, सत्य से मन विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। इस श्लोक में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की गणना अलग अलग की गई है। हम देख रहे हैं कि इन चारों की जहाँ पानी आदि अलग अलग चार पदार्थों से शुद्धि होती है, वहाँ इन शरीरादि चारों अंगों को अलग अलग चार पदार्थों की आवश्यकता भी होती है। ये चारों आवश्यक पदार्थ, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही हैं।

शरीरपोषण के लिये अर्थ की, मनस्तुष्टि के लिये काम की, बुद्धि के लिये धर्म की और आत्मा की शांति के लिये मोक्ष की आवश्यकता होती है। क्योंकि विना भोजनादि (अर्थ) के शरीर निकम्मा हो जाता है, विना काम (स्त्री) के मन निकम्मा हो जाता है, विना मोक्ष (अमरता) के आत्मा निकम्मा हो जाता है और विना धर्म (सत्य और न्याय) के बुद्धि निकम्मी हो जाती है। अर्थ और शरीर का, काम और मन का तथा मोक्ष और आत्मा का संबंध तो प्रत्यक्ष ही है, इसमें किसी को शंका नहीं हो सकती, परन्तु धर्म और बुद्धि का संबंध सुनकर संभव है, लोग कहने लगें कि यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि संसार के धर्मों को बुद्धि का साथ करते हुए नहीं देखा जाता। परन्तु हम जिस वैदिक धर्म की बात कर रहे हैं, उसकी दशा ऐसी नहीं है। वैदिक धर्म बुद्धिपूर्वक ही है। इसका दूसरी वही है कि वैदिक धर्म वेदों के द्वारा स्थिर किया गया है और वेद 'बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे' अनुसार बुद्धिपूर्वक हैं, इसलिए इस धर्म पर वह शंका नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि बुद्धि ज्ञान से सबन्ध रखती है। जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे बुद्धि का विकास होता है। इसलिए बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के

दो विभाग हैं। जिस प्रकार बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं, उसी तरह धर्म और ज्ञान भी एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। क्योंकि देखा जाता है कि जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे धर्म की भी वृद्धि होती है। धर्म में जितना ही ज्ञानांश होता है और ज्ञान में जितना ही धर्मांश होता है, बुद्धि में उतनी ही स्थिरता होती है। इसी सिद्धांत पर पहुँचकर योरप का प्रसिद्ध विद्वान् हक्स्ले कहता है कि 'सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म दोनों यमज भाई हैं। इनमें से यदि एक दूसरे से अलग कर दिया जायगा, तो दोनों की मृत्यु हो जायगी। विज्ञान में जितनी ही अधिक धार्मिकता होगी, उतनी ही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का अभ्यास करते समय मन की धार्मिक वृत्ति जितनी ही अधिक होगी, विज्ञानविषयक खोज उतनी ही अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना ही अधिक दृढ होगा, धर्म का विकास भी उतनाही अधिक होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने जो अब तक बड़े बड़े काम किये हैं, उन्हें सिर्फ़ उनके बुद्धिवैभव का ही फल न समझिये, किन्तु उनकी धार्मिक वृत्ति ही इसमें अधिक कारणीभूत है ×। इसलिए धर्म का ज्ञान के साथ और ज्ञान का बुद्धि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार धर्म से बुद्धि का सम्बन्ध है, उसी तरह अर्थ से शरीर का, काम से मन का और मोक्ष से आत्मा का भी संबंध है। इन्हीं अर्थ, धर्म, कामादि में मनुष्य के जीवन, रति, मान, ज्ञान न्याय और परलोक आदि की समस्त कामनाओं का समावेश हो जाता है, अर्थात् जीवन की अभिलाषा अर्थ में, स्त्रीपुत्रादि की काम में, मान, ज्ञान और न्याय की धर्म में और परलोक की कामना मोक्ष में समा जाती है। अर्थात् समस्त ऐषणाओं का समावेश अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में हो जाता है और चारों पदार्थ एक दूसरे के आधार आधेय बन जाते हैं। जिस प्रकार अर्थ अर्थात् भोजनवस्त्रादि के बिना शरीर की स्थिति नहीं रह सकती और न काम अर्थात् रति के विना शरीर उत्पन्न ही हो सकता है और न विना शरीर और शरीर निर्वाह के मोक्षसाधन ही हो सकता है, उसी तरह विना मोक्ष साधन के विना मोक्षमार्ग निर्धारण किए अर्थ और काम को भी सहायता नहीं मिल सकती। क्योंकि अर्थ और काम के समस्त पदार्थ प्रायः मनुष्यों, पशुओं और वनस्पतियों से ही प्राप्त होते हैं। ये सभी जीव हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। इनका भी उद्धार तभी हो सकता है, जभी कर्मफल भोगकर मनुष्यशरीर में आवें और यहाँ मोक्ष का मार्ग खुला हुआ पावें। इसलिए मोक्ष की सच्ची कामना से ही अर्थ और काम को अर्थात् मनुष्यों पशुओं और वनस्पतियों को सहायता मिल सकती है। मोक्ष की सच्ची कामना के विना अर्थ और काम का उचित उपयोग हो ही नहीं सकता और विना उचित उपयोग के अर्थी स्वार्थी हो जाते हैं और कामनावाले कामी हो जाते हैं, तथा स्वार्थी और कामी मिलकर समाज को नष्ट कर देते हैं।

इसीलिए कहा है कि मोक्ष से अर्थ और काम को सहायता मिलती है। किंतु प्रश्न यह होता है कि अर्थ काम से मोक्ष को और मोक्ष से अर्थ काम को परस्पर उचित सहायता दिलानेवाला नियम कौनसा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अर्थ काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाला धर्म है। धर्मपूर्वक मोक्षसाधन से अर्थ और काम की उचित

× हर्बर्ट स्पेंसर रचित 'एजुकेशन' नामी ग्रंथ से उद्धृत।

व्यवस्था हो जाती है और धर्मपूर्वक अर्थ काम को ग्रहण करने से मोक्ष सुलभ हो जाता है। इस प्रकार से ये चारों पदार्थ एक दूसरे के सहायक हो जाते हैं। यद्यपि ये चारों पदार्थ परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं और अपने अपने कार्य में चारों बड़े महत्त्व के हैं, पर चारों में मोक्ष का स्थान सबसे ऊँचा है। मोक्ष की महत्ता का कारण मृत्यु के दुःखों से छूट जाना है। मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं में दीर्घातिदीर्घ जीवन की अभिलाषा ही सर्वश्रेष्ठ है। ज़िंदगी के मुक़ाबिले में मनुष्य अर्थ, काम, मान, न्याय और ज्ञान की परवाह नहीं करता। इस बात का प्रमाण मरने के समय ही मिलता है। इसलिए जिस साधन से मृत्यु का भय सदैव के लिए दूर हो जाय—जिसके प्राप्त हो जाने पर मृत्यु के कारणरूप इस जन्म ही का अभाव हो जाय—उस मोक्ष की समता कौन कर सकता है? यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता को मोक्षप्राप्ति के उच्च आदर्श पर स्थिर किया है और केवल धर्मपूर्वक प्राप्त अर्थ और काम को ही उसका सहायक माना है, धर्मविरुद्ध को नहीं। धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही आर्यों को अपना जीवन धार्मिक बनाने की शिक्षा दी गई है। इसीलिए वे ब्रह्मचर्याश्रम से लेकर संन्यास पर्यंत संध्योपासन, प्राणायाम और योगाभ्यास द्वारा अपने जीवन को मोक्षाभिमुखी बनाते हैं।

मोक्ष की प्रधानता।

मोक्षप्राप्ति के मार्ग में चलनेवाले को दो बातों की आवश्यकता होती है। एक तो सृष्टि उत्पत्ति के कारणों का जानना और कारणों के कारण ईश्वर को प्राप्त करना, दूसरे सृष्टि के उपयोग करने की विधि का समझना। सृष्टि के कारणों और ईश्वर की प्राप्ति के उपायों के ज्ञान से सृष्टि, प्रलय, जीव, ईश्वर, कर्म, कर्मफल और ईश्वर जीव के संयोग तथा उनकी प्राप्ति आदि का रहस्य खुल जाता है और सृष्टि के उपयोग करने की विधि के ज्ञान से अर्थ और काम के उपभोग का तात्पर्य समझ में आ जाता है, तथा दोनों के मौलिक ज्ञान और उचित उपभोग से मोक्ष हो जाता है। अर्थ और काम के फेर से ही छूटने का नाम मोक्ष है, पर बिना इन दोनों के फेर में पड़े मोक्ष होता भी नहीं। ऐसी सूरत में धर्म का सहारा लेकर ही दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न किया जा सकता है। क्योंकि सभी को अर्थ की आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी के बिना किसी का गुज़र ही नहीं होता। ये सभी पदार्थ, संसार (सृष्टि) से ही लेना पड़ते हैं। इसी तरह सबको काम की भी आवश्यकता होती है। सभी लोग स्त्री, बच्चे, शोभा, शृङ्गार और ठाटबाट की इच्छा रखते हैं। ये पदार्थ भी सृष्टि से ही लिये जाते हैं। अर्थात् आदि से अंत तक व्यक्ति या समाज को जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब संसार से ही—सृष्टि से ही—लिया जाता है, इसलिए जब तक संसार के कारणों का ज्ञान न हो जाय, तब तक उसके कार्य का यथार्थ उपयोग हो ही नहीं सकता—तब तक यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि हम इस सृष्टि से—इस संसार से—क्या-क्या, कितना-कितना, कब-कब और किस-किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। इसलिए आर्यों ने सबसे पहिले संसार के कारणों का पता लगाया है। यहाँ हम अर्थ और काम की देनेवाली सृष्टि के कारणों का वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि उन कारणों से उत्पन्न कार्य ही अर्थ और कामरूप से संसार में विद्यमान है, अतः इसका उचित उपयोग करते हुए ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

कारणों से ही कार्य होता है और कारण ही कार्य में अवतरित होकर अनेक प्रकार के नियमों में परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए जब कार्य से कारण का अनुसंधान किया जाता है तो कार्य के नियमों का ही निरीक्षण किया जाता है। हमें सृष्टि के कारणों को जानना है, अतएव आवश्यक है कि हम भी इस कार्यरूप सृष्टि के कारणों का अनुसंधान करें।

नियमों से कारणों का पता।

इस कार्यरूप सृष्टि में तीन नियम बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं। एक तो यह कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ निगमपूर्वक परिवर्तनशील है, दूसरा यह कि प्रत्येक जाती के प्राणी अपनी जाति के ही अंदर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट स्वभाव से पैदा होते हैं और तीसरा यह कि इस विशाल सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है।

इन तीनों प्रत्यक्ष नियमों में सबसे पहिला नियम नियमित परिवर्तनशीलता का है। बड़े बड़े सूर्यादि ग्रह–उपग्रहों से लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट–पतंग और तृणपल्लव तक में नित्य परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जिस पदार्थ की आज से सौ वर्ष पूर्व जैसी स्थिति थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह सौ वर्ष बाद न रहेगी। जन्म, बल, युवा और विनाश का क्रम जारी है और 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' के अनुसार उत्पन्न होकर नष्ट होने का नियमित नियम परिवर्तनरूप से चल रहा है। परंतु स्मरण रखना चाहिये कि यह परिवर्तन का नियम इस सृष्टि का स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव है, वे ग़लती पर हैं। वे भूल जाते हैं कि परिवर्तन नाम अस्थिरता का है और स्वभाव में अस्थिरता नहीं होती। फेरफार, उलटपलट आदि अस्थिर गुण तो नैमित्तिक हैं, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक गुण तो वही हैं, जिनका अपने द्रव्य के साथ समवाय–संबंध है–नित्य संबंध है। इसलिए इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव मानना उचित नहीं है। परिवर्तन ही स्वभाव मानने से प्रकृति में अनंत परिवर्तन अर्थात् अनंत गति मानना पड़ेगी और एक समान अनंत गति मानने से संसार में किसी प्रकार के ह्रासविकास के मानने की गुंजायश न रहेगी। किन्तु सृष्टि में प्रदार्थों के बनने और बिगड़ने का क्रम नित्य देखा जाता है, इसलिए सृष्टि का परिवर्तन नैमित्तिक ही प्रतती होता है स्वाभाविक नहीं।

बनने और बिगड़ने तथा जन्म और मृत्यु के नित्य दर्शन से ज्ञात होता है कि यह सृष्टि अनेक छोटे छोटे टुकड़ों से बनी है। हाँ संसार का चाहे जो पदार्थ लीजिये वह झुक जायगा, टेढ़ा हो जायगा और टूट जायगा। यहाँ तक कि बिजली और ईथर भी टूट जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि समस्त संसार छोटे छोटे परमाणुओं से ही बना है। क्योंकि यदि संघात से संसार न बना होता और केवल एक ठोस चीज़ से ही बना होता, तो न इसमें परिवर्तन ही होता और न कभी कोई चीज़ बनती, न ही बिगड़ती। किन्तु हम पदार्थों को नित्य बनते बिगड़ते और परिवर्तन होते देख रहे हैं, इसलिए सृष्टि के इस परिवर्तनरूपी प्रधान नियम के द्वारा कह सकते हैं कि सृष्टि के मूल कारणों में से यह एक प्रधान कारण है, जो खण्ड खण्ड, परिवर्तनशील और परमाणुरूप से विद्यमान है। परंतु प्रश्न होता है कि

क्या ये परमाणु चेतन और ज्ञानवान् भी हैं ? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। यदि ये परिवर्तनशील परमाणु ज्ञानवान् भी होते तो वे नियमपूर्वक काम न करते। क्योंकि चेतन और ज्ञानवान् दूसर के बनाये हुए नियमों में बँध ही नहीं सकता। वह सदैव अपनी ज्ञानस्वतन्त्रता से निर्धारित नियमों में बाधा पहुँचाता है। पर हम देखते हैं कि सृष्टि के परमाणु बड़ी ही सच्चाई से अपना काम कर रहे हैं। शरीर में या सृष्टि के अन्य जड पदार्थों में जिस जगह लगा दिये गये हैं, वहाँ आँख बन्द करके अपना काम कर रहे हैं और ज़रा भी इधरउधर नहीं होते। इससे ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का परिवर्तनशील कारण जो परमाणुरूप से विद्यमान है, वह ज्ञानवान् नहीं किन्तु जड है। इसी जड, परिवर्तनशील और परमाणुरूप उपादान–कारण को माया, प्रकृति, परमाणु, माद्दा और मैटर आदि नामों से कहा गया है और संसार के कारणों में से एक समझा जाता है।

सृष्टि का दूसरा नियम प्राणियों के उत्तम और निकृष्ट स्वभाव का है। अनेक मनुष्य स्वभाव से ही बड़े प्रतिभावान्, सौम्य और दयावान् होते हैं और अनेक मूर्ख, उद्दण्ड तथा निर्दय होते हैं। इसी प्रकार अनेक गौ, घोड़ा आदि पशुस्वभाव से ही सीधे–ग़रीब–होते हैं और अनेक क्रोधी और दौड़दौड़कर मारनेवाले होते हैं। इसी तरह बहुत से वृक्ष मीठे फलों से मनुष्यों की तृप्ति करते हैं और बहुत से वृक्ष ऐसे भी हैं, जो पास में आये हुए प्राणियों को पकड़कर चूस लेते हैं और खा जाते हैं। इस प्रकार से समस्त प्राणिसमूह के स्वभावों में विरोध है। यह स्वभावविरोध शारीरिक अर्थात् भौतिक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक है, जो चैतन्य, बुद्धि और ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के बुद्धिसम्बन्धी प्रमाण वृक्षों में भी पाये जाते हैं। तारीख २४ फेब्रुआरी सन् १९३० के 'लीडर' पत्र में छपा है कि बग़ीचों में पड़े हुए नलों के सूराखों को वृक्ष ताड़ लेते हैं और उन सूराखों में अपनी जड़ें डाल देते हैं। इसी तरह एक बेल ऐसी है, जो किसी वृक्ष की चोटी तक जाकर ज़मीन में वापस आती है और फिर दूसरे वृक्ष में चढ़ने के लिए दौड़ती है, चाहे भले वह वृक्ष पचास ग़ज की ही दूरी पर क्यों न हो' ×। परन्तु यह न समझना चाहिये कि यह ज्ञान प्राणियों के सारे शरीर में व्याप्त है। यह सारे शरीर में व्याप्त नहीं है। क्योंकि यदि सारे शरीर में व्याप्त होता तो हाथ, पैर, कान और नाक के कट जाने पर वह भी कट जाता

× Trees have almost as wonderful a sense of direction as birds Should there be a leak in an under-ground water pipe in a park or garden, a neighbouring treeis almost sure to find in out, and extending its roots in that direction, project a shoot through the break into the pipe. Even more extraordinary is the performance of the rattan, a climbing palm common in tropical countres When it has climbed a tree, it goes over the top and comes down ogain to the ground. Then growing at the rate of a foot every twenty-four hours, it sets out straight for the **next tree**, whch may be over 50 yards away.

और कटा हुआ ज्ञानांश कम हो जाता, पर हम देखते हैं कि दोनों टाँगें जड़ से काट देने पर भी किसी गणितज्ञ के गणितसम्बन्धी ज्ञान में या इतिहासज्ञ की इतिहाससम्बन्धी याददास्त में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता और न उसको यही मालूम होता है कि मेरा ज्ञान पहिले से कम है। इसलिए यह निश्चित और निर्विवाद है कि ज्ञानवाली शक्ति सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, प्रत्युत वह एकदेशी, परिच्छिन्न और अणुरूप ही है, क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमियों में भी मौजूद है। यदि सारे शरीर में व्याप्त होती, तो शरीर के बढ़ने के साथ उसको भी बढ़ना पड़ता और शरीर के कटने के साथ उसे भी संकुचित होना पड़ता। अर्थात् उसकी दशा ठीक रबर या स्प्रिंग की भाँति होती और विना अनेक परमाणु-संघात के इस प्रकार का ह्रासविकास न हो सकता। पर जैसा कि हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १५४ में लिख आये हैं कि ज्ञानवान् तत्त्व संयुक्तपरमाणुओं से नहीं बन सकता और न अनेक अज्ञानी परमाणु एक जगह एकत्रित होकर परस्पर ज्ञानसंवाद ही जारी रख सकते हैं, इसलिए यह शक्ति रबर की तरह घटने बढ़नेवाली और अनेक परमाणुओं के संयोग से बनी हुई वस्तु नहीं है, प्रत्युत स्वयंसिद्ध असंयुक्त, अणु और ज्ञानवान् वस्तु है। इसके अतिरिक्त वह शक्ति असंख्य भी प्रतीत होती है। क्योंकि एक मनुष्य का अनुभव समस्त मनुष्यों और प्राणियों में आप ही आप फैलता हुआ नहीं देखा जाता। कलकत्तेवाला मनुष्य जिस समय हवड़ा के पुल से जिस नाव को देख रहा है, उसी समय समस्त संसार के मनुष्य उसी नाव को नहीं देख रहे। इससे मालूम होता है कि प्रत्येक शरीर में एक अणु, परिच्छिन्न और ज्ञानवान् स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान है, जो अपने स्वभाव के अनुसार उत्तम अथवा निकृष्ट आचरण से सूचित होती है। इसी को लोग जीव, रूह और सोल के नाम से पुकारते हैं और यही सृष्टि का दूसरा कारण है, जो सृष्टि के इस व्यापक नियम से ही ज्ञात हो रहा है।

सृष्टि का तीसरा नियम यह है कि इस विस्तृत सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है। सूर्य, चन्द्र और समस्त ग्रह उपग्रह अपनी अपनी नियत धुरी पर नियमित रूप से भ्रमण कर रहे हैं। पृथिवी अपनी दैनिक और वार्षिक गति के साथ अपनी नियत सीमा में घूम रही है। वर्षा, सर्दी और गर्मी नियत समय में होती हैं। मनुष्य और पशुपक्ष्यादि के शरीरों की बनावट वृक्षों में फूलों और फलों की उत्पत्ति, बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज का नियम और प्रत्येक जाति की वायु और भोगों की व्यवस्था आदि जितने इस सृष्टि के स्थूल—सूक्ष्म व्यवहार हैं, सबमें व्यवस्था. प्रबन्ध और नियम पाया जाता है। नियामक के नियम का सबसे बड़ा चमत्कार तो प्रत्येक प्राणी के शरीर की वृद्धि और ह्रास में दिखलाई पड़ता है। क्यों एक बालक नियत समय तक बढ़ता है और क्यों एक जवान धीरे धीरे ह्रास की ओर—वृद्धावस्था की ओर—जाता है, इस बात को कोई नहीं कह सकता। यदि कोई कहे कि वृद्धि और ह्रास का कारण आहार आदि पोषक पदार्थ हैं, तो ठीक नहीं। क्योंकि हम रोज़ देखते हैं कि एक ही घर में, एक ही परिस्थिति में और एक ही आहार-विहार के साथ रहते हुए भी छोटे छोटे बच्चे बढ़ते जाते हैं और जवान वृद्ध होते जाते हैं तथा वृद्ध अधिक जर्जरित होते जाते हैं। इन प्रबल और चमत्कारिक नियमों से सूचित होता है कि इस सृष्टि के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूपा चेतनशक्ति

विद्यमान है जो अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य लोकलोकान्तरों का भीतरी और बाहरी प्रबंध किये हुए है। क्योंकि नियम विना नियामक के, नियामक विना ज्ञान के और ज्ञान विना ज्ञानी के ठहर नहीं सकता। पर हम संपूर्ण सृष्टि में नियमपूर्वक व्यवस्था देखते हैं, इसलिए सृष्टि का यह तीसरा कारण भी सृष्टि के नियमों से ही सिद्ध होता है। इसी को परमात्मा ईश्वर, खुदा और गॉड आदि कहते हैं। इस तरह से संसार के तीनों नियमों से तीनों कारणों का पता मिलता है। सृष्टि के ये तीनों कारण स्वयंसिद्ध और अनादि हैं, इसीलिए यह प्रवाह से अनादि सृष्टि भी बुद्धिपूर्वक नियमों में आबद्ध होकर कार्य कर रही है। क्योंकि जितने पदार्थ स्वयंसिद्ध, कारणरूप और स्वयंभू होते हैं, उन्हीं के गुण, कर्म, स्वभाव भी निश्चित होते हैं और उन्हीं गुणों से जो कार्य बनते हैं, वे नियमपूर्वक कार्य करते हैं। यह कार्यरूप सृष्टि प्रत्यक्ष ही सुव्यवस्थित, बुद्धिपूर्वक और नियमित कार्य कर रही है, इसलिए इसके तीनों कारणों के स्वयंसिद्ध होने में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता। इसलिए अब आगे इन कारणों से कार्य वर्णन करते हैं।

कारणों से कार्य की उत्पत्ति।

उपर्युक्त तीनों कारणों में से पहिला कारण जड, परमाणुरूप और नियम से परिवर्तित होनेवाली प्रकृति है, दूसरा कारण असंख्य, परिच्छिन्न और चेतन जीव हैं और तीसरा कारण व्यापक परिपूर्ण और ज्ञानी परमात्मा है ×। इन तीनों में से प्रकृति और जीव इस अनन्त सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए नियम में नहीं रख सकते। क्योंकि दोनों अणु, परिच्छिन्न और एकदेशी हैं। यद्यपि समस्त जीव ज्ञानवान् हैं, परन्तु अणु होने से उनमें ज्ञान भी अणुमात्र ही है, इसलिए इस अनन्त जगत् को वे सब मिलकर भी नियम में नहीं रख सकते। इसका नियामक तो परमात्मा ही हो सकता है, जो अपनी अनन्त सत्ता और अनन्त ज्ञान से सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु प्रश्न यह है कि परमात्मा इस सृष्टि का नियमन क्योंकि करता है?

हम लिख आये हैं कि इस सृष्टि के तीन कारणों में से एक कारण असंख्य अल्पज्ञ जीव भी हैं। ये जीव जब मनुष्यरूप होकर शरीरों को धारण करते हैं तो एकदेशी होने के कारण अपने से भिन्न अन्य पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदैव कुछ न कुछ प्रयत्न किया करते हैं। इनके इस प्रयत्न से परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है और उस संघर्ष से बहुतों को महान् कष्ट होने लगता है। कभी कभी तो इनमें इतने अधिक अत्याचारी मनुष्य उत्पन्न हो

× द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योअभि चाकशीति ॥ (ऋ० १।१६४।२०)
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः ॥
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ (श्वेता० उपनिद्)

जाते हैं कि उनकी सम्मिलिता क्रिया से संसार में बहुत बड़े बड़े उथलापथल हो जाते हैं और सृष्टि में अभूतपूर्व अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं × तथा अच्छे प्राणियों को घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। ऐसी दशा में अपनी उच्च सभ्यता, न्याय और दया से प्रारत होकर परमात्मा सृष्टिनियमों की रक्षा करने के लिए और हानिकारकों से हानिवाहकों को बदला दिलाने के लिए विवश होता है। जिस प्रकार दो लड़ते हुए मनुष्यों में एक को अन्याय करते हुए देखकर एक भद्र पुरुष अन्याय करनेवाले से अन्यायप्राप्त का प्रतिफल दिलाकर झगड़ा शान्त करने की कोशिश करता है, ठीक उसी प्रकार दया, धर्म और न्यायस्वरूप परमात्मा भी अत्याचारी जीवों को दण्ड देकर अर्थात् अत्याचार सहनेवालों को प्रतिफल दिलाकर सृष्टिनियमों की रक्षा करता है। यह न्याय वह नाना प्रकार की योनियों को बनाकर करता है और एक योनि से दूसरी को लाभ पहुँचाता है। अर्थात् पूर्वजन्म का प्रतिफल दिलाता है। यही उसके नियामक बनने का कारण है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जब यह मालूम होने पर कि अमुक समय में, अमुक स्थान में डाका पड़नेवाला है, साधारण पोलीस तुरन्त ही प्रबन्ध कर लेती है, तो भविष्य में होनेवाले अत्याचारों का परमात्मा क्यों नहीं प्रबन्ध कर लेता? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य की बुद्धि सदैव परिवर्तित होती रहती है। चोर चोरी करने के लिए चलता है, पर कभी बीच ही से लौट आता है। ऐसी सूरत में यदि इरादा करते ही अथवा चोरी के लिए चलते ही सज़ा दे दी जाय, तो अन्याय ही कहा जायगा। क्योंकि इरादे की सज़ा नहीं होती। यदि कोई करोड़ रुपये के दान का इरादा करे, तो क्या उसको दान का फल इतने ही से मिल जायगा? कभी नहीं। इसीलिए कर्म कर चुकने पर ही फल की व्यवस्था करना उचित है। रहा यह कि परमात्मा जीवों को बुरे कर्मों की चेष्टा से ही क्यों नहीं जुदा कर देता? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम तो स्वाभाविक चेतन जीव ऐसे निश्चेष्ट हो ही नहीं सकते, दूसरे यदि परमेश्वर जीवों की वृत्तियों के साथ साथ उनको दबाता फिरे तो स्वयं वही महान् संकट में पड़ जाय, जिसे परमात्मा तो क्या कोई मूर्ख मनुष्य भी मजूर नहीं कर सकता। इसलिए कर्म के पूर्व ही फल दे देना या कर्म करने को ही रोकते फिरना युक्तिसंगत नहीं है। युक्ति और न्याय के अनुसार वही है कि जीव स्वतन्त्रता से कर्म करें और ईश्वर स्वतन्त्रता से उनका न्याय करे। यही आज तक होता आया है और यही संसार की उत्पत्ति का प्रधान कारण है और ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता का पूर्ण प्रमाण है।

परमेश्वर की इस सर्वत्र व्यापकता पर कुछ लोग यह भी प्रश्न करते हैं कि जब परमात्मा इस अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य जीवों का न्याय करता है, तो क्या वह अपनी लम्बाई चौड़ाई को जानता है? क्या वह जानता है कि मैं कहाँ तक फैला हुआ हूँ? इस प्रश्न का इतना ही उत्तर है कि जिस प्रकार जीव अत्यन्त छोटा है, पर अपनी छोटाई को ठीक ठीक नहीं जानता कि मैं कितना छोटा हूँ उसी तरह परमात्मा बहुत बड़ा है, पर अपनी बड़ाई का अंत वह भी नहीं जानता कि मैं कितना बड़ा हूँ। क्योंकि अपने आपके जानने में सब अल्पज्ञ

---

* कभी कभी संसार में जो कुछ बातें अनियमित सी होती हुई दिखती हैं, वे अपवाद हैं। उन अपवादों के कारण जीवों के सामूहिक और अनियमित कर्म ही हैं।

ही होते हैं । जैसे आँख अपने आपके देखने और जानने में असमर्थ है, उसी तरह जीव और परमेश्वर भी अपनी छोटाई और बड़ाई जानने में असमर्थ हैं । इसलिए अपने आपकी पूरी मर्यादा का पूर्ण ज्ञान न होना अपने अभाव की दलील नहीं है । क्योंकि जब जीव अपनी छोटाई को न जानता हुआ भी है और अपने भाव को जानता है और जब आँख अपने आपको न देखती हुई भी है और अपने भाव को जानती है, तब परमात्मा भी अपनी अनन्तता को न जानता हुआ भी है और अपने भाव को जानता है । तात्पर्य यह है कि जो चीज़ जैसी होती है, वह वैसी ही प्रतीत होती है । जैसे जीव अत्यन्त छोटा है, पर वह अपनी अत्यंत छोटाई को नहीं जान सकता । यदि जान ले तो अत्यन्त छोटाई ही न रहे । इसी तरह परमात्मा अनंत है, यदि अनंतता को जान ले, तो उसकी अनन्तता ही न रहे, प्रत्युत अंतर नहीं आ सकता । परमात्मा अनंत है और अनंतता से सर्वत्र व्यापक होकर सब जीवों की न्यायव्यवस्था करता है, करता रहा है और करता रहेगा । यही सृष्टि के कारणों और उनके नियमों का दिग्दर्शन है । इसके आगे अब यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि यह सृष्टि किस प्रकार बनी ।

जड सृष्टि की उत्पत्ति

सृष्टि के परिवर्तन और प्राणियों के उत्तम और अधम स्वभावों से जाना जाता है कि यह सृष्टि कभी परिवर्तनरहित स्थिर दशा में थी और समस्त प्राणी स्थूल शरीरविहीन अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए किसी व्यवस्थापक के द्वारा किसी कामगार में जाने के योग्य हो रहे थे । हम इस पुस्तक के पृष्ठ १५१ में लिख आये हैं कि परिवर्तनशील पदार्थ भविष्य में परिवर्तनशून्य होकर स्थिर हो जाते हैं और भूतकाल में भी विना परिवर्तन के स्थिर दशा में ही रहते हैं । इसी सिद्धान्तानुसार यह परिवर्तनशील संसार भी भूतकाल में विना परिवर्तन के अपनी कारण दशा में ही स्थिर था । इसी तरह समस्त प्राणियों के परिवर्तनशील शरीर भी अपने कारणों में ही मिले हुए थे और समस्त चेतनशक्तियाँ शरीरहीन अवस्था में ही थीं, तथा अगले फल भोगने को उत्सुक हो रही थीं । अर्थात् सारा सामान नवीन सृष्टि निर्माण के योग्य प्रस्तुत था । ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वभाविक ही उपस्थित होता है कि सृष्टि उत्पत्ति किस प्रकार आरम्भ हुई है और वह किस प्रकार बनी ?

यद्यपि कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनादि प्रकार से सृष्टि सदैव बनती रही है, उसी प्रकार इस बार भी बनी । तथापि इतने से ही उन उलझनों का समाधान नहीं हो सकता, जो सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उत्पन्न हो गई हैं । सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की कई रायें हैं । कोई कहता है कि सृष्टि को प्राकृतिक शक्ति ने स्वयं बना लिया, कोई कहता है सृष्टि को जीवों ने मिलकर बना लिया और कोई कहता है कि सृष्टि को परमात्मा ने ही बना लिया है । ऐसी दशा में जब तक तीनों रायों की आलोचना न हो जाय तब तक कोई स्थिर सिद्धान्त कायम नहीं हो सकता । इसलिए हम यहाँ क्रम से तीनों मतों की आलोचना करते हैं ।

जो लोग कहते हैं कि प्राकृतिक शक्तियों ने स्वयं इस सृष्टि को उत्पन्न कर लिया है, वे ग़लती पर हैं । क्योंकि प्रकृति की शक्तियाँ परमाणुओं के ही अंदर हैं और परमाणु सब एक

समान हैं । ऐसी दशा में समान बलवाले परमाणु आप ही आप न तो आपस में मिल ही सकते हैं और न अलग ही हो सकते हैं । पर संसार में पदार्थों को मिलते और अलग होते हुए—बनते और बिगड़ते हुए—नित्य देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही एक समान है और न उनसे आप ही आप कोई कार्य बन और बिगड़ ही सकता है । यदि कुछ परमाणुओं को प्रबल और कुछ को हीन बलवाले मानें, तो भी काम नहीं चल सकता । क्योंकि प्रबल परमाणु हीनवालों को खींच लेंगे और कभी भी न छोड़ेंगे । फल यह होगा कि न किसी पदार्थ में परिवर्तन होगा और न कोई पदार्थ नष्ट ही होगा, प्रत्युत समस्त जगत् विना किसी प्रकार के परिवर्तन के ठोसे, स्थिर रूप से बना रहेगा । परंतु हम संसार के समस्त पदार्थों में परिवर्तन और विनाश देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही न्यूनाधिक है और न इस सृष्टि में न्यूनाधिक बल का प्रभाव ही है । इन सम और विषम दो प्रकार की शक्तियों के अतिरिक्त प्राकृतिक परमाणुओं में तीसरे प्रकार के अन्य बल की कल्पना नहीं हो सकती । इससे ज्ञात होता है कि दूर दूर स्थित परमाणु विना किसी माध्यम के एक दूसरे पर प्रभाव डालकर न तो आकर्षित ही कर सकते हैं और न आकृष्ट परमाणुओं को जुदा ही कर सकते हैं, इसलिए केवल प्राकृतिक शक्तियाँही सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकतीं ।

इसके सिवा जो लोग कहते हैं कि समस्त जीवों ने मिलकर सृष्टि को उत्पन्न कर लिया है, वे भी भूलते हैं । क्योंकि जो पदार्थ अणु, परिच्छिन्न एकदेशी होते हैं, चाहे भले वे चेतन और असंख्य ही क्यों न हों, वे अनंत सृष्टि को बुद्धिपूर्वक न तो बना ही सकते हैं और न उसको नियम में ही रख सकते हैं । इसका कारण जीवों की अल्पज्ञता और अणुरूपता ही है । संसार का बनाना तो बहुत दूर की बात है । वे आदि में अपने शरीरों को ही नहीं बना सकते । इसलिए अनेक चेतन मिलकर भी सृष्टि को नहीं बना सकते ।

जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने ही इस सृष्टि को बना लिया है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण है । जो चीज़ सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण होती है, वह हिल डुल नहीं सकती । परंतु सृष्टि उत्पन्न कर करने के लिए प्रकृतिपरमाणुओं में गति उत्पन्न करना पड़ता है और दूसरे पदार्थ में वही गति उत्पन्न कर सकता है, जो पहिले स्वयं गतिमान् होता है, इसलिए विना खुद हिले डुले परमात्मा भी परमाणुओं को हिला डुला नहीं सकता । इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार चुंबक विना खुद हिले डुले लोहे में गति उत्पन्न कर देता है, उसी तरह परमात्मा ने भी विना हिले डुले परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी है । पर इस युक्ति में यह एतराज़ हो सकता है कि प्रकृतिपरमाणुओं को तो परमेश्वर समान रूप से नित्य ही प्राप्त है, इसलिए नित्य एक ही प्रकार की गति हो सकती है, दो प्रकार की परस्पर—विरोधी गति नहीं । अर्थात् या तो सृष्टि ही बन जायगी या बिगड़ ही जायगी, या तो उत्पत्ति ही हो जायगी या विनाश ही हो जायगा, लेकिन वह न हो सकेगा कि परमेश्वर जब जैसा चाहे तब वैसा हो जाय, अर्थात् जब बनाना चाहे तब बन जाय और जब बिगाड़ना चाहे तब बिगड़ । क्योंकि चेतन की इच्छा का असर जड़ प्रकृति पर नहीं पड़ता, इसलिए परमेश्वर भी सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकता । ऐसी दशामें स्वाभाविक ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस सृष्टि को किसने किस प्रकार उत्पन्न किया ?

उपर्युक्त कोटि कल्पना से ज्ञात होता है कि तीनों पदार्थों में से एक भी ऐसा नहीं है, जो अकेला इस सृष्टि की रचना का आरंभ कर दे। किन्तु तीनों पदार्थों के एक विशेष प्रकार के क्रम की कल्पना करने से प्रतीत होता है कि उन्हीं तीनों की संयुक्त सहयोगशक्ति से सृष्ट्युत्पत्ति का आरंभ हो सकता है। क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर जैसा सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण पदार्थ मौजूद ही है, परमात्मा की इच्छाशक्ति से प्रभावित होनेवाली असंख्य चेतनशक्तियाँ भी जीवरूप से उसी में पिरोई हुई हैं और उन शक्तियों के आघात प्रतिघात से गति करनेवाले प्रकृतिपरमाणु भी उपस्थित ही हैं। ऐसी दशा में सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले सामान को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत तीनों के एक विशेष क्रम से ही काम चल सकता है। आर्यों ने उस क्रम को जान लिया है और उन्हीं तीनों पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों को ध्यान में रखकर वेद के आदेशानुसार इस जटिल और मौलिक प्रश्न को सुलझा लिया है। यजुर्वेद ३२।५ में लिखा है कि—

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजाया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी।

अर्थात् जिसके पहिले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, उसी सोलह कलावाले प्रजापति-परमेश्वर—ने प्रजा के साथ रमते हुए अग्नि, विद्युत् और सूर्य को बनाया। इस मंत्र में बतलाया गया है कि आरम्भ में परमात्मा ने जीवों में प्रेरणा करके सारी प्रकृति में हलचल उत्पन्न कर दी है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि— 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' अर्थात् परमात्मा और आत्मा से आकाश (ईथर), आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी बनी है। इस वर्णन में भी परमात्मा अथवा आत्मा से ही प्रकृति में गति की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि— 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' अर्थात् परमात्मा ने जीवों में विशेष रूप से प्रविष्ट होकर इस नामरूपात्मक संसार की रचना की है। इसी तरह मनु ने भी कहा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने सजग होकर सबसे पहिले मन (जीवों) को उद्बोधित किया और मनसे समस्त प्रकृति में हलचल हो गई + कहने का मतलब यह कि वेदों से लेकर उपनिषद् और मनुस्मृति आदि तक समस्त आर्ष ग्रंथ एक स्वर से कहते हैं कि परमात्मा ने पहिले अपनी इच्छाशक्ति से चेतन जीवों को उद्बोधित किया और जीवों ने अपनी हलचल से समस्त प्रकृति—परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी। यह बात ठीक भी प्रतीत होती है। क्योंकि परिपूर्ण परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति से जीवों में हलचल कर सकता है और उसकी इच्छाशक्ति का असर चेतन जीवों पर पड़ सकता है। इसी तरह जीवों की हरकत का वर्णन प्रभाव भी परमाणुओं पर पड़ सकता है। इसका नमूना हम नित्य अपने शरीर में देखते हैं। जिस प्रकार हमारे हर्ष, शोक और चिन्ता का असर शरीर-परमाणुओं पर पड़ता है और मुखमुद्रा में अन्तर पड़ जाता है और जिस प्रकार हमारी इच्छा से ही हाथ, पैर और अन्य

+ तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानसिसृक्षया॥ (मनु० १।७४-७५)

अङ्गों के परमाणु भी गति करते हैं और शरीर के समस्त व्यापार होते हैं, उसी तरह आदि में जीवों की हलचल से भी समस्त परमाणुसमूह में हलचल उत्पन्न हो सकती है। अतएव आदि में इसी प्रकार की क्रिया होती है। जब परमात्मा जीवों को प्रेरित करता है, तब उनमें इतना वेग उत्पन्न हो जाता है कि समस्त प्राकृतिक परमाणु अत्यंत वेग से गतिमान् हो जाते हैं।

इस गति से प्रकृति के पाँचों कर्म उत्पन्न होते हैं ×। अग्नि का गुण ऊपर जाना है, इसलिये अग्नि के परमाणु ऊपर को चलते हैं और जल का गुण नीचे जाना है, इसलिए जल के परमाणु नीचे को जाते हैं और दोनों शक्तियाँ टकरा जाती हैं। इन दोनों विरुद्ध शक्तियों के टकराने से एक विशाल ठेलपेल आरम्भ होती है। इसी समय पृथिवी के आकर्षणगुणवाले परमाणु इस विशाल ठेलपेल को ठहराते हैं, वायु के प्रसारण गुणवाले परमाणु उस सघन ठेलपेल में धक्का लगाते हैं और आकाश (ईथर) के परमाणु उस ठेलपेल को गमन करने के लिए स्थान देते हैं। फल यह होता कि वह सारा परमाणुसमूह चक्राकार गति में हो जाता है। जिस प्रकार गोली खेलनेवाले लड़के उँगलियों से गोली में दो विरुद्ध गतियों को देकर, कलाइयों से थामकर और हाथ आगे बढ़ाकर गोली को ज़मीन में डाल देते हैं और वह गोली नाचने लगती है, उसी प्रकार प्रकृति के पाँचों कर्म प्रकृति–परमाणु–पुञ्ज को चक्राकार गति में नचा देते हैं। यही चक्राकार गति में फिरनेवाला आदिम प्रकृति–पुञ्ज वेद में हिरण्यगर्भ और लोक में ब्रह्मा कहा गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' अर्थात् सबसे पहिले हिरण्यगर्भ नाम का महान् चमकीला और बहुत बड़ा प्राकृतिक गोला उत्पन्न हुआ। इस हिरण्यगर्भ गोले के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् हज़ारों सूर्य के समानवाले इस गोले में सर्वलोकपितामह–ब्रह्मा–उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के नामों को गिनते हुए अमरकोश में लिखा है कि—

ब्रह्मात्मभूः सुरश्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः ।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः ॥ (अमरकोश)

अर्थात् ब्रह्मा, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयंभू और चतुरानन एक ही पदार्थ के नाम हैं। इसमें ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ को एक ही पदार्थ बतलाया है। वेद में दूसरी जगह इसी गोले को '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र-**

× वैशेषिक दर्शन में '**उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि**' लिखकर पाँच कर्मों का निर्देश किया गया है। ये पाँचों कर्म पाँचों भौतिक तत्त्वों के हैं। अग्नि कहीं भी जलाई जाय, उसकी गति ऊपर को ही होती है और जल कहीं भी डाला जाय, उसकी गति नीचे को ही होती है। इसी तरह पृथिवी आकर्षण करती है, हवा फैलाती है और आकाश गमनागमन के लिए स्थान देता है।

पात्' अर्थात् हज़ारों शिरों, हज़ारों आँखों और हज़ारों पैरोंवाला कहा गया है। अर्थात् इस आदिम सृष्टि गर्भ को भारतीय साहित्य में सहस्रशीर्ष, हिरण्यगर्भ, स्वयंभू, हेमाण्ड और ब्रह्मा आदि नामों से कहा गया है और इसी को पाश्चात्य वैज्ञानिक नेब्यूलाथियरी में गेसेसमास कहते हैं। यही इस वर्तमान सृष्टि का मूल और बीज है।

कहते हैं कि समय पाकर इसी गोले से अनेक गोले उत्पन्न हो गये और अलग अलग अनेकों सूर्य के नाम से आकाश में फैल गये। इस प्रकार के प्रत्येक सौर जगत् को विराट् कहा गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि उसी हिरण्यगर्भ गोले के दो भाग हो गये और उन्हीं से विराट् की उत्पत्ति हुई *। वेद में लिखा है कि '**ततो विराडजायत**' अर्थात् उसी सहस्र शिरवाले हिरण्यगर्भ से विराट् पैदा हुआ और '**पश्चाद् भूमिमथो पुरः**' अर्थात् इसके बाद भूमि उत्पन्न हुई। इस वर्णन से मालूम होता है कि इस अनंत सृष्टि में अनेकों विराट् हैं। क्योंकि विराट् पुरुष के शरीर की जो मर्यादा वेदों में लिखी है, वह उतनी है, जितनी कि एक सौर जगत् की है। विराट पुरुष का वर्णन करते हुए वेद में कहा गया है कि '**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत, यस्य वातः प्राणः, चक्षोः सूर्योऽजायत, दिशः श्रोत्रम्, नाभ्यासीदन्तरिक्षम्, पद्भ्यां भूमिः**' अर्थात् विराट् का शिर द्यौ—आकाश—है ×, वायु प्राण—बाहुबल—है +, सूर्य नेत्र है, दिशाएँ कान हैं, अन्तरिक्ष नाभि है § और पृथिवी पैर है। विराट् का यह सारा वर्णन मनुष्य के रूप से मिलाया गया है और आदिम ब्रह्मारूपी पितामह की उत्पत्ति से लेकर पिता विराट् और माता पृथिवी की उत्पत्ति तक का वर्णन किया है। इस उत्पत्तिक्रम में पहिले हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा—की उत्पत्ति बतलाई गई है, फिर ब्रह्मा से विराट् पुरुष अर्थात् सौर जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है और अन्त में कहा गया है कि पृथिवी उत्पन्न हुई। इस प्रकार से जड़ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करके अब आगे चेतनसृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं।

चेतन सृष्टि की उत्पत्ति।

हम गत पृष्ठों में कह आये हैं कि इस सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों के कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। जीव अनादि काल से कर्म करते हुए चले आ रहे हैं और परमात्मा भी अनादि काल से उनको कर्मफल देता हुआ चला आ रहा है। इसीलिए प्रत्येक प्रलय के बाद नवीन सृष्टि होती है और जब सूर्य, चन्द्र और पृथिवी आदि की

---

* द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥ (मनुस्मृति)

× द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योमपुष्करमम्बरम्।
नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्॥ (अमरकोश)

\+ प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् तस्माद् बाहुबलम्।
(शत० ब्रा० १४।८।१६)

§ जिस तरह मनुष्य के पेट में जठराग्नि और अन्नरस रहता है, उसी तरह विराट् के अन्तरिक्षरूपी पेट में विद्युद्रूपी जठराग्नि और रसरूपी मेघजल रहता है।

रचना हो जाती है, तब पृथिवी के अनुकूल हो जाने पर परमात्मा जीवों के शेष कर्मों के अनुसार उनको नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करता है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

यं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ (मनु० १।२८)

अर्थात् उस प्रभु-परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जिसकी जिस स्वाभाविक कर्म में योजना की, उसने उत्पन्न होकर वही स्वाभाविक कर्म किया। तात्पर्य यह कि जिसको जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि में उत्पन्न किया। इस कर्म और कर्मानुसार शरीरधारण के सिद्धान्तानुसार समस्त कर्मों और समस्त शरीरों को तीन भाग में बाँटा जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि समस्त कर्मों के तीन वर्ग हैं, तदनुसार समस्त प्राणिशरीरों के भी तीन ही वर्ग हैं। कर्मों के तीन वर्ग सात्त्विक, राजस और तामस हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में आचार, अनाचार और अत्याचार कहते हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म बुद्धि, निर्बुद्धि और प्रमाद से किये जाते हैं। सृष्टिनियमों के अनुसार और धर्मानुकूल बुद्धिपूर्वक आचरण-व्यवहार-का नाम आचार है और वह सात्त्विक कर्म कहलाता है। सृष्टिनियमों को बिना जाने निर्बुद्धितापूर्वक कुछ न कुछ कर डालने का नाम आचरण है और वह राजस कर्म कहलाता है और प्रमाद, आलस्य तथा अभिमान से किये गये सृष्टि के प्रतिकूल अधर्माचरणों का नाम अत्याचार है। और वे तामस कर्म कहलाते हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के कर्मों के अनुसार तीन प्रकार के शरीर बनते हैं।

ज्ञानयुक्त सात्त्विक कर्मों के करने से ज्ञानयुक्त मनुष्यशरीर बनता है, अज्ञानयुक्त कुछ न कुछ उलटे सीधे कर्मों के करने से अज्ञानयुक्त पशुशरीर बनता है और आलस, प्रमाद, तथा अभिमानयुक्त दुष्कर्मों के करने से ज्ञान और कर्महीन अंधकारमय वृक्षशरीर बनता है। ज्ञानपूर्वक इंद्रियों के उपयोग करने से मनुष्यों को ज्ञान और कर्म के धारण करनेवाले परिपूर्ण अङ्ग दिये गये हैं, अज्ञानवश केवल कुछ न कुछ करने से पशुओं को ज्ञानहीन केवल कुछ न कुछ कर लेनेवाले अपूर्ण अङ्ग दिये गये हैं और ज्ञान तथा कर्म दोनों का जान-बूझकर दुरुपयोग करने से वृक्षों को ज्ञान और कर्म दोनों से वंचित कर दिया गया है। इस प्रकार से तीन क़िस्म के कर्मों के कारण तीन वर्ग के प्राणी—मनुष्य, पशु, और वृक्ष—बने हैं। इन तीनों में मनुष्य ज्ञानयुक्त और कर्म करने में समर्थ हैं, पशु ज्ञानहीन और कर्म करने में समर्थ हैं और वृक्ष ज्ञान तथा कर्म दोनों में असमर्थ हैं।

संसार का यह नियम है कि जो ज्ञान में और कर्म करने में पूर्ण होता है, वह ज्ञानशून्य का भोक्ता होता है और ज्ञानशून्य उसका भोग्य होता है। इसी तरह जो कर्म कर सकता है, वह ज्ञान और कर्मशून्य का भोक्ता होता है और ज्ञानकर्मशून्य उसका भोग्य होता है। इसके सिवा संसार का दूसरा यह भी नियम है कि पहिले भोग्य उत्पन्न होता है, तब भोक्ता पैदा होता है। जिस प्रकार पहिले दूध उत्पन्न हो जाता है तब बच्चा पैदा होता है, उसी तरह जब पशुओं के भोग्य वृक्ष पहिले उत्पन्न हो जाते हैं, तब पशु उत्पन्न होते हैं और जब मनुष्यों के भोग्य वृक्ष और पशु उत्पन्न हो जाते हैं, तब दोनों का उपभोग करनेवाला

मनुष्य उत्पन्न होता है। इसी नियम के अनुसार इस चेतन सृष्टि में सबसे पहिले वृक्ष उत्पन्न हुए, वृक्षों के बाद पशु उत्पन्न हुए और पशुओं के बाद मनुष्य उत्पन्न हुए। वेद में चेतन सृष्टि की उत्पत्ति इसी क्रम से लिखी है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत।(अ० ३१)

अर्थात् पहिले पृषद नामक भक्ष्यान्न—वनस्पतियाँ—उत्पन्न हुईं+ फिर उड़नेवाले, आरण्य में चरनेवाले और ग्रामों में रहनेवाले पशु उत्पन्न हुए और इनके बाद ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र अर्थात् मनुष्य उत्पन्न हुए। इस तरह से समस्त चेतनसृष्टि की उत्पत्ति हुई और स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हुई। किन्तु सृष्टि उत्पति का एक अस्वाभाविक क्रम और है, जिसको प्रयोग आपत्ति के समय ही होता है। इस नियम का सिद्धान्त यह है कि जो जिसको सताता है, वह उससे सताया जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार जिस समय समस्त मनुष्यसमाज अनाचारी, अत्याचारी, कामुक, बेहिसाब संतति का विस्तार करनेवाला, मांसाहारी और युद्धकारी होकर प्राणीयों का संहार करता है और जिस समय मनुष्यसमाज जंगलों को काटकर पहाड़ों, समुद्रों और भौगर्भिक उथलपथलों को करके संसार में प्राकृतिक विप्लवों (Disturbances) को उत्पन्न करके भी प्राणीयों का संहार कर देता है, उस समय सृष्टि के स्वाभाविक नियम बिगड़ जाते हैं और प्राणियों को कष्ट होता है, अतः उन नियमों की रक्षा करने के लिए सृष्टि का नियामक अत्याचारी प्राणियों की वृद्धि कर देता है। अर्थात् मांसाहारी मनुष्यों को बकरों और गौ आदिकों में और बकरों तथा गौ आदिकों को भेड़ियों और सिंह आदि हिंस्र पशुओं में उत्पन्न कर देता है। इसी तरह अनेक पीड़ित प्राणियों को बीमारी के कृमियों (Germs) में और अनेक पीड़ा देनेवालों को कीटपतङ्गों में उत्पन्न कर देता है। फल यह होता है कि जहाँ सीधे सादे मनुष्यों और पशुओं को अत्याचारी सताते हैं और बेजा तौर से अपना स्वार्थसाधन करते हैं, वहाँ पीड़ित प्राणी भी अपना बदला लेकर पीड़कों को भी पीड़ा पहुँचाते हैं। अर्थात जिन्होंने जिनको मारकर खाया है, वे भी उनको मारकर खा जाते हैं ×। यही सृष्टि के दोनों प्रशस्त क्रम हैं और इन्हीं क्रमों के अनुसार स्वाभाविक और आपत्कालिक सृष्टि उत्पन्न होती है। यह स्वाभाविक और आपत्कालिक क्रम अनादि हैं। जब जब इस प्रकार के मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तब तब इसी प्रकार की सृष्टि होती है। इसी नियम के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि में भी दोनों प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए। स्वाभाविक

+ पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

× मां—स—भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ (मनु० ५।५५)

अर्थात् जिसका मैं यहाँ मांस खाता हूँ, वह परलोक में मेरा मांस खायगा। विद्वानों ने मांस शब्द की यही निरुक्ति की है।

नियमानुसार खड़े आड़े और उलटे शरीर की योनियाँ उत्पन्न हुई और आपत्कालिक नियमानुसार मकड़ी, बक और बतक आदि थोड़ी सी ऐसी भी योनियाँ सृष्ट्यारंभ ही में उत्पन्न हुई, जो स्वभावतः दूसरे प्राणियों का नाश करने लगीं। परंतु सृष्ट्यारंभ के बहुत दिन बाद जब मनुष्यों में महा अत्याचारियों की अधिकता हुई, तब परमात्मा ने उन सिंहव्याघ्रादि हिंस्र पशुओं में भी प्राणियों को मारकर खानेवाले उत्पन्न कर दिये, जो पहिले मृतक मांस को खाकर केवल संसार की सफ़ाई ही करते थे और ज़िन्दा जानवर को मारकर नहीं खाते थे। यही इस वर्तमान चेतन सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य है। किंतु प्रश्न यह है कि प्रथम कही हुई जड सृष्टि के साथ इस चेतन सृष्टि का संबंध क्या है?

जड सृष्टि से चेतन सृष्टि का सम्बन्ध।

जड सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए हम लिख आये हैं कि हमारा यह सौर जगत् ही विराट् है। इस विराट् का शिर द्यो अर्थात् सूर्यस्थानी आकाश है, नेत्र सूर्य हैं, प्राण हवा है, पेट विद्युत् और मेघ हैं और पैर पृथिवी है। पृथिवी से लेकर आकाश तक इस विराट् के खड़े आकार का यह रूपक मनुष्य के खड़े शरीर के साथ मिल जाता है अर्थात् मनुष्य का भी शिर द्यौ की ओर और पैर पृथिवी की ओर ही हैं और वह भी विराट् की तरह खड़े शरीरवाला ही है इसका कारण विराट् और मनुष्य का पितापुत्रसंबंध ही है आदिम अमैथुनी सृष्टि विराट् से ही उत्पन्न होती है, इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि मैं—मनुष्य—विराट् से ही उत्पन्न हुआ हूँ ×। मनुष्य विराट् के ही आकार का है। इसीलिए बाइबल में भी कहा गया है कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति का बनाया। 'अङ्गादङ्गात्संभवसि' के अनुसार विराट् के प्रत्येक अङ्ग से मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग की उत्पत्ति हुई है और दोनों के अङ्गो का आधार आधेय संबंध है। मनुष्यके शिर का आधार द्यौ है, अतः जब तक शिर द्यौ की ओर रहता है, तभी तक मनुष्यका मस्तिष्क और मेधा काम करती है। परंतु ज्यों ही शिर द्यो की ओरसे हट जाता है, त्यों ही मस्तिष्क की मेधा अर्थात् ज्ञानशक्ति मंद और अंधकाराच्छन्न हो जाती है। यह बात हमको दो अनुभवों से ज्ञात होती है। एक तो जब हम अपने शिर को द्यौ की ओर से हटाकर लेट जाते हैं, तो निद्रा आने लगती है और ज्ञानशक्ति मंद पड़ने लगती है, अर्थात् हम बिना द्यौ की ओर से शिर को हटाये सो नहीं सकते-बेहोश नहीं हो सकते। दूसरे जब हम कोई नशा पीते हैं और हमारी बुद्धि मंद होने लगती है तब हमारे पैर लड़खड़ाने लगते हैं और हम गिरने लगते हैं अथवा पड़कर सो जाते हैं। अर्थात् हम बुद्धि खोकर और बेहोश होकर खड़े नहीं रह सकते। इन दोनों नित्य के अनुभवों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो रही है कि हमारे शिर और बुद्धि का द्यौलोक से आधाराधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार द्यौ का शिर के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह सूर्य और नेत्रों का भी सम्बन्ध है। जब तक सूर्य रहता है, तभी तक नेत्र काम देते हैं, पर जब सूर्य अस्त हो जाता है और अँधेरा हो जाता है, तब नेत्र भी अन्धे हो जाते हैं। संसार में जितना प्रकाश है, चाहे बिजली का हो अथवा अग्नि का, सब सूर्य से ही प्राप्त होता है।

× तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः।

इसीलिए वेद में सूर्य और अग्नि को एक ही कहा गया है +। इस सूर्यरूपी अग्नि से ही बिजली, गैस और तेल के चिराग़ जलते हैं और चिरागों को जलाकर ही सूर्य का स्थानापन्न प्रकाश उत्पन्न किया जाता है तब नेत्र काम देते हैं। कहने का मतलब यह कि सूर्य और नेत्रों का भी आधाराधार ही सम्बन्ध है। वायु और प्राणों का तथा प्राणों और बाहुबलों का भी वही सम्बन्ध है। यदि संसार से वायु खींच ली जाय, तो हम एक बार भी साँस नहीं ले सकते और विना प्राण के थोड़ा भी बल प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए 'प्राणो वै बलं' कहा गया है। प्राण और बल का संबंध उस समय अधिक स्पष्ट होता है, जब काम करते करते मनुष्य की दम उखड़ जाती है। दम उखड़ते ही मनुष्य निर्बल हो जाता है, इसलिए वायु और प्राण का तथा प्राण और बल का भी आधाराधेय ही संबंध सिद्ध होता है। पृथिवी और पैरों का जैसा घनिष्ठ संबंध है, वह प्रत्यक्ष ही है। अर्थात् विना पृथिवी के कोई भी खड़ा नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह कि हमारे जितने अङ्ग-उपाङ्ग हैं, वे सब विराट् के अङ्गों। साथ नत्थी हैं और उन्हीं के सहारे स्थिर हैं।

हम लिख आये हैं कि मनुष्य को यह शरीर बुद्धिपूर्वक सात्त्विक कर्म करने से ही मिला है। अर्थात् बुद्धि के सदुपयोग ही से वह विराट् की आकृति का बन सका है और इस प्रकार विराट् के प्रत्येक अंग से सहयोग प्राप्त कर सका है। किंतु जिन मनुष्यों ने बुद्धि का उचित उपयोग नहीं किया, केवल अन्धपरम्परा से कुछ न कुछ करते रहे हैं, उनकी बुद्धि का सदर मुक़ाम, शिर, द्यौलोक की ओर से हटाकर क्षितिज की ओर आडा कर दिया गया है और सब पशु बना दिये गिये हैं। बुलबुल से लेकर शुतुरमुर्ग़ तक, मछली से लेकर मगर तक, हाथी से लेकर लीख तक और बंदर से लेकर वनमनुष्य (गौरिला) तक जितने पशु कहलानेवाले प्राणी हैं, सब आड़े शरीरवाले ही हैं। इनमें से किसी का शिर आकाश की ओर नहीं है। हाँ, ये चलते फिरते अवश्य हैं। इस से ज्ञात होता है कि इनका कर्मेंद्रियों का ह्रास नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि इन्होंने जान बूझकर अनाचार नहीं किया। परन्तु जिन मनुष्यों ने प्रमाद और अभिमान से जान बूझकर दुष्कर्म किये हैं, उनकी कर्मेन्द्रियाँ भी छीन ली गई हैं और उनकी ज्ञानेन्द्रियों का सदर मुक़ाम 'शिर' ज़मीन में गाड दिया गया है और सब वृक्ष बना दिये गये है ×। इसीलिए न तो वे कुछ ज्ञान ही रखते हैं और न इधर उधर चल फिर ही सकते हैं। इसी त्रिगुणात्मक सृष्टि के विषय में कपिलमुनि कहते हैं कि—

> ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला तमोविशाला मूलतः मध्ये रजोविशाला।
> आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः।
> आब्रह्मस्तम्बपर्यंतं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्। (सांख्यदर्शन)

+ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः, ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः। (यजु० ३।९)

× इमर्सन नामी विद्वान् भी कहता है कि 'Trees are imperfeict men' अर्थात् वृक्ष अपूर्ण मनुष्य हैं।

अर्थात् सतोगुणी कर्म करनेवाले ऊपर की ओर जाते हैं, रजोगुणी मध्य की ओर जाते हैं और तमोगुणी नीचे की ओर जाते हैं। इस तरह से इन योनियों का एक दूसरी में जाने का चक्कर लगा ही रहता है। परन्तु ब्रह्मा अर्थात् मनुष्यजाति के आदि पितामह से लेकर स्तम्ब अर्थात् वृक्षों तक विवेक करने से यह चक्कर छूट जाता है। इन सूत्रों में मनुष्य से लेकर वृक्षों तक के चक्कर को बतला कर स्पष्ट कर दिया गया है कि सतोगुणी मनुष्य खड़े शरीरवाले, रजोगुणी पशु आड़े शरीरवाले और तमोगुणी वृक्ष उलटे शरीरवाले हैं और अपने अपने कर्मों के अनुसार विराट् अर्थात् जड़ सृष्टि के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल संबंध रखते हैं।

चेतन सृष्टि का पारस्परिक सम्बन्ध।

जिस प्रकार प्राणियों का जड़ सृष्टि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनका आपस में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम लिख आये हैं कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार प्राणियों के शरीर बनाता है और दण्ड–भोग के साथ साथ दुःख देनेवाले से दुःखप्राप्त को प्रतिफल भी दिखलाता है। यह प्रतिफल एक प्रकार का ऋण होता है। यही कारण है कि अनाचारियों और अत्याचारियों की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेंद्रियों का संकोच करके वह उनको इस प्रकार का बना देता है कि वे आसानी से उत्कृष्टेन्द्रिय प्राणियों के क़ाबू में आ जाते हैं और उनका भोग्य बनकर ऋण चुकाते रहते हैं। यही कारण है कि भोग्य पहिले और भोक्ता उनके बाद होते हैं।

हम लिख आये हैं कि आदि सृष्टि में पहिले वृक्ष, फिर पशु और पशुओं के बाद मनुष्य हुए। इसका कारण यही है कि पशुओं और वृक्षों ने पूर्व जन्म में अपने मनुष्य शरीर द्वारा अन्य मनुष्यों को नुक़सान पहुँचाया है, इसलिए मनुष्यों की अपेक्षा हीनेंद्रिय होकर और उनके क़ाबू में आकर मनुष्यों का ऋण चुका रहे हैं और वृक्षों ने अपने पूर्वकालीन मनुष्य शरीर द्वारा पशुओं और मनुष्यों दोनों को नुक़सान पहुँचाया है, इसलिए वे पशुओं और मनुष्यों के क़ाबू में आकर उनके उपभोग में आ रहे हैं और ऋण चुका रहे हैं। परन्तु पशुओं ने पूर्वजन्म में वृक्षशरीरधारी पूर्व जन्म के पशुओं को नुक़सान नहीं पहुँचाया, इसलिए वे इस जन्म में वृक्षों को कुछ भी नहीं देते, प्रत्युत वृक्षों से लेते हैं। इस तरह से वृक्ष और पशु मनुष्यों के ऋणी हैं, पर मनुष्य इन दोनों में किसी का ऋणी नहीं है। इसी तरह पशु भी मनुष्यों के ऋणी हैं, पर वृक्षों के ऋणी नहीं हैं। परन्तु वृक्ष पशुओं तथा मनुष्य दोनों के ऋणी हैं और उनका ऋणी कोई नहीं है। इसीलिए सब प्राणी परस्पर बिना किसी रोक टोक के अपना अपना देना पावना देते और लेते हैं। अर्थात् सब एक दूसरे की सहायता से जीते हैं। हम यहाँ कतिपय प्राणियों का वर्णन करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार अपने से उत्कृष्टेन्द्रिय मनुष्य की सेवा कर रहे हैं।

गाय, भैंस, बकरी और भेड़ें दूध देकर, भेड़ और बकरियाँ बालों के लिए ऊन देकर, घोड़े, बैल, गधे, ऊँट, खच्चर और हाथी आदि सवारी तथा बारबरदारी का काम देकर और कुत्ते चौकी पहरा तथा एक अच्छे साथी का काम देकर मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। जिस प्रकार यह प्राणी अनेक प्रकार के पदार्थों को देकर मनुष्य का ऋण चुका रहे हैं, उसी

तरह सिंह, व्याघ्र, शृगाल, बिल्ली और गीध आदि मांसाहारी प्राणी मृतक शरीरों का मांस खाकर सफ़ाई का काम कर रहे हैं। यदि ये प्राणी मृतक प्राणियों को खाकर सफ़ाई न करें तो मुर्दों के पहाड़ लग जायँ और उनकी सड़ाँद से मनुष्यों का जीना दुर्लभ हो जाय। इसी तरह सुवर, मुर्गा, चील, कौवे और चिउँटी आदि भी मल और सड़े मांस को खाकर और पृथिवी को पवित्र बनाकर मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त मछलियाँ तथा अन्य सभी जलजन्तु पानी को स्वच्छ करते हैं। समुद्र में यदि मछलियाँ न हों, तो उसका पानी मलिनता के कारण इतना स्थूल हो जाय कि वह सूर्यताप से तप्त ही न हो और वहाँ बादल ही न बन सकें। 'अहिंसाधर्मप्रकाश' के उत्तरार्ध (पृष्ठ ७६) में लिखा है कि तुर्किस्तान के आसपास रक्तसमुद्र में मछलियाँ नहीं हैं, इसलिए वहाँ का पानी बहुत ही गंदा हो गया है और वहाँ वर्षा एकदम बंद हो गई है। जिस प्रकार जलज तु जल को स्वच्छ करते हैं, उसी प्रकार वायु में उड़नेवाले पक्षी और कृमि भी वायु के मल को खा जाते हैं और वायु को शुद्ध कर देते हैं। उसी तरह सर्प और बिच्छू आदि विषैले प्राणी भी जल, स्थल और वायु के विष को खा जाते हैं और संसार को विषहीन बनाये रखत हैं।

इन सेवा के अतिरिक्त अनेकों पशु, पक्षी और कीड़े मनुष्य को वैज्ञानिक विषयों में भी बड़ी सहायता देते हैं। भेड़ ऐसे स्थान में नहीं बैठती, जहाँ जमीन के नीचे पोल होती है। यदि पुराता कुवाँ दीवार के गिर जाने से दब जाता है, तो भेड़ उतनी गोल ज़मीन को छोड़ कर बैठती है। इससे भूगर्भविद्यासम्बन्धी अनेकों बातें जानी जाती हैं। इसी तरह जोंक (जलौका) बड़े बडे तूफ़ानों को बतला देती है। आप एक गिलास में पानी भरिये और एक जोंक को उसमें डाल दीजिये। यदि तूफ़ान आनेवाला है, तो जोंक पेंदी में बैठ जायगी और यदि तूफ़ान आनेवाला नहीं है तो जोंक पानी के उपर ही तैरती रहेगी। किन्तु यदि तूफ़ान अभी दूर है और देर से आनेवाला है तो जोंक पानी के बीचोबीच विकलसी तड़पड़ाती रहेगी। इसके अतिरिक्त जोंक खराब खून के निकालने का भी काम करती है। इसी तरह अग्निप्रताप, भूकम्प, तूफ़ान और वर्षा आने के पूर्व ही छोटी छोटी चिउँटियाँ अपने अपने अंडों को लेकर भागती हैं, जिससे वर्षा का ज्ञान होता है। हिमालय के पक्षी बर्फ़ पड़ने की सूचना देते हैं और खंजन पक्षी इस सूचना को हर साल यहाँ तक पहूँचता है। इसी तरह मंडूक भी पानी सूखने की सूचना देते हैं। एक तालाब का पानी जब सूख जाता है, तो वे दुसरे तालाब को चले जाते हैं और दूरस्थित जल का रास्ता अपने आप जान लेते हैं, तथा जिस पानी में रहते हैं, उस पानी के सूखने की ख़बर भी वे पहले से ही पा जाते हैं। इन बातों से मनुष्य लाभ उठा सकता है। उसी तरह कबूतर पक्षी तार और डाक का काम देते हैं। जहाँ तार चिट्ठी नहीं जा सकती, वहाँ कबूतर ही ख़बर पहूँचाते हैं।

जिस प्रकार ये पशुपक्षी मनुष्य की नाना प्रकार से सेवा करते हैं, उसी तरह वृक्ष भी फलफूल देकर, अन्न देकर, औषधियाँ देकर और वर्षा आदि अनेकों प्रकार के अमूल्य साधनों को देकर मनुष्य की सेवा करते हैं। ये वृक्ष मनुष्यों की ही नहीं प्रत्युत नाना प्रकार के फल, फूल, तृण और अन्न आदि देकर पशुपक्षियों की भी सेवा करते हैं। कहने का मतलब यह कि समस्त हीनाङ्ग प्राणी अपने से उत्तमाङ्ग प्राणी की सेवा करकें उसके ऋण से मुक्त होते हैं।

यह क्रम हमको इन तीन ही प्रधान थोकों में नहीं दिखलाई पड़ता, प्रत्युत वह इन तीनों महाविभागों के अंतर्गत अवांतर उपविभागों में भी दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार एक प्रतिभावान् पुरुष के प्रभाव में साधारण बुद्धि के अनेकों आदमी आ जाते हैं और स्वाभाविक ही प्रतिभावान का आदर और सत्कार करने लगते हैं, उसी प्रकार पशुओं और वृक्षों के अंतर्गत उनकी समस्त उपशाखाएँ भी एक दूसरी की सहायता देती हैं। सिंहादि मांसाहारियों को अपना मांस देकर यदि दूसरे प्राणी सहायता न दें, तो क्या एक दिन भी हिंसक जंतु संसार में रह सकते हैं? इसी तरह दीमक यदि घर बनाकर सर्प को न दे और कौवा यदि कोयल के बच्चों की परवरिश न कर दे, तो क्या संसार में सर्पों और कोयलों का कहीं पता मिल सकता है? लोग कहते हैं कि यदि बंदर संसार में न रहें, तो घोड़ों का नाम निशान ही मिट जाय। क्योंकि घोड़ों के असाध्य रोग बंदरों के सहवास से अच्छे हो जाते हैं। इसी से 'घोड़े की बला बंदर के शिर' का मसला प्रचलित है। मसला ही प्रचलित नहीं है, किंतु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बड़े बड़े राजाओंके अस्तबलों में घोड़ोंके साथ बंदर भी बंधे रहते हैं। इससे कह सकते हैं कि यह मसला असत्य नहीं है।

जिस प्रकार पशुओं के समस्त अवांतर भेद परस्पर एक दूसरे की सेवा कर रहे हैं, उसी तरह वृक्षों भी अवांतर योनियाँ परस्पर सहायता कर रही है। यह बात हमको लताओं के देखने से बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट होती है। हम देखते हैं कि प्रायः सभी लताएँ वृक्षों के सहारे रहती हैं। यहाँ तक कि नागबेल आदि लताओं की तो परवरिश ही दूसरे वृक्षों पर होती है और बबूल वृक्ष की सहायता से तो ऊसर ज़मीन में भी घास होने लगती है। कहने का मतलब यह कि समस्त अवांतर योनियाँ परस्पर सहाय्य सहायक होकर और अपने से उच्च विभागों का ऋण चुका कर सेवा करती हैं और यह बात घोषणापूर्वक कहती हैं कि इस सृष्टि में एक भी ऐसी योनि नहीं है, जो निरर्थक हो और उसके सार्थक होने का कारण न हो।

चेतन सृष्टि की इस सुसङ्गठित बनावट से और जड सृष्टि के साथ उसके घनिष्ठ संबंध से प्रतीत होता है कि यह संसार एक बहुत बड़ा यंत्र है, जिसका सूर्य, चंद्र, पृथिवी, वायु और जलादि जड सृष्टि ढाँचा है और उस ढाँचे में जड़ी हुई समस्त चेतन योनियाँ उसके संश्लिष्ट पुरज़े हैं। इस यंत्र के कारीगर ने इसमें एक भी ऐसा पुरज़ा नहीं लगाया, जो बेमतलब और अकारण हो इसलिए इसका उपयोग बहुत ही समझ बूझकर करना चाहिये।

अध्ययन और विचार।

मोक्ष से संबंध रखनेवाले इन उपर्युक्त समस्त मौलिक सिद्धांतों का सुनाना और उन पर ध्यान से विचार करना आर्यसभ्यता का सबसे प्रधान लक्षण है। यही कारण है कि एक आर्यबालक आचार्यकुल में जाकर यज्ञोपवीत के दिन से ही सन्ध्योपासन के समय 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का पाठ नित्य पढ़ता है और गुरुमुख से नित्य इनका अर्थ सुनता है कि इस सूर्यचन्द्रादि सृष्टि को परमात्मा ने उसी तरह बनाया है, जिस तरह इस के पूर्व भी वह अनेकों बार बना चुका था। इस नित्य के श्रवनाध्ययन से धीरे धीरे

विद्यार्थी को सृष्टि के कारणों और उसके उत्पत्तिक्रमों का ज्ञान होने लगता है और हमने गत पृष्ठों में जिस वैदिक, आर्ष और आर्य रीति से सृष्टि के कारणों और उसके उत्पत्तिक्रमों का वर्णन किया है, उस रीति से सृष्टि का रहस्य खुल जाता है और उसके हृदय में तीन बातें निर्भ्रान्तरूप से अपना घर कर लेती हैं। पहिली बात तो उसके मन में यह जम जाती है कि इस सृष्टि को अनियमित, अस्वाभाविक और क्षुभित करनेवाला केवल मनुष्य ही है। जब तक मनुष्य उत्पन्न नहीं होता तब तक सृष्टि में कुछ अस्वाभाविकता अथवा पाप नहीं होता। प्रत्युत सब प्राणी सृष्टि के नियमों में बँधे हुए अपना अपना नियमित काम करते हैं और कोई किसी को दुःख नहीं देता। किन्तु मनुष्य के उत्पन्न होते ही संसार में अस्वाभाविकता आ जाती है ×।

इसका कारण मनुष्य का ज्ञानस्वातंत्र्य ही है। यह अपने ज्ञानस्वातंत्र्य से सृष्टि के नियमों का भंग करता है और समस्त प्राणियों को दुःखी कर देता है। दूसरी बात उसके मन में यह बैठ जाती है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब पूर्वजन्म के मनुष्य ही हैं। मनुष्यों ने अपने ज्ञानस्वातंत्र्य से जो सृष्टिनियमों के विरुद्ध कर्म किया है, उसके फलभोगार्थ उनको ये शरीर मिले हैं। क्योंकि इन प्राणियों के शरीरों की बनावट बिलकुल ही मनुष्य के शरीरों के साथ मिलती जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने जिस जिस अंग का दुरुपयोग किया है, वह वह अंग मन्द हो गया है और अब ये खड़े शरीरवाले न रहकर आड़े और उलटे शरीरवाले हो गये हैं। तीसरी बात उसके मन में यह स्थिर हो जाती है कि जब मनुष्य ही अपने दुष्कर्मों के कारण पशु, पक्षी और वृक्ष होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, तो अब ऐसे कर्म न करना चाहिये, जिससे पशु अथवा वृक्ष होना पड़े, किन्तु ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे इन पशुओं और वृक्षों के मूल कारण मनुष्यशरीर ही को धारण न करना पड़े।

इसके सिवा मनुष्यशरीर में भी तो सब दुःख ही भरा है। रोग, दोष, हानि, बिछोह, भय, चिन्ता और जरामरण आदि अनिवार्य कष्टों से छुटकारा इसमें भी तो नहीं है। इसमें भी तो राजा और सृष्टिशासन की अनिवार्य परतन्त्रता भोगनी पड़ती है। इसलिए अब इन शरीरों के फेर से ही निकल जाना चाहिए और आज से अब ऐसे कर्म करना चाहिये, जिनसे भविष्य में न तो स्वयं शरीर धारण करना पड़े और न अन्य प्राणियों को ही कष्ट हो, प्रत्युत एक ऐसा मोक्षमार्ग बन जाय कि जिसके द्वारा हम को भी मोक्ष मिल जाय और ये प्राणी भी मनुष्यशरीर में आकर मोक्षमार्गी बन जायँ। किन्तु प्रायः लोगों की ओर से इस कर्मयोनि और भोगयोनि के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धांत पर यह आपत्ति की जाती है कि जब मनुष्य ही कर्मयोनि है और वही कर्मवश कर्मफल भोगने के लिए अन्य भोगयोनियों में आता है और जब वही एक छोटे से मलिन पानी के कुंड में कृमिरूप से इतनी अधिक संख्या में मौजूद है, जो संख्या वर्तमान पौने दो अर्ब मनुष्यों से भी अधिक है तो क्या यह संभव है कि इतने अधिक मनुष्य कभी रहे हों, जिनकी संख्या वर्तमान समस्त

+ गोयथ (Goeth, भी कहता है कि 'All the prospect pleases; only man is vile' अर्थात् समस्त बुराइयों की जड़ मनुष्य ही है।

भोगयोनियों से भी अधिक रही हो और ये समस्त भोगयोनियाँ मनुष्य ही रही हों ? इस आपत्ति का उत्तर बहुत ही सरल है।

हम कुदरत में देखते हैं कि बहुत ही छोटी सी ग़लती की सज़ा बहुत ही अधिक मिलती है, यद्यपि ग़लती को छोटा नहीं कहा जा सकता। रास्ता चलते समय ज़रासा चूक जाने पर मनुष्य गिर जाता है और अपने हाथ पैर तोड़ बैठता है। इसी तरह एक वेश्यागामी ज़रा सा चूकने पर ऐसी ऐसी व्याधियों में पड़ जाता है कि जिनसे उसका सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है। थोड़े पाप में बड़ी सज़ा के इस नियमानुसार मनुष्य जब पाप करके नीच योनियों में जाता है, तो उसे एक एक योनि में कई कई बार जन्म लेना पड़ता है और समस्त योनियों का चक्कर लगा करके ही मनुष्ययोनि में आने का मौक़ा मिलता है। इस बीच में यदि किसी दुष्ट द्वारा अकाल ही में फिर मारा जाता है, तो उस अत्याचारी मनुष्य से बदला लेने के लिये आपत्काल के ईश्वरी नियमानुसार किसी हिंस्र योनि में जन्म लेकर अपने कर्मों को भी भोगता है और उस दुष्ट का भी संहार करता है। इसके अतिरिक्त जब सारा मनुष्यसमाज अत्याचारी हो जाता है और बेहिसाब प्राणियों का नाश कर देता है, तो नवीन उत्पन्न होनेवालों के लिए मातापिता ही का अभाव हो जाता है।

फल यह होता है कि पैदा होनेवाले बचे हुए थोड़े से ही माता पिताओं के द्वारा बहुत बड़ी संख्या में जन्मग्रहण करते हैं और आहारशून्यता से अकाल में मरते हैं और फिर उन्हीं योनियों में उत्पन्न होते हैं। कहने का मतलब यह कि मनुष्ययोनि से हटने पर प्राणी बड़े चक्कर में पड़ जाता है और वहाँ से लौटना ही कठिन हो जाता है। इधर मनुष्य बात बात में ग़लती करता है और छोटी ग़लती में बड़ी सज़ा के नियमानुसार कर्मफल भोगने के लिये दूसरी योनियों में जल्दी जल्दी जाता है और वहाँ देर तक रहता है। परिणाम यह होता है कि आमद कम और खर्च अधिक होने के कारण पशुसमुदाय की वृद्धि और मनुष्यसमुदाय की न्यूनता बनी रहती है। इस बात को एक दृष्टान्त से समझना चाहिये। कल्पना कीजिये कि आपने कुछ कपड़े धोबी को धोने के लिये दिये, पर वह जल्दी से धोकर न लाया और आपको दूसरे कपड़े फिर देने पड़े। किंतु फिर भी धुलकर जल्दी से न आये और फिर देने पड़े। इस तरह दो चार बार ही में घर से सब कपड़े धोबी के यहाँ जमा हो गये। अब कुछ दिन में वह चार छे कपड़े लाया, पर तब तक आपने और भी दश कपड़े मैले कर डाले और धोबी को दे दिये। फल यह हुआ कि आपके से धोबी के घर में कपड़े अधिक हो गये। जो हाल इस उदाहरण का है, वही मनुष्ययोनि की कमी और अन्य योनियों की अधिकता का है। यह सिलसिला अनादि काल से चला आता है और अनंत काल पर्यंत चला जायगा। इसलिए उपर्युक्त शंका कर्मयोनि और भोगयोनि के सिद्धांत को असिद्ध नहीं कर सकती और न इस बात को हटा सकती है कि कर्मयोनि मनुष्य ही इन भोगयोनियों में जाता है।

आर्यों ने अपने अध्ययन, अध्यापन और श्रवण–मनन के द्वारा अपनी सभ्यता के मूलाधार मोक्ष के प्रशस्त मार्ग का इस प्रकार निश्चय किया है। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया है कि अज्ञान और अभिमान से जो काम किये जाते हैं। उनसे प्राणियों को दुःख होता है और उस दुःख का प्रतिफल देने के लिए नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण

करना पड़ता है, इसलिए किसी भी प्राणी को चाहे वह मनुष्य, पशुपक्षी, कीटपतङ्ग, तृण-पल्लव आदि कोई हो कभी भी कष्ट न देना चाहिये। परन्तु लोग कहते हैं कि जब यह सिद्ध हो चुका कि समस्त पशुपक्षी, कीटपतङ्ग और तृणपल्लव पूर्वजन्म के अपराधी हैं—मनुष्य के ऋणी हैं—तब फिर इनके सुखदुःख और हानिलाभ की बात सोचना ही बेकार है। हम जिस तरह चाहें, उनका उपयोग कर सकते हैं और अपना ऋण ब्याज के सहित वसूल कर सकते हैं। इस वसूली में यदि उनका वध भी करना पड़े तो कोई पाप की बात नहीं है।

सुनने में ये बातें किसी अंश में ठीक प्रतीत होती हैं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का आरोप करनेवालों ने न तो अपराध और दण्डविधान ही पर ध्यान दिया है और न ऋण और ऋणदाता पर ही। अपराध और दण्डविधान वादी और प्रति-वादी के अधीन नहीं हैं, प्रत्युत वे न्यायाधीश के अधीन हैं। प्रत्येक अपराधी अपने वादी का अपराधी नहीं है, प्रत्युत वह उस विधान का अपराधी है जो न्यायाधीश की ओर से स्थिर किया गया है। इसलिए किसी वादी को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने प्रतिवादी को अपनी मर्ज़ी से कुछ भी कष्ट दे। यह अधिकार न्यायाधीश ही का है कि वह जो कुछ दण्ड —जुर्माना—करे, उसमें से अमुक भाग वादी को भी दिला दे, पर वादी अपनी मर्ज़ी से कुछ भी नहीं ले सकता। इसी तरह ऋणदाता भी ऋणी से तक़ाज़ा ही कर सकता है, उसे दण्ड नहीं दे सकता और न उसको मारकर उसके चमड़े से अपना रुपया ही वसूल कर सकता है। ऐसी दशा में कोई भी मनुष्य किसी भी पशु आदि प्राणी को न तो कष्ट ही दे सकता है और न उसका वध ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह बिना किसी प्राणी को कुछ भी कष्ट दिये, जो कुछ काम लेते बने वह ले ले। काम लेने का सबसे उत्तम नियम इस सृष्टि के नियामक ने खुद ही बना दिया है उसने प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोगों को नियत करके बतला दिया है कि जिस प्राणी से तुम काम लेना चाहो, उसकी जाति के अनुसार उसको पूर्ण आयु जीने दो और उसकी जाति के अनुसार उसका जो कुछ भोग नियत हो वह भोगने के लिए रुकावट पैदा न करो, किन्तु उसके भोगों को जुटाने का बन्दोबस्त करो।

जाति आयु और भोग।

योगशास्त्र में लिखा है कि 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' अर्थात् पूर्वकर्मानुसार प्राणियों को जाति, आयु और भोग मिलते हैं ×। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी जाति का होता है। जाति की पहिचान बतलाते हुए न्यायशास्त्र में गौतम मुनि कहते हैं कि 'समानप्रसवात्मिका जातिः' अर्थात् जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। समान प्रसव वह कहलाता है कि जिसके संयोग से वंश चलता हो। गाय और बैल के संयोग से वंश चलता है इसलिए वे

× कुछ लोग जाति का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्री आदि, आयु का अर्थ फलित ज्योतिष के अनुसार वर्ष, मास, दिन आदि और भोग का अर्थ सुखदुःख अर्थात् प्रारब्ध आदि करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ समान प्रसव से स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्राह्मण और क्षत्राणी का समान-प्रसव होता है, इसलिए दोनों एक ही जाति के हैं, अलग नहीं। इसी तरह आयु और भोग भी भिन्न भिन्न योनियों से ही संबंध रखते हैं, घड़ी पल अथवा प्रारब्ध आदि से नहीं।

दोनों एक जाति के हैं, परन्तु घोड़ी और कुत्ते से वंश नहीं चलता, इसलिए ये दोनों एक जाति के नहीं हैं। इस जाति की दूसरी पहिचान आयु है। जिन जिन प्राणियों का समान प्रसव है, उनकी आयु भी समान ही होती है। जितने दिन प्रायः गाय जीती है, उतने ही दिन प्रायः बैल भी जीता है, पर जितने दिन घोड़ी जीती है, उतने ही दिन कुत्ता नहीं जीता।

जाति की तीसरी पहिचान भोग है जिनका समान प्रसव और समान आयु है, उनके भोग भी समान ही होते हैं। गाय और बैल का समान प्रसव और समान आयु है, इसलिए दोनों के भोग भी—आहारविहार भी—समान ही हैं। परन्तु घोड़ी और कुत्ते का जहाँ समान प्रसव और समान आयु नहीं है, वहाँ भोग भी समान नहीं है। घोड़ा घास खाती है और कुत्ता घास नहीं खाता, किन्तु मांस खाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक जाति का प्रसव, आयु और भोग एक समान ही होता है और इन्हीं तीनों गुणों से प्रत्येक योनि पहिचानी जाती है। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे जिस प्राणी से काम लेना चाहें, उसकी जाति के अनुसार उनके भोगों को देते हुए उसकी पूर्ण आयु तक जीने का मौक़ा दें।

जिस प्रकार किसी सज़ा पाये हुए क़ैदी के लिए तीन बातें नियत होती हैं, उसी प्रकार प्राणियों को जाति, आयु और भोग दिये गये हैं। क़ैदी के लिए लिखा होता है कि यह अमुक श्रेणी की जेल में जाय, अमुक आहारविहार के साथ अमुक काम करे और अमुक समय तक वहाँ रहे। यहाँ क़ैदी की श्रेणी ही प्राणियों की जाति है, क़ैदी का काम और आहारविहार ही प्राणियों के भोग हैं और क़ैदी की मियाद ही प्राणियों की आयु है। जिस प्रकार क़ैदी को उसके भोग देकर ही उतने दिन तक अमुक जेल में रक्खा जा सकता है, उसी प्रकार इन समस्त प्राणियों को भी उनके भोग देकर ही उनसे उनकी आयु भर काम लिया जा सकता है। यदि जेलदारोगा क़ैदी के भोग और स्वास्थ्य अर्थात् आयु में विघ्न डाले, तो वह अपराधी समझा जाता है। क्योंकि राजा का यह अभिप्राय नहीं है कि क़ैदी मार डाला जाय।

इसी प्रकार वे मनुष्य जो प्राणियों को दुःख देते हैं, परमात्मा के न्याय के विरुद्ध करते हैं, अतएव पापी हैं। जैसे अन्य प्राणियों के भोग और आयु में बाधा पहुँचाना पाप है, वैसे ही मनुष्यों की समानता में भी बाधा पहुँचाना पाप है। जिस प्रकार एक समान प्रसव जाति समान आयु को प्राप्त करके समान भोगों को भोगती है, उसी प्रकार हम मनुष्यों को भी समझना चाहिये कि समस्त मनुष्य भी समान प्रसव और समान आयुवाले हैं, इसलिए उन के भी भोग समान ही होना चाहिये।

जो क़ायदा समान प्रसव, समान आयु और समान भोगवाले मनुष्यों और प्राणियों के अपराधों और दण्डों तथा जेलों और सज़ाओं का है, वही क़ायदा ऋणी और धनी के लेन देन का भी है। मनुष्य जब किसी का ऋणी होता है, तो महाजन भी उसको अपने घर में रखकर और उससे काम कराकर ही अपना रुपया वसूल करता है और ऋणी को जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, वे पदार्थ महाजन ही देता है। क्योंकि वह जानता है कि बिना रुपया दिये यदि वह भूख से मर जायगा या अन्य दुःखों से घबराकर कहीं चला जायगा, तो मेरा रुपया डूब जायगा। इसलिए यदि मनुष्यों का मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों से लेना है, तो उन्हें हर प्रकार से सुखी रखना चाहिये। सुखी रखने का क़ायदा सृष्टि ने बतला

दिया है कि प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोग नियत हैं, अतः तुम उसके भोगों को देते हुए और उसकी पूर्ण आयु तक रक्षा करते हुए अपना ऋण लेते चले जाओ और ऐसा प्रबन्ध करो कि कभी किसी प्राणी की अकाल मृत्यु न हो।

इस पर प्रायः लोग कहते हैं कि यदि परमेश्वर को किसी अकाल मृत्यु मंजुर न होती, तो वह वर्षाऋतु में पानी बरसाकर, जंगलो में अग्नि चलाकर और आँधि-तूफ़ान को उत्पन्न करके क्यों करोड़ों प्राणियों को अकाल में ही मारता और क्यों व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियों को उत्पन्न करके लाखों प्राणियों का अकाल में ही संहार करता ? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हम गत पृष्ठों में कर्मानुसार चेतन सृष्टि के उत्पत्ति-क्रमों का वर्णन करते हुए दो प्रकार के सृष्ट्युत्पत्तिक्रमों का वर्णन कर आये हैं। पहिला क्रम सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अनुसार खड़ी, आड़ी और उलटी सृष्टि की उत्पत्ति का है और दूसरा आपत्कालक्रम है, जो सृष्टि की अस्वाभाविकता को रोकनेके लिए काममें लाया जाता है।

अर्थात् जब मनुष्य अपनी हिंसावृत्ति से प्राणियों का संहार यहाँ तक बढ़ा देता है कि उनको अपने कर्मफलों के भोगने के लिए पूरी आयु तक जीना भी कठिन हो जाता है और जब मनुष्यसमाज जंगलों को काटकर, पहाड़ों को तोड़कर, समुद्रों को हटाकर और भोगभिक पदार्थों को निकालकर सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता है, जिससे सृष्टि के नियमों में बाधा पड़ती है और प्राणियों को कष्ट होता है, तब परमात्मा उन अत्याचारी मनुष्यों को कीड़ेमकोड़े और कीटपतंग बनाकर उन्हीं वर्षा, अग्नि और तूफ़ान आदि प्राकृतिक घटनाओं के द्वारा प्रतिवर्ष मार देता है, जिनको उन्होंने जंगल आदि काटकर बिगाड़ा था। इसी तरह मांसाहारी मनुष्यों को पशु बनाकर और पीडित पशुओं को हिंस्र प्राणी बना देता है और उन्हें अत्याचार का प्रतिफल दिला देता है।

जिस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध होते हैं, उसी तरह जब प्राणियों का नाश इतना अधिक हो जाता है कि जीवों को जन्म धारण करने के लिए पूरे मातापिताओं की भी कमी हो जाती है तब इन थोड़े से ही मातापिताओं में ही अधिक सन्तान उत्पन्न होने लगती है। परन्तु जब थोड़े से मातापिता भी सब जीवों को उत्पन्न नहीं कर सकते तब परमेश्वर उस अत्याचारी मनुष्यसमाज के नाश करने के लिए उन्हीं आनेवाले प्राणियों को ऐसा ज़हरीला बना देता है कि वे नाना प्रकार की बीमारी के जर्म्स बनकर मनुष्यों का नाश कर देते हैं और ऐसे वृक्षों को भी उत्पन्न कर देता है, जो मनुष्यादि प्राणियों को पकड़ पकड़कर खा जाते हैं और पशुओं तथा जंगलों की रक्षा कर लेते हैं। यह सारा प्रबन्ध सृष्टि के नियमों की रक्षा करने के लिए किया जाता है। सृष्टि के ये नियम अनादि हैं। क्योंकि पूर्व सृष्टि के अत्याचारियों को प्रतिफल दिलाने के लिए परमात्मा आदिसृष्टि में भी मकड़ी और बतकों की भाँति कुछ ऐसी योनियाँ उत्पन्न कर देता है, जो स्वभावतः भी प्राणियों का नाश करती हैं।

इसलिए मनुष्य को यह उचित नहीं है कि वह परमेश्वर के अपराधियों को अपने अपराधी समझकर उन्हें सताए। जिस प्रकार कोई अपराधी या ऋणी न्यायाधीश के ही हुक्म से सजा पा सकता है, वादी की ओर से नहीं, उसी प्रकार वर्षा, आग, आँधी और भूकम्प के द्वारा अथवा सिंहव्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के द्वारा परमेश्वर ही प्राणियों का अकाल में संहार कर सकता

है, अन्य कोई नहीं ।

इसलिए ईश्वरीय न्यायव्यवस्था का तात्पर्य यह नहीं निकाला जा सकता कि जब परमेश्वर लाखों प्राणियों को अकाल में मार देता है, तो मनुष्य भी उनको अकाल में मार डालें । प्रत्युत यह तात्पर्य तो अवश्य निकलता है कि मानुषी दुरवस्था के कारण परमेश्वरीय व्यवस्था को छोड़कर, जिन प्राणियों ने दूसरे प्राणियों को अकाल में मारकर खाने का अभ्यास कर लिया है, उस अभ्यास के छुड़ाने का प्रयत्न मनुष्य अवश्य करे ।

हम चेतन सृष्टि की उत्पत्ति में लिख आये हैं कि परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के बचे हुए दुष्टों के दुष्कर्मों का फल देने के लिए मकड़ी और बतक आदि थोड़ी सी ऐसी भी योनियाँ उत्पन्न की हैं, जो स्वभावतः जिन्दा प्राणियों को मारकर खाती हैं और शेष सिंहादि मांसाहारी प्राणी तो मुर्दों का मांस खाकर केवल संसार की सफ़ाई करने के ही लिए बनाये गये हैं, ज़िन्दा प्राणियों मारकर मांस खाने के लिए नहीं । साथ ही हम यह भी लिख आये हैं कि उनमें ज़िन्दा प्राणियों को पकड़कर खानेवाले तभी उत्पन्न होते हैं जब मनुष्यों में प्राणिसंहार की प्रवृति अत्यधिक बढ जाती है । इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे प्राणियों का मारना और उनका मांस खाना छोड दे, जिससे हिंस्र जन्तुओं से हिंसा करने का स्वभाव जाता रहे । क्योंकि जब मनुष्य अन्य प्राणियों का वध करके उनका मांस खाता है, तो उन पशुओं की ख़ूराक में कमी उत्पन्न होती है, जिनकी ख़ूराक संसार की सफ़ाई के उद्देश्य से मृत प्राणियों का मांस बनाई गई है । ख़ूराक में कमी होने से ही वे चोर और डाकुओं की भाँति दूसरे ज़िंदा प्राणियों को चोरी से मारकर खाते हैं । ऐसी दशा में यही कहना पड़ता है कि ज़िंदा पशुओं को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यों के कारण से हुई है । यहाँ हम हिंस्र पशुओं के स्वभाव से संबंध रखनेवाली दो एक घटनाओं का वर्णन करके दिखलाते हैं कि ज़िंदा जानवरों को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है ।

कोई २५ वर्ष की बात है कि मध्यप्रदेश की रायगढ़ रियासत में एक छोटासा शेर का बच्चा पकड़कर आया । राजासाहब ने उसे पाल लिया और उसके खाने के लिये मांस का प्रबंध करा दिया । तदनुसार उसको नित्य मांस के टुकड़े बाहर से दिये जाने लगे । यह क्रम साल भर से भी ज्यादा जारी रहा । जब वह काफ़ी बड़ा हो गया, तो एक दिन उसके कठहरे में ज़िंदा बकरा डाल दिया गया । बकरे को देखते ही शेर एक कोने में जाकर बैठ गया और बकरा इधर उधर घूमने लगा । यह ख़बर राजासाहब को दी गई । राजासाहब ने उस दिन से ज़िंदा बकरा देना बन्द करा दिया । परन्तु विनोद के लिए जब इच्छा होती थी तब ज़िंदा बकरा कठहरे में डलवाकर तमाशा देखा करते थे । जैसी यह घटना है वैसी ही घटना का एक वर्णन नवम्बर सन १९१३ के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अख़बार 'लिटिल पेपर' में इस प्रकार छपा था कि 'पशुओं में बच्चों की परवरिश का अद्भुत प्रेम देखा जाता है । बिल्लियाँ चूहों, शशकों और अन्य प्राणियों के बच्चों की परवरिश करती हैं । गौवें बकरी के बच्चों को पालती हैं । कुत्तियाँ लोमड़ी, ख़रगोश भेड़ों के बच्चों को पालती हैं और शूकरियाँ भी बिल्ली के बच्चों को पालती हैं । सबसे बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण बर्लिन (जर्मनी) के चिड़ियाख़ाने की वृद्धा सिंहनी का है, जिसने अपने माँद में एक कुत्ता पाल रक्खा था, जो

उसके माँद के चूहे मारा करता था' *। इसी तरह की एक बात महाभारत में भी लिखी है कि—

साहि मांसार्गलं भीष्ममुखात्सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतनः॥ (महा० सभापर्व)

अर्थात् भूलिंग पक्षी सिंह के मुँह में अपना मुँह डालकर उसके दाँतों में घुसे हुए मांस को निकाल कर खाता है। भूलिंग पक्षी बहुत बडा होता है। उसमें इतना मांस होता है कि सिंह उसको खाकर अपना पेट भर सकता है, परंतु अपने मुँह के अंदर आ जाने पर भी वह उस को नहीं मारता। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि ज़िंदा प्राणियों का मारना व्याघ्रादिकों का स्वभाव नहीं है। संसार का सबसे बड़ा प्राणिशास्त्री आल्फ्रेड रसल वालिस ठीक ही कहता है कि 'मांसाहारी जंतु केवल भूख लगने पर ही दूसरे प्राणियों को मारते हैं, मनोविनोद के लिए नहीं। पालतू बिल्लियों और चूहों के जो उदाहरण दिये जाते हैं, वे भ्रममूलक हैं +। ठीक है, हिंस्र पशु यदि मनोविनोद के लिए प्राणियों की हिंसा करता, तो सरकसवाले लोग सिंहबाघों के साथ कैसे कुश्ती लड़ते? इससे मालूम होता है कि हिंस्र पशु भूख के ही कारण प्राणियों की हिंसा करते हैं, पर यदि समस्त संसार के मनुष्य मांस खाना छोड़ दें और रोज़ के मरनेवाले पशुओं का मांस जंगलों और गांवों की सरहदों में डलवा दिया जाय, तो समस्त मांसाहारी प्राणी अपनी क्षुधा निवृत्त कर लें और अन्य प्राणियों का अकाल में मारना बन्द कर दें। कहने का मतलब यह कि जब हिंस्र पशुओं का हिंसा करना स्वभाव ही नहीं है, जब वे मांस मिलने पर किसी की हिंसा करते ही नहीं और जब पर्याप्त मांस मिलने पर वे प्राणियों का मारना छोड़ सकते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणियों का मारना उनका स्वभाव है। वे प्राणियों को तभी मारते हैं जब मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर खा जाता है। यदि मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर खाना छोड़ दे, तो हिंस्र पशु भी ज़िन्दा जानवरों का मारना छोड़ दें। परन्तु जब मनुष्य प्राणियों को मारकर खाना नहीं छोड़ता, तो परमेश्वर भी हिंसक पशुओं के द्वारा होनेवाली हिंसा का इलाज नहीं कर सकता। यही कारण है कि संसार में हिंसा का साम्राज्य हो गया है और यह निर्णय

* The love of the young among the animals:-Animals have the same wonderful spirit of affection for the young. Cats have reared rats and hares and rabbits and squirrels, cows have reared lamds, dogs have fad and brought up foxes and hares and wolves and kittens, a mother ferret has brought up a young rabbit; and there is a famous instance of a grand old lioness at the Dublin zoo which adopted a dog that killed the rats in her den.-(Little Paper) of November 1913.

\+ It must be remembered that in a state of nature the carnivora hunt and kill to satisfy hunger, not for amusement, and all conclusion derived from the house-fed cat and mouse are fallacious. (The world of life, p. 377)

करना कठिन हो गया है कि कितनी हिंसा ईश्वरी न्यायव्यवस्था से हो रही है और कितनी मनुष्यों के अत्याचार से।

मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कोई अंतर नहीं है। क्योंकि जो मनुष्यकृत है, वही ईश्वरकृत है। मनुष्य कर्म करता है और परमेश्वर उसी कर्म क अनुसार फल दे देता है। अर्थात् आगे आगे मनुष्यों के कर्म और पीछे पीछे परमेश्वर की व्यवस्था काम कर रही है, इसलिए मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कुछ भी अंतर नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार यदि परमेश्वर हिंस्र पशुओं के द्वारा मनुष्यों और मनुष्यों के प्रिय पशुओं को अल्पायु में मारकर मनुष्यों को उनकी हिंसाप्रवृत्ति का प्रतिफल देता है, तो यह हिंसा मनुष्यों की ही की हुई समझी जा सकती है। ईश्वर की कराई हुई नहीं। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे किसी भी प्राणी की हिंसा न करें और प्रत्येक प्राणी को ऐसा मौक़ा दें कि वह अपने भोगों को भोगता हुआ अपनी पूर्ण आयु तक जिये और अपने श्रम से ऋण चुकाकर चला जाय। इस प्रकार का सृष्टिसंबंधी ज्ञान प्राप्त करने से—सृष्टि के कारण कार्य की मीमांसा को हृदयङ्गम करने से—मनुष्य सृष्टि का उचित उपभोग कर सकता है और संसार के उचित उपयोग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य केवल उपर्युक्त सिद्धांतों के जान लेने मात्र ही से सृष्टि का उचित उपयोग नहीं कर सकता और न वह केवल सृष्टि के कारण कार्य की शृङ्खला के समझकर ही न्याययुक्त व्यवहार कर सकता है। क्योंकि जानना और बात है और करना दूसरी बात है। इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह मोक्षसाधना के साथ ही सृष्टि का उपयोग करे। इसका कारण यही है कि सृष्टि का उचित उपयोग मोक्षसाधना के साथ ही हो सकता है, अतएव आवश्यक जान पड़ता है कि हम यहाँ थोड़ासा मोक्ष के अभ्यन्तरिक विषयों का भी सारांश लिख दें।

मोक्ष का स्वरूप, स्थान और साधन।

मोक्ष स्वरूप दो प्रकार का है। दुःखों से छूट जाना पहिला स्वरूप है और आनंद प्राप्त करना दूसरा स्वरूप है। पहिले स्वरूप के पक्षपाती कहते हैं कि दुःखों के ही अत्यंताभाव में आनंद भरा हुआ है। वे कहते हैं कि सुषुप्ति इसका नमूना है। इसीलिए सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि '**समाधि–सुषुप्ति–मोक्षेषु–ब्रह्मरूपता**' अर्थात् समाधि और सुषुप्ति आदि की ही भाँति मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है। परन्तु आनंदपक्षवाले कहते हैं कि सुषुप्ति में केवल दुःखों का ही तिरोभाव होता है, आनंद की प्राप्ति नहीं होती। जो लोग कहते हैं कि जागने पर मनुष्य का यह कहना कि अच्छी नींद आई वह आनंद की ही सूचना है, वे बाललीला ही करते हैं। क्योंकि सुषुप्ति के समय न सुखों का ही भान होता है न दुःखों का ही। यदि सुखों और दुःखों का अत्यंताभाव ही आनंद है, तो क्लोरोफ़ार्म सूँघे हुए मनुष्य और मरे हुए मुर्दे सब आनन्द ही में समझना चाहिये और पत्थर, मिट्टी तथा दीवारों की मुक्त ही मानना चाहिये। किंतु मुक्ति का अर्थ आनंद प्राप्त करना है, इसलिए मोक्ष का यह स्वरूप ग़लत है। मोक्ष का दूसरा स्वरूप आनंद है। पर बिना दुःखों की अत्यंत निवृत्ति के आनंद भी नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष

का सच्चा स्वरूप दुःखों की निवृत्ति और आनंद की प्राप्ति ही है, अतः हम यहाँ देखना चाहते हैं कि दुःखों की निवृत्ति और आनंद का क्या रहस्य है।

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ प्रकृतिबंधन अर्थात् मायावेष्टन से छूट जाना है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से जब छुटकारा मिल जाता है तब दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। क्योंकि न्यायशास्त्र में लिखा है कि दुःखों का कारण शरीर ही है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि जितने दुःख होते हैं, सब शरीर ही के द्वारा होते हैं। इसलिए शरीर के अत्यन्ताभाव से ही दुःखों का अत्यंताभाव हो जाता है। परंतु जैसा कि अभी हमने कहा है कि केवल दुःखों की अत्यंत निवृत्ति से ही आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए देखना चाहिये कि आनंद क्या है।

आनंद दो प्रकार का है। पहिला प्रकार यह है कि मुझे किसी प्रकार का दुःख न हो और मैं ज्ञानयुक्त होकर संसार का और अपने आपका रसास्वादन करूं। दूसरा प्रकार यह है कि मुझे किसी प्रकार का दुःख न हो और मैं परमेश्वर को प्राप्त करके उसका रसास्वादन करूं। इन दोनों प्रकारों में से पहिले प्रकार में संसार और अपने आपके रसास्वादन की लालसा है और दूसरे में परमात्मा के रसास्वादन की अभिलाष है। इसलिए देखना चाहते हैं कि इन दोनों में से कौनसा प्रशस्त है।

इनमें से संसार के रसास्वादन में आनंद नहीं है। क्योंकि संसार का रसास्वादन बिना शरीर के हो नहीं सकता और शरीर ही दुःखों का घर है, इसलिए दुःखदायी शरीर के साथ जो थोड़ा बहुत संसार का सुख अनुभूत होता है, वह दुःखमिश्रित होने से कष्टकर ही होता है, इसलिए संसार के रसास्वादन का नाम आनंद नहीं हो सकता। रहा अपने आपका रसास्वादन, सो वह भी आनंद नहीं कहला सकता। क्योंकि एक तो अपने आपसे कभी कोई अधिक समय तक तृप्त नहीं रह सकता, दूसरे अपने आपके अनुभव करने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा अपने आपका अनुभव होता है। जब तक मस्तिष्क न हो तबतक विचार ही उत्पन्न नहीं हो सकते, इसलिए यह विचारानंद भी शरीर के आश्रित होने से सदैव दुःखमिश्रित ही रहता है। तीसरी बात जो अपने आपमें आनंद के बिगाड़नेवाली है, वह आत्मा की बनावट अर्थात् उसका स्वभाव है। उसके स्वभाव में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान तथा प्रयत्न सदैव बने रहते हैं ×। इसलिए यह शांति से अपने आपका रसास्वादन कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि अपने आपका रसास्वादन भी आनंद नहीं कहला सकता। अब रही दूसरे प्रकार के आनंद की बात। यह आनंद परमात्मा के सकाश में, उसके सम्मेलन में और तदाकार हो जाने में बतलाया जाता है, जो ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि शुद्ध स्थायी आनंद के लिए शुद्ध और स्थायी आनंद-वाले पदार्थ ही की आवश्यकता है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि '**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति**' अर्थात् जो आनंद-रूप अमृत है उसको विज्ञान से ही विद्वान देखते हैं। इसका कारण यही है कि वह प्रकृतिबंधन से रहित पूर्ण ज्ञानी और सर्वव्यापक है। अतः उसमें आनंद के अतिरिक्त दुःखों की

× इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। (वैशेषिकदर्शन)

सम्भावना ही नहीं है । दूसरा कारण आनन्द का यह कि परमेश्वर की प्राप्ति में सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं और संसार की कोई बात ज्ञातव्य नहीं रहती + । इसलिए इसमें द्वैत-अद्वैत का झगड़ा ले दौड़ना उचित नहीं है, किन्तु देखना यह है कि वेदों और उपनिषदों में किस प्रकार उसके सम्पर्क और उसके सम्मेलन से ही आनद बतलाया गया है । यहाँ हम इस विषय के थोड़े से वाक्य उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति । आश्चर्यवत्पश्यति वीतशोकः ॥
ये पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ॥
तस्यैषात्मा विशते ब्रह्मधाम । तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥
यदा पश्यति पश्यते रुक्मवर्णम् । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः । दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या ॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति । अयमात्मा ब्रह्म ॥

इन उपनिषद्वाक्यों में परमात्मा की प्राप्ति, दर्शन, सम्मेलन और उसके साथ एकीकरण का वर्णन है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसकी प्राप्ति से ही आनंद मिल सकता है । इसलिए प्रकृतिबंधन से छूटकर अर्थात् जन्ममरण के चक्कर में मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का नाम मोक्ष है और यही मोक्ष का वैदिक तथा शुद्ध स्वरूप है । इस प्रकार से मोक्ष का स्वरूप निश्चित हो जाने पर अब देखना चाहिये कि मोक्ष का स्थान कहाँ है ।

जहाँ तक प्रकृति अर्थात् माया का वेष्टन है, वहाँ तक दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है, एक रस रहनेवाली नहीं । जो पदार्थ एक रस नहीं रहता और परिणामी होता है, उसके संसर्ग से सदैव अनुकूलता प्रतिकूलता बनी ही रहती है और प्रतिकूल वेदना से दुःख भी बने ही रहते हैं । इसलिए जब तक जीव प्रकृति के तीनों वेष्टनों से अलग न हो जाय तब तक वह दुःखों से बच नहीं सकता । प्रकृति का पहिला वेष्टन सूक्ष्म शरीर है, दूसरा वेष्टन स्थूल शरीर है और तीसरा वेष्टन यह बाहरी विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) है जिसमें यह (पिण्ड) शरीर बँधा हुआ है । जब तक इन तीनों शरीरों से अर्थात् समस्त मायिक जगत् से जीव जुदा न हो जाय तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता । इसलिए प्राकृतिक जगत् और शुद्ध ब्रह्म की मर्यादा का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् परमात्मा के एक पाद में यह समस्त मायिक जगत् है और तीन पाद द्यौ में अमर हैं । इसका मतलब यह है कि प्राकृतिक जगत् परिणामी और मरणधर्मवाला है और अप्राकृतिक द्यौ-लोक जहाँ प्रकृतिरहित केवल परमात्मा ही परमात्मा है, वही अमृत है । इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष मरकर उसी दुःखरहित द्यौ-लोक में जाता है, जहाँ केवल आनंदस्वरूप परमात्मा ही है, प्राकृतिक जगत् नहीं ।

+ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

वेदों में द्यावापृथिवीरूपी इस ब्रह्माण्ड (सम्पुट) का विस्तृत वर्णन है। इस सम्पुट के तीन भाग हैं—नीचे का, दूसरा मध्य का और तीसरा ऊपर का। नीचे के भाग को पृथिवी, मध्य के भाग को अन्तरिक्ष और ऊपर के भाग को द्यौ कहते हैं। अथर्ववेद ४ ३९ में लिखा है कि 'पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः' अर्थात् पृथिवी धेनु का अग्नि बछड़ा है, अन्तरिक्ष धेनु का वायु बछड़ा है और द्यौ धेनु का सूर्य बछड़ा है। यही तीनों लोक हैं और यही तीनों लोकों के तीनों देवता हैं। इनमें द्युलोक का देवता सूर्य है। सूर्य के आसपास ही तक प्राकृतिक जगत् है, सूर्य के बहुत आगे तक नहीं। सूर्य की आग की सीमा का ही नाम द्यौलोक है और वही वेद में स्वर्ग और ब्रह्मलोक के नाम से कहा गया है, अतः वही मोक्ष का स्थान है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि 'सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति' अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष सूर्यद्वार से ही मोक्षधाम को जाते हैं। इसका यही मतलब है कि मायावरन की सीमा सूर्य ही है, अतः सूर्य ही मोक्षधाम का दरवाज़ा है और सूर्य का पृष्ठभाग ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक है। अमरकोश में लिखा है कि—

स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः।
सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्॥

अर्थात् स्वः, अव्यय, स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौ, दिव, और त्रिविष्टप आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं। इन सब शब्दों में स्वः, स्वर्ग, नाक और द्यौ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। सभी सन्ध्या करनेवाले भूः, भुवः और स्वः को नित्य पढ़ते हैं। इनमें भूः पृथिवीवाची, भुवः अन्तरिक्षवाची और स्वः द्यौलोकवाची है। उसी को स्वर्ग कहा गया है। इसी तरह नाक शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि 'नाक आदित्यो भवति' अर्थात् नाक सूर्य ही है, इसी तरह सूर्य भी द्यौलोक का ही सूचक है और द्यौ तो द्यौ है ही। इसलिए द्युलोक के स्वर्ग होने में कुछ भी शंका नहीं रह जाती। पर स्मरण रखना चाहिये कि यह वैदिक स्वर्ग वह नहीं है, जिसका वर्णन सेमिटिक दर्शन से लेकर गीता आदि पुराणों में किया गया है। क्योंकि इस सेमिटिक स्वर्ग के निवासी देवता बड़े ही दुःखी हैं। वे सदैव अपने शत्रुओं से पीड़ित रहते हैं। उनके घर में घी दूध के एक बूँद का भी ठिकाना नहीं है, वे पान तम्बाकू से मोहताज हैं, गुड़ शक्कर के भिखारी हैं, स्त्रियों के कटाक्ष और बालकों की तोतरी भाषा के लालायित हैं तथा काव्यकला से वंचित हैं *। उनका राजा इन्द्र तो बड़ा ही भीरु, लम्पट, लुच्चा और जालसाज़ है। इसलिए वैदिक स्वर्ग से इस स्वर्ग का कुछ भी वास्ता नहीं है। वैदिक स्वर्ग तो वह है, जिसमें जीवन्मुक्त उत्तम कर्मों को करता हुआ सूर्य के द्वार से जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि 'तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुक्त होकर ऊपर की ओर स्वर्गलोक को जाते हैं। इसी स्वर्ग को ब्रह्मलोक भी कहा गया है और सूर्य से ही उसका भी संबंध बतलाया गया है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि—

---

* इक्षोर्विकारः मतयः कवीनां गवां रसो बालकचेष्टितानि।
ताम्बूलपत्रं वनिताकटाक्षं एतान्यहो सन्ति न शक्रनाके॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्येष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥

अर्थात् आइये ! आइये !! यही ब्रह्मलोक है, यह कहती हुई यज्ञाहुतियाँ सूर्य की किरणों के द्वारा यजमान को ब्रह्मलोक में ले जाती हैं। जो समय पर अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करता है, उसको सूर्य की किरणें वहीं पहुँचा देती हैं, जहाँ वह देवाधिदेव परमात्मा रहता है। इन प्रमाणों से वह स्पष्ट हो गया कि अग्निहोत्री को अग्नि की सातों ज्वालाएँ सूर्य की सातों किरणों के द्वारा उस स्वर्ग अर्थात् ब्रह्मलोक में पहुँचा देती हैं, जो सूर्य के ऊपर है। यजुर्वेद में परमात्मा स्वयं कहता है कि 'योऽसावादित्ये पुरुषः सो असावहम्' अर्थात् जो सूर्य द्वारा से निर्मल और अमृत पुरुष दिखलाई पड़ता है, वह मैं ही हूँ। कहने का मतलब यह कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक एक ही स्थान के नाम हैं और यह स्थान सूर्य के ऊपर है तथा इसी में मुक्त पुरुष ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करते हैं। उपनिषदों ने बहुत ही स्पष्ट रीति से वर्णन कर दिया है कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक में मुक्तात्माएँ किस प्रकार का आनन्द प्राप्त करती हैं। यहाँ हम थोड़ी सी उन्हीं श्रुतियों को उद्धृत करते हैं, यथा—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त ।

एवं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं । प्रज्ञा नेत्रो लोकाः प्रज्ञा प्रतिष्ठा
प्रज्ञानं ब्रह्म । स एतेन प्रज्ञानात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्
स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ।
स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं
ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिः सन्नीयते ब्रह्मलोकं स
एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥
तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।
एवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते

अर्थात् स्वर्गलोक में न भय ही है और न वहां वृद्धावस्था का ही डर है। वहाँ तो क्षुधा, तृषा के दुःखों से छूटकर केवल आनन्द ही आनन्द है। स्वर्गलोक को जानेवाला मृत्यु के पाशों को तोड़कर वहाँ आनंद करता है। स्वर्गलोक में अमृतत्व को प्राप्त होता है और सब कामनाओं को प्राप्त होकर आनंद करता है। जिस तरह सर्प अपनी केंचुली का परित्याग कर देता है, उसी तरह जीवन्मुक्त सब पापों से छूटकर ब्रह्मलोक में आनंदघन परमात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार से जो ब्रह्मलोक में जाते हैं, वे फिर लौटकर नहीं आते। अर्थात् जो ब्रह्मलोक को जाते हैं, वे वापस नहीं आते ! नहीं आते !! इन उपर्युक्त समस्त

प्रमाणों से स्वर्ग और ब्रह्मलोक से संबंध रखनेवाली तीनों शर्तों की पूर्ति प्रमाणित होती है। अर्थात् ब्रह्मविद् स्वर्ग को जाते हैं, वे हर प्रकार के भय, शोक और जरा-मृत्यु आदि दुःखों से छूट जाते हैं और समस्त कामनाओं से निवृत्त होकर आनंदित हो जाते हैं। यही मोक्ष है और यही आर्यों की अंतिम अभिलाषा है, किन्तु इन पर लोक यह आपत्ति करते हैं कि गीता और उपनिषदों में स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना भी लिखा है, इसलिए स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते और न स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक के जाने वाले मुक्त ही समझे जा सकते हैं। वे अपने इस आरोप की पुष्टि में निम्न प्रमाण उपस्थित करते है—

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति।
ततो भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

अर्थात् सूर्य के पृष्ठभाग—स्वर्ग—में आनंद भोग कर प्राणी हीनतर लोकों में जाते हैं। स्वर्गलोक का सुख भोगकर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। परान्तकाल में ब्रह्मलोक से भी छूट जाना पड़ता है और ब्रह्मलोक से भी पुनरावर्तन होता है। आरोपकर्ता कहते हैं कि इन प्रमाणों में स्पष्ट ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना कहा गया है, इसलिए स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते। इस पर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि यह वेदों का सिद्धांत है, इसलिए केवल पुनरावर्तन की दलील से खण्डित नहीं हो सकता। वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ (यजु० ३२।१०)
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधी०॥ ८॥
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधी०॥ (ऋ० ९।११३।८-९)

अर्थात् परमात्मा मेरा भाई, पिता और विधाता है वह समस्त लोकलोकान्तरों को जानता है, इसलिए जहाँ देवता अमृतत्त्व को प्राप्त होते हैं, उसी तृतीय धाम में मुझे पहुँचावे। जहाँ का राजा सूर्य है, जहाँ का द्वार द्यौ से ढका है और जहाँ सूर्य की किरणें ठंडी होकर पहुँचती हैं, वहीं मुझको अमर कीजिये। जिस तीसरे लोक स्वर्ग में सब कामनाओं से तृप्त हुए देव विचरण करते हैं और जहाँ दिव्य ज्योति से भरा हुआ स्थान है, वहीं मुझे अमर कीजिये। इन वेदमंत्रों में स्पष्ट ही तीसरे लोक में जाकर अमर होने की प्रार्थना की गई है। तीसरा लोक स्वर्ग अर्थात् द्यौ ही है, इसमें तो किसी को आपत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए मोक्षधाम स्वर्ग ही है, इसमें संदेह नहीं ×। हाँ, पुनरावर्तन और न च पुनरावर्तन के प्रमाणों से कुछ विरोधाभास दिखता है, परंतु विद्वानों ने उसका भी स्पष्टीकरण कर दिया है।

× इसीलिए तो गीता ने वैदिकों को 'स्वर्गपरा' कहा है।

अभी हम लिख आये हैं कि 'ब्रह्मलोकं सम्पद्यते न च पुनरावर्तते' अर्थात् ब्रह्मलोक में जाकर फिर वापस नहीं आते और आपत्तिकर्ता की दी हुई श्रुति कहती है कि 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति' अर्थात् स्वर्ग से आकर हीनतर लोकों को जाते हैं। इसलिए यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है कि इन दोनों विरोधी बातों का सामञ्जस्य क्या है। परन्तु हम देखते हैं कि पूर्वाचार्यों ने इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतों को बहुत ही अच्छी तरह सुलझा दिया है और उपनिषदों में ही लिख दिया है कि 'परान्तकाले परिमुच्यन्ति' और 'परापरावतः न पुनरावृत्तिः' अर्थात् परांतकाल में लौट आते हैं और परान्तकाल के पूर्व नहीं लौटते। तात्पर्य स्पष्ट हो गया कि जो वाक्य न लौटने के आशयवाले हैं, वे परांतकाल की पूर्व सीमा से संबंध रखते हैं और जो लौटने के आवश्यवाले हैं, वे परांतकाल की सीमा के हैं। दोनों का मथितार्थ यह है कि मोक्ष से परांतकाल तक जीव नहीं लौटते, पर परांतकाल के बाद लौट आते हैं। रहा यह कि मोक्ष से कोई लौट ही नहीं सकता। इस पर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि जब गीता के अनुसार स्वयं कृष्ण भगवान् ही कहते हैं कि 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' अर्थात् मेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं और अनेकों बार मैं धर्म की स्थापना के लिए आया ही करता हूँ तो अन्य जीवों के मोक्ष से वापस आने में कैसे आपत्ति की जा सकती है, मोक्ष से वापस आने का सिद्धांत तो सनातन है। जो लोग समझते हैं कि इस सिद्धांत को स्वामी दयानंद ने निकाला है, वे ग़लती पर हैं। मोक्ष का सिद्धांत किसी का निकाला हुआ नहीं है, प्रत्युत वह एक वास्तविक घटना है, जो सनातन से ऋषि-मुनियों के द्वारा अनुमोदित होती हुई आ रही है। इसीलिए उपनिषदों में तत्सम्बन्धी प्रमाण मिलते हैं। उन प्रमाणों को सबने देखा है और अनुभव किया है। इसीलिए श्रीस्वामी आदिशंकराचार्य ने धीमी और स्वामी आनन्दगिरि ने प्रबल आवाज़ से प्रतिपादन किया है कि उपनिषदों के अनुसार मोक्ष से वापस आना सिद्ध होता है। छांदोग्य उपनिषद् ४।१५।६ में लिखा है कि 'स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष परमात्मा को प्राप्त होकर मन्वन्तर के इस चक्कर में वापस नहीं आता। इस श्रुति में यह भाव गर्भित है कि इस मन्वन्तर में वापस नहीं आता, किंतु दूसरे मन्वंतर में वापस आ जाता है। इस श्रुति का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि 'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टि-लक्षणमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते'। इस वाक्य में 'इमं मानवमावर्तं' पद पर स्वामी शंकराचार्य ने अधिक नहीं लिखा। उन्होंने केवल इतना ही कह दिया है कि 'इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं' अर्थात् इस मनुसम्बन्धी चक्कर में। यद्यपि इससे धीमा प्रकाश पड़ता है, पर बात स्पष्ट नहीं होती, किंतु इस पर स्वामी आनन्दगिरि ने स्पष्ट कह दिया है कि—

'इमंमिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन्कल्पे, कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते' अर्थात् इस 'इमं' विशेषण से इसी कल्प में अनावृत्ति सिद्ध होती है, पर कल्पान्तर में तो आवृत्ति ही सूचित होती है। स्वामी आनंदगिरि की इस निष्पत्ति से आवृत्तिवाद पर बड़ा ही सुंदर प्रकाश पड़ता है और स्पष्ट हो जाता है कि कल्पांतर में जीव मोक्ष से अवश्य वापस आ जाता है। इसलिए मोक्ष से वापस आने पर भी स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम ही सिद्ध होते हैं और सूर्य का पृष्ठभाग ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक सिद्ध होता है, इस में

सन्देह नहीं। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष से वापस आने का सिद्धांत मान लेने से ब्रह्म और जीव की एकता में विघात आता है। क्योंकि वेदान्त का यही सिद्धांत है कि जीव मोक्ष में ब्रह्म ही हो जाता है, अतएव मोक्ष से पुनरावृत्ति मानना उचित नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' के अनुसार यह सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है और इसके चलने का कारण केवल जीवों के कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। ऐसी दशा में यह तो निर्विवाद ही है कि जीव अनादि काल से वर्तमानकाल पर्यंत ब्रह्म से जुदा थे और जुदा हैं। अब विवाद केवल भविष्य में दोनों के एक हो जाने का है। एक दल कहता है कि जब जीव और ब्रह्म दोनों अनादि काल से अब तक पृथक् हैं, तो भविष्य में भी एक नहीं हो सकते और दूसरा दल कहता है कि प्रागभाव के सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार घड़ा बनने के पूर्व अनादि काल से नहीं था, किन्तु बनने पर हो गया और अनादि काल की स्थिति नष्ट हो गई, इसी प्रकार जीव भी यद्यपि अनादि काल से पृथक् था, पर भविष्य में एक हो सकता है और अनादि काल की स्थिति नष्ट हो सकती है।

किंतु वैदिकों के मत से ये दोनों दलीलें जिज्ञासु को उलझन में डालकर मोक्ष के अनुष्ठान ही से उपेक्षा दिलानेवाली हैं, इसलिए इनका आदर करना उचित नहीं है। क्योंकि वैदिकों के मन्तव्यानुसार पहिले मत की दलील में यह दोष है कि जब जीव में ब्रह्म व्यापक है, तो वह उस से पृथक् कैसे हो सकता है और दूसरे दल की दलील में यह दोष है कि प्रागभाव का सिद्धांत सदैव कारण-कार्य ही में लगता है। भिन्न पदार्थों में नहीं। मिट्टी घड़े का कारण है। इसलिए घड़ा यद्यपि अनादि काल से प्रत्यक्ष नहीं था, पर अपने कारण में अवश्य था, इसलिए कारण से निकल भी आया। पर जीव का ब्रह्म कारण नहीं है—वह ब्रह्म से नहीं बना और अनादिकाल से अपना अस्तित्व पृथक् रखता है, इसलिए आगे भी ब्रह्म में समा नहीं सकता। क्योंकि कार्य ही अपने कारण में समा सकता है, अन्य पदार्थ नहीं। इस तरह से ये दोनों दलीलें निर्जीव साबित होती हैं। यही नहीं किंतु मोक्ष अवस्था की जितनी दलीलें हैं, सभी भद्दी हैं और एक भी विश्वास के योग्य नहीं है। इसका कारण यही है कि मोक्ष की स्थिति दलील का विषय नहीं है, किंतु स्वयं प्राप्त करके अनुभव करने का विषय है।

दलील तो इतने ही काम के लिए है कि वह जिज्ञासु के मन पर परमात्मा के अस्तित्व को बैठाल दे और उसके प्राप्त करने की अभिलाषा को उत्पन्न कर दे। इसके सिवा दलील का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि यदि परमसाध्य मोक्ष जैसा महान् विषय भी दलील ही से सिद्ध हो जाय और मोक्ष की स्थिति का अनुभव भी होने लगे, तो फिर मोक्ष के वे साधन, जिन पर मोक्ष की प्राप्ति निर्भर है कौन करेगा और कौन सदाचार, तप और योगसमाधि के लिए कष्ट उठावेगा। क्योंकि मोक्ष की स्थिति का अनुभव तो केवल दलीलबाज़ी से ही होने लगेगा और फल यह होगा कि आर्यों की तो तप, ब्रह्मचर्य, सदाचार, सादगी और योग तथा समाधि आदि की व्यवस्था ही भंग हो जायगी। परन्तु परमात्मा ने मोक्ष की वास्तविक स्थिति का हल करना दलीलों के मान का नहीं रक्खा. इसलिए वैदिकों के मत से मोक्षदशा की स्थिति पर विवाद करना एक प्रकार से समय ही खोना है। उपनिषद् में लिखा है कि—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् वेदान्तविज्ञान से परमात्मा का निश्चय करके संन्यास और योग से त्यागी विद्वान् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं । अन्तःकरण के मलों को धोकर विद्वान् जब समाधि में घुसता है और उस समय आत्मा में जो सुख अनुभव करता है, वह वाणी से कहने योग्य नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं अपने अन्तःकरण ही में ग्रहण करने योग्य है । परमात्मा के दर्शन से हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं और कर्मफल मुल्तवी हो जाते हैं । इन श्रुतियों में वेदान्त की दलीलों से केवल परमात्मा को सिद्ध कर देने का ही इशारा है, मोक्ष की अवस्था का नहीं मोक्षानन्द का नमूना तो स्वयं समाधिदशा को प्राप्त करके तभी देखा जा सकता है, जब हृदय की गाँठ खुलकर सब शंकाओं की निवृत्ति होती है । इसलिए मोक्ष की स्थिति की बहस में व्यर्थ माथामारी करना वैदिकों को उचित नहीं है और न कभी द्वैत-अद्वैत के झगड़े में पड़ने की आवश्यकता है । आवश्यकता तो केवल यह है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपाय किया जाय । पर दुःख से कहना पड़ता है कि मोक्ष के उपायों में भी मत-भेद है । कोई कहता है कि केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, कोई कहता है कि कर्म ही से मोक्ष हो जाता है और कोई कहता है कि मोक्ष के दिलानेवाली केवल उपासना ही है—भक्ति ही है । ऐसी दशा में जिज्ञासु भ्रम में पड़ जाता है और सीधा मार्ग छोड़कर बहक जाता है, इसलिए हम यहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना के विषय में प्रकाश डालने की कोशिश करते हैं ।

हम मोक्ष के स्वरूप और उसके स्थान का वर्णन करके बतला आये हैं कि दुःखों के अत्यन्ताभाव और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का ही नाम मोक्ष है और वह प्रकृतिबन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति से ही मिल सकता है । इसलिए देखना चाहिये कि वह ज्ञान से, या कर्म से, या उपासना के पृथक् पृथक् प्रयोगों से प्राप्त हो सकता है या सब प्रयोगों को एक ही साथ उपयुक्त करने से प्राप्त हो सकता है । पूर्व इसके कि हम इस मार्गत्रय का विवेचन करें यह उचित ज्ञात होता है कि पहिले यह जान लें कि यह ज्ञान, कर्म और उपासना की प्रक्रिया आई कहाँ से । हमें इस विषय में अधिक माथापच्चा न करना पडेगा, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासना का ही नाम त्रयीविद्या है और समष्टिरूप से त्रयीविद्या का ही नाम वेद है । इसलिए अब देखना चाहिये कि इस वैदिक ज्ञान, कर्म और उपासना का क्या रहस्य है ।

हम देखते हैं कि संसार में जो कुछ सत् शिक्षा है, जो कुछ अध्ययन अध्यापन है और जो कुछ उपदेश है, वह तीन ही भागों में बाँटा जा सकता है और उन तीन विभागों का सारांश इतना ही हो सकता है कि ' जानो और मन लगाकर करो ' । इस वाक्य में ' जानो ' ज्ञानकाण्ड है, ' मन लगाना ' उपासनाकाण्ड है और ' करो ' कर्मकाण्ड है । विना इन तीनों

के लोक अथवा परलोक का कोई भी कार्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। यही वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना का रहस्य है। परन्तु जो लोग केवल हवन को ही कर्म कहते हैं, अपने आपको परमात्मा कहने का ही नाम ज्ञान रखते हैं और रात दिन राम राम कहने ही को उपासना समझते हैं, वे वेदों के वास्तविक ज्ञान, कर्म और उपासना के मर्म को नहीं समझते। क्योंकि वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का मतलब ही कुछ और है। यम यहाँ कई प्रकार के ज्ञान, कई प्रकार के कर्म और कई प्रकार की उपासना से संबंध रखनेवाले कुछ वेदमन्त्रो को उद्धृत करके दिखलाते है कि उनमें उस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना का वर्णन नहीं है, जिस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना की बात कही जाती है। वेद कर्म करने की प्रेरणा करते हुए आज्ञा देते हैं कि—

> वृजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
> संगच्छध्वं संवदध्वं वो मनांसि जानताम्।
> मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
> अधः पश्यस्व मोपरी संतरां पादकौ हर।
> मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

अर्थात् गौवों के बड़े बड़े गोष्ठ बनाओ और खूब मोटे मोटे वर्म सिलाओ। साथ साथ चलो, साथ साथ बातें करो और साथ साथ विचार करो। भाई से भाई और बहन से बहन द्वेष न करे। हे स्त्री! तू अब समझदार हो गई है, इसलिए नीची निगाह रख, सीधी चाल से चल और अपने अङ्गों को सदैव ढके रख। इन मंत्रों में कर्मों का—कुछ न कुछ करने का—उपदेश है। परंतु ये कर्म यज्ञ अर्थात् हवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसलिए मानना पड़ेगा कि वेदों में कर्म के नाम से केवल यज्ञों का ही वर्णन नहीं है, प्रत्युत सभी किये जानेवाले कामों को कर्म कहा गया है। इसी तरह ज्ञान के भी कुछ नमूने देखने योग्य हैं। वेद कहते हैं कि—

> वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् वेद नावः समुद्रियाः।
> ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विंदते पतिम्॥
> सूर्याचंमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
> एकं याच दशभिः स्वभूते॥

अर्थात जो पक्षियों के स्थान और गति को जानता है, यह विमान और नाव का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त होती है। परमात्माने सूर्य-चंद्रादि को उसी तरह बनाया है, जैसे इसके पूर्व कल्पों में बनाया था। एक का अङ्क ही दश का अङ्क हो जाता है। इन मंत्रो में अनेक प्रकार के ज्ञान का उपदेश है, पर ब्रह्मज्ञान की एक भी बात नहीं है। इससे कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेद के कर्मकाण्ड का मतलब केवल होम, यज्ञ नहीं है, उसी तरह ज्ञानका मतलब भी केवल ब्रह्मज्ञान नहीं है। जो हाल कर्म और ज्ञान का है, वही हाल उपासना का भी है। वेद में लिखा है कि—

> आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
> तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।

पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम् ।
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु नस्कृधि ।

अर्थात् समस्त ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों। मुझे उस मेधा से शीघ्र ही मेधावी बनाइये। मैं सौ वर्ष तक देखूँ और सौ वर्ष तक जीता रहूँ। मुझको ब्राह्मणों और क्षत्रियों में प्रिय कीजिये। इन प्रार्थनाओं में मोक्षप्राप्ति के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। इससे मालूम होता है कि वेद के उपासनाकांड में भी भिन्न भिन्न पदार्थों के लिए याचना की गई है, केवल मोक्ष ही के लिए नहीं। इसलिए उपासना से भी वह मतलब नहीं निकलता, जो साम्प्रदायिक लोग निकालते हैं। कहने का मतलब यह कि वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना की योजना केवल मोक्ष ही के लिए नहीं है, प्रत्युत 'जानो और मन लगाकर करो' के सिद्धांतानुसार प्रत्येक सिद्धि के लिए है।

जिस प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना की योजना प्रत्येक सिद्धि के लिए है, उसी तरह इन तीनों की योजना मोक्ष के लिए भी है। मोक्ष के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता है, कर्म की आवश्यकता है और उपासना की आवश्यकता है। परंतु जो लोग कहते हैं कि केवल ज्ञान या केवल कर्म या केवल उपासना से ही मोक्ष हो जायगा वे ग़लती पर हैं। वे अपनी सांप्रदायिक धुन के कारण भूल जाते हैं कि दुःखों का अत्यन्ताभाव और आनंद की प्राप्ति ही का नाम मोक्ष है और यह प्राकृतिक बंधन से मुक्त होकर तथा ईश्वर की प्राप्ति से ही मिल सकता है। यदि लोग इतना याद रक्खें तो यह बात उनके सामने आप ही आप आ जाय कि इस समस्त सिद्धि के प्राप्त करने के लिए संसार से विरक्त होना पड़ेगा, प्रकृति–बंधन से छुटकारा लेना पड़ेगा और आनंदस्वरूप परमात्मा का संमेलन प्राप्त करना पड़ेगा। क्योंकि विना संसार से विराग उत्पन्न हुए शरीर का मोह नहीं जाता और न विना शरीर मोह का त्याग किये दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इसी तरह विना दुःखों को हटाए और विना परमात्मा को प्राप्त किये आनंद भी नहीं मिल सकता। न्यायशास्त्र में गौतम मुनि लिखते हैं कि—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः' ॥

अर्थात् मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होते हैं उन का नाश होनेसे मोक्ष हो जाता है। कहन का मतलब यह कि दुःखों का अत्यन्ताभाव करने के लिए जन्म अर्थात् शरीर का अत्यन्ताभाव करना चाहिये। शरीर के अत्यन्ताभाव के लिए प्रवृत्ति का अभाव होना चाहिए, प्रवृत्ति के अभाव के लिए दोषों का अभाव होना चाहिये और दोषों के अभाव के लिए मिथ्याज्ञान का अभाव होना चाहिये। अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अभाव से ही पूर्व पूर्व की रुकावटें दूर हो सकती हैं, इसलिए सबसे पहिले मिथ्या ज्ञान को दूर करने की आवश्यकता है। क्योंकि मोक्ष का सबसे बड़ा बाधक मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान का नाश सत्य ज्ञान से ही हो सकता है सत्य ज्ञान का दूसरा पारिभाषिक नाम वस्तु का यथार्थ परिचय है। यदि मनुष्य को संसार का यथार्थ परिचय हो जाय, यदि उसे संसार के कारण कार्य का बोध हो जाय और यदि मनुष्य की समझ में आ जाय कि समस्त दुःखों और पापों का मूल केवल मनुष्य का शरीर ही है, तो उसके मन से संसार की ममता के दोषों की गहरी छाप मिट जाय और उसकी सांसारिक

प्रवृत्तियों में विवेक उत्पन्न हो जाय। मोक्षप्रकरण में इसी विवेक का नाम ज्ञान है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि केवल इतने ज्ञान और विवेक के उत्पन्न होने से ही मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता। जो लोग केवल ज्ञान से मोक्ष मानते हैं, वे नहीं समझा सकते कि इस प्रकार के वैज्ञानिक विश्लेषण को केवल समझ लेने से ही पूर्वकृत कर्मों का नाश कैसे हो जायगा। क्या कभी कोई भी विज्ञानवेत्ता अपराधों के दण्ड से बरी हुआ है? कभी नहीं। मनु भगवान् के दण्डविधान में तो ब्राह्मण और राजा को सर्वसाधारण के दण्ड से बहुत ज्यादा दण्ड देने का विधान किया गया है। इसलिए ज्ञान उत्पन्न होने पर भी और उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक शरीर उत्पन्न करनेवाले पूर्वकर्मों का नाश न हो जाय, तब तक दुःखों का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। परन्तु कर्मों का नाश विना कर्मों के भोगे नहीं हो सकता। कर्मों का नाश विना कर्मफलों के भोग नहीं हो सकता यह ठीक है, पर हम यह अवश्य देखते हैं कि कर्मफलों का भोग मुल्तवी हो सकता है। क्योंकि कर्मफलों के भोगों का सिद्धांत कर्मों की लघुता—गुरुता पर अवलम्बित है।

जो कर्म गुरु होते हैं, उनका फल पहिले मिलता है और जो लघु होते हैं, उनका फल बाद में मिलता है। जिस प्रकार पानी में डाला हुआ एक छोटा सा कंकड़ छोटी सी लहर उत्पन्न करता है, परन्तु उसके बाद का डाला हुआ बड़ा कंकड़ उस छोटी लहर को मिटाकर बड़ी लहर उत्पन्न कर देता है, उसी तरह छोटे कर्मफल बड़े कर्मफलों के आगे दब जाते हैं और बड़े कर्मफल आगे हो जाते हैं। एक ही दिन में आगे पीछे किये हुए लघु—गुरु कामों का परिणाम आगे पीछे होता हुआ देखा जाता है। प्रातःकाल दिए गये दान की कीर्ति आठ बजे की की हुई चोरी के सामने दब जाती है और आठ बजे की की हुई चोरी का अपराध दश बजे की की हुई राजा की प्राणरक्षा के सामने फीका पड़ जाता है। इसलिए बुरे कर्मफलों को दबाने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा आदि बड़े कर्म किये जायँ। यज्ञ, दान और इष्टापूर्त को करके स्कूल अस्पताल, गोशाला और धर्मशाला बनवाकर अथवा धर्म, देश और जाति की सेवा के लिए हर प्रकार के कष्टों को सहन करके जो लोग लोककल्याण के निमित्त अनेक प्रकार के बड़े कर्म करते हैं, उनके ये सुकृत कर्म पापभोगों के आगे हो जाते हैं और दूसरे जन्मग्रहण करने में रुकावट पैदा कर देते हैं और सब प्रकार के दुःखों से बचा लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह दुःख पानेवाला शरीर तभी मिलता है, जब मनुष्योंने किसी दूसरे को दुःख दिया होता है। पर जिसने कभी किसी को दुःख नहीं दिया, केवल सबको आराम ही पहुँचाता रहा है, वह इस दुःखदायी शरीर और संसार में क्यो आवेगा? इसलिए दुःखोंके अत्यन्ताभाव के लिए उत्तम कर्मों की आवश्यकता है पर जो कहते है कि केवल कर्मों से ही मोक्ष हो जायगा, वे भी ग़लती पर है। यदि गीता के कर्मयोग के अनुसार कर्म से ही मोक्ष हो जाता, तो कर्मयोग के उपदेश करनेवाले स्वयं कृष्ण ही क्यों कहते कि '**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि**' अर्थात् मेरे बहुत से जन्म बीत गये? इससे तो यही ज्ञात होता है कि वे अभी मुक्त नहीं हुए। यदि मान लें कि कृष्ण भगवान् पर यह क़ानून चस्पाँ नहीं होता, तो उन अर्जुन की ही दशा को देखना चाहिये, जिनको कर्मयोग का उपदेश किया गया और जिन्होंने उस कर्मयोग के अनुसार युद्ध किया। महाभारत में ही लिखा है कि मरने के बाद नरकयातना से वे भी चिल्ला रहे थे और उस यातना से उनको उस युधिष्ठिर ने बचाया था, जिसको कभी

कर्मयोग का उपदेश नहीं हुआ था। कहने का मतलब यह कि अकेले कर्म से भी मोक्ष नहीं हो सकता।

अब रही उपासना। जो लोग कहते हैं कि यही मोक्ष की साधक है, वे भी भूलते हैं। जिस प्रकार अकेला ज्ञान और अकेला कर्म मोक्षसाधन में असमर्थ है, किन्तु मोक्षसाधन का एक एक अंग पूरा करता है, उसी तरह उपासना भी है। उपासना भी अकेली मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। क्योंकि उपासना से शरीर का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, पर वह मोक्ष के एक अंग की पूर्ति करती है। जिस प्रकार ज्ञान से विवेक उत्पन्न होता है और कर्म से शरीर का अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसी तरह उपासना से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि ज्ञान, कर्म और उपासना में एक उपासना ही ऐसी है, जो परमात्मा को अन्तःकरण में आविर्भूत करा सकती है। जिस समय ज्ञान से विवेक और वैराग्य उत्पन्न करके मनुष्य छोटे-बड़े सत्कर्मों को करता हुआ समाधि में पहुँचता है और स्थिरचित होता है ×, उस समय उपासनाके ही द्वारा वह परमात्मा को आत्मा में प्रकट होने की प्रार्थना करता है। यदि उपासना से द्रवीभूत होकर परमात्मा दर्शन न दें, तो मनुष्य ज्ञान और कर्म से कुछ भी नहीं कर सकता। जिस तरह आँख में पड़ा हुआ तिनका आँख को दिखलाई नहीं पड़ता, उसी तरह आत्मा में समाया हुआ परमात्मा भी नहीं सूझता। किन्तु जिस प्रकार आँख का तिनका अपनी तिलमिलाहट से आँख को अपना अनुभव स्वयं करा देता, उसी तरह समाधिस्थ शान्त आत्मा में नित्य व्याप्त परमात्मा भी अपनी प्रेरणा से अपना अनुभव करा देता है। यह परमात्मा का अनुभव ही जीवन्मुक्ति है। और मोक्ष का प्रबल प्रमाण है। जब तक परमात्मा का अनुभव न हो तब तक मोक्ष में सन्देह ही समझना चाहिये। पर यह अनुभव उपर्युक्त ज्ञान, कर्म और उपासना के मिश्रित प्रयोग से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए मोक्ष का उपाय न केवल ज्ञान है, न कर्म है, और न उपासना ही है, किन्तु तीनों का मिश्रण है, जो आर्यों के वर्णाश्रमधर्म में ओतप्रोत है। उपनिषद् कहते हैं कि—

> आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्त्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य हिंसन्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। (छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१)

अर्थात् आचार्यकुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा को देकर, समावर्तनद्वारा कुटुम्ब में आकर, स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्सङ्ग से सब इन्द्रियों को वश में करके, अहिंसाबुद्धि से सब प्राणियों से देखता हुआ और आयुपर्यंत इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही ब्रह्मलोक—मोक्ष—को प्राप्त होता है, जहाँ से फिर वह वापस नहीं आता, नहीं आता। यह है आर्यसभ्यतानुसार मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग। इस मार्ग में

× मन की चञ्चलता रोकने के लिए ही समाधि की आवश्यकता होती है। जब तक मन स्थिर नहीं होता और मनस्तरंगवाली चलती रहती है, तब तक परमात्मा का अनुभव नहीं होता, परन्तु जब समाधि द्वारा मन स्थिर हो जाता है, तब स्थिरचित्त में परमात्मा की प्रेरणा का अनुभव होता है।

आरम्भ से अंत तक ज्ञान, कर्म और उपासना का मिश्रण पाया जाता है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने का उपाय यही है और यही मोक्ष के स्वरूप स्थान और उपाय का थोड़ासा दिग्दर्शन है। इस दिग्दर्शन से मोक्ष की महत्ता में अच्छा प्रकाश पड़ता है। किंतु संसार में पद पद सृष्टि के पदार्थों की आवश्यकता होती है और प्राणियों की हानि लाभ का प्रश्न सामने आता है, इसलिए प्राणियों से संबंध रखनेवाले और मोक्ष के साथ उपयुक्त होनेवाले अर्थ, काम और धर्म का भी वर्णन होना आवश्यक है। एतएव हम पहिले मोक्ष के साधक और शरीर को रखनेवाले अर्थ का वर्णन करते हैं।

अर्थ की प्रधानता।

आर्यसभ्यता की प्रधान चार आधारशिलाओं में मोक्ष की ही भाँति अर्थ की भी प्रधानता है। अर्थ का ही दूसरा नाम सम्पत्ति है। यह अर्थ मोक्ष का प्रधान सहायक है। विना अर्थशुद्धि के मोक्ष नहीं हो सकता। हम चारों पदार्थों का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष की, बुद्धि के लिए धर्म की और मन के लिए काम की आवश्यकता होती है, उसी तरह शरीर के लिए अर्थ की भी आवश्यकता होती है। मोक्ष और धर्म की आवश्यकता केवल मनुष्य ही को होती है, परन्तु अर्थ और लाम के विना तो मनुष्य पशु—पक्षी—कीट—पतंग और तृण—पल्लव किसी का भी निर्वाह नहीं हो सकता। काम के विना भी चल सकता है—मनोरञ्जन को हटाया जा सकता है। परन्तु जिस अर्थ के ऊपर प्राणीमात्र के शरीर स्थिर है और प्राणीमात्र की जिंदगी ठहरी हुई है, उस अर्थ की प्रधानता का अनुमान सहज ही कर लेना चाहिये और उसकी मीमांसा बहुत ही सावधानी के करना चाहिये। क्योंकि उसके अनुचित संग्रह से मोक्षमार्ग बिगड़ जाता है। आर्यों ने अर्थ के इस महत्त्व को समझा था। यही कारण है कि उन्होंने अर्थ के विषय में बहुत ही सूक्ष्म और उदारभाव से विचार किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि '**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्**' अर्थात् समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए संसार से अर्थसंग्रह करते समय बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिये। अर्थसंग्रह के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि—

> अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
> या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥
> यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैर्कर्मभिरगर्हितैः॥
> अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयः।
> सर्वान परित्यजेदर्थात् स्वाध्यायस्य विरोधिनः॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् जिस वृत्ति में जीवों को बिलकुल ही पीड़ा न हो, अथवा थोड़ी ही पीड़ा हो, उस वृत्ति से आपत्तिरहित काल में वैदिक आर्य निर्वाह करे। विना अपने शरीर को क्लेश दिये अपने ही अगर्हित कर्मों से केवल निर्वाहमात्र के लिए अर्थ का संग्रह करे और उन समस्त अर्थों को छोड़ दे, जो स्वाध्याय में विघ्न डालते हों। इन श्लोकों में आपत्तिरहित समय में अर्थसंग्रह के पाँच नियम बतलाये गये हैं। पहिला नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। दूसरा नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय अपने शरीर को भी कष्ट न हो। तीसरा नियम यह है कि अपने ही पुरुषार्थ से उत्पन्न

किये गये अर्थ से निर्वाह किया जाय, दूसरों की कमाई से नहीं। चौथा नियम यह है कि अपना उत्पन्न किया हुआ अर्थ भी किसी गर्हित कर्म के द्वारा न उत्पन्न किया गया हो। पाँचवा नियम यह है कि अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में—पढ़ने लिखने में—विघ्न उत्पन्न न होता हो। अर्थात् जो अर्थ इन पाँचों नियमों को ध्यान मे रखकर उपार्जन किया जाता है, वही अर्थ आर्यसभ्यता के अनुसार पवित्र होता है, किन्तु जो अर्थ इन नियमों को दुर्लक्ष्य करके संग्रह किया जाता है, वह अनर्थ हो जाता है। इसलिए प्रत्येक आर्य को अनर्थ से बचते हुए ही अर्थोपार्जन करना चाहिये। क्योंकि वेद उपदेश करते हैं कि—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजुर्वेद ४०।१–२)

अर्थात् इस संसार में परमात्मा को सर्वत्र हाज़िर नाज़िर समझकर किसी के भी धन की इच्छा न करो, किंतु उतने ही से निर्वाह करो, जितना उसने तुम्हारे लिए स्थिर किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष हो सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इन दोनों मंत्रों का तात्पर्य यही है कि मोक्षार्थी को संसार से उतने ही पदार्थ लेना चाहिये, जिनके लेने में किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। इस नियम का पालन केवल इसी एक सिद्धांत के अवलम्बन से हो सकता है कि जहाँ तक बने इस संसार स बहुत ही सरल उपायों के द्वारा बहुत ही कम पदार्थ लिये जायँ। क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं, सभी को अर्थ की आवश्यकता है। इसलिए जब तक बहुत ही कम लेने का नियम न होगा, तब तक सबके लिए अर्थ की सुविधा नहीं हो सकती।

यद्यपि संसार में सभी प्राणियों को अर्थ की आवश्यकता है, पर मनुष्य की अर्थसंबंधी आवश्यकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। संसार में देखा जाता है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं, उन सबका अर्थ केवल आहार और घर तक ही सीमित है। उनको आहार और घर के अतिरिक्त शरीररक्षा से संबंध रखनेवाले अन्य किसी भी अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। बहुत से प्राणियों को तो आहार के अतिरिक्त घर की भी आवश्यकता नहीं होती, पर मनुष्य का अर्थ चार भागों में विभजित है। इन चारों विभागों के नाम भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी हैं। संसार में जितने मनुष्य हैं, चाहे वे जंगलों में रहनेवाले कोलभील हों, चाहे फ्रांस के रहनेवाले बड़े बड़े शौक़ीन हों, चाहे राजा और बादशाह हों, और चाहे त्यागी संन्यासी हों, सब को उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार एक सम्राट् को नाना प्रकार के व्यंजनों की, अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों की, बड़े बड़े राजप्रासादों की और रङ्गमहलों की तथा हज़ारों प्रकार के बर्तन, फ़रनीचर, अस्त्र, यान और अन्य अनेकों ऐसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक त्यागी परिव्राट् को भी भिक्षान्न, कौपीन, कंदरा और दण्ड—कमण्डलु की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार सम्राट् और परिव्राट् को इनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक अमेरिका के नागरिक से लेकर आफ्रिका के जूलू तक को उक्त चारों पदार्थों की

आवश्यकता होती है। इसका यही मतलब है कि संसार के सभी मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताएँ एक ही समान हैं। किंतु देखते हैं कि इस समानता में ही इतनी असमानता विद्यमान है कि जिसका सामञ्जस्य करना बड़ा ही कठिन है। कोई मांस खाकर, कोई फल खाकर, कोई अन्न खाकर और कोई सब कुछ खाकर गुज़र कर रहा है। इसी तरह कोई लँगोटी लगाकर कोई कोट पतलून पहनकर, कोई धोती डुपट्टा पहनकर और कोई तहमत चुग़ा पहनकर कपड़ों का उपयोग करता है। इसी तरह कहीं के मकान अनेकों मंज़िल ऊँचे आसमान से बातें कर रहे हैं। और कहीं के मकान तहख़ानों की भाँति ज़मीन के नीचे बने हुए पाताल से बातें कर रहे हैं। जो हाल भोजन, वस्त्र और घरों का है, वही हाल गृहस्थी का भी है। कहीं सोलह सोलह ट्रंक क़मीज़ें, बावन बावन जोड़े जूते, नाना प्रकार की कुर्सियाँ और अलमारियाँ हैं और कहीं साफ़ सुथरे कमरों में केवल चटाइयाँ बिछी हैं और थोड़े से खाने पकाने के बर्तन रक्खे हैं। कहने का मतलब यह कि यद्यपि मनुष्यों की आवश्यकताएँ एक ही समान हैं, तथापि उनकी संख्या और प्रकारों में इतना अन्तर और इतना विषमता है कि जिसको देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि इन सबमें कौनसा प्रकार उत्तम है? जहाँ तक हमको स्मरण है, इस प्रश्न को आज तक संसार में किसी ने ऐसे ढंग से नहीं सुलझाया, जो संसार की आर्थिक समस्या को हल करते हुए मनुष्य को मोक्षाभिमुखी बना सके।

किंतु बड़े गर्व से कहा जा सकता है कि आर्योंने बड़े ही खोज के साथ अर्थ से संबंध रखनेवाले इन चारों विभागों को इस ढंग से सुलझाया है कि जिसके द्वारा न तो किसी प्राणी को दुःख ही हो सकता है और न अपने आप ही को कष्ट हो सकता है। प्रत्युत संसार की आर्थिक असमानता को नष्ट करके एक ऐसा मार्ग बन जाता है कि जो मनुष्य को लोक और परलोक के सुखों को आसानी से प्राप्त करा सकता है। यही कारण है कि आर्यों ने इस प्रकार के अर्थ को अपनी सभ्यता में प्रधान स्थान दिया है। यहाँ हम अर्थ से संबंध रखनेवाले उक्त चारों विभागों को क्रम से लिखते हैं और दिखलाते हैं कि आर्यों ने कितनी बुद्धिमत्ता से अर्थ को हल किया है।

आर्य भोजन।

आर्यों ने अर्थ के प्रधान अङ्ग भोजन अर्थात् आहार की बड़ी ही छानबीन की है। उन्होंने आर्य-आहार को धार्मिक और वैज्ञानिक सिद्धांतो के अनुसार स्थिर किया है। उनका विश्वास था कि '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**' अर्थात् आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है और सत्त्व की शुद्धि से स्मरणशक्ति निश्चल होती है, परन्तु अशुद्ध आहार से सत्त्व और स्मृति भी अशुद्ध हो जाती है। यहाँ तक की अन्नदोष से आयु भी कम हो जाती है। मनु भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि '**आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति**' अर्थात् आलस्य और अन्नदोष से मनुष्य शीघ्र मर जाता है। इसलिए जो आहार आयु, बल, रूप, कान्ति और मेधा की वृद्धि करनेवाला हो, वही आर्यों का भोजन हो सकता है। इतना ही नहीं प्रत्युत जिस भोजन के संग्रह करने में अर्थ के पाँचों नियमों की अनुकूलता होती हो, किसी भी प्राणीकी आयु और भोगों में विघ्न न पड़ता हो और आयु, बल, रूप और मेधा के साथ साथ मोक्ष प्राप्त करने से भी सहायता मिलती हो, वही आहार

आर्यों का भोजन हो सकता है । अर्थात् आर्य–भोजन चार कसौटियों से कसा होना चाहिए । पहिली कसौटी यह है कि जिस आहार से आयु, लल, कान्ति और बुद्धि की वृद्धि होती हो । दूसरी कसौटी यह है कि जिस के प्राप्त करने में किसी को कष्ट न हो अर्थात् किसी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न उत्पन्न न हो । तीसरी कसौटी यह है कि जो आहार विना किसी कष्ट के केवल अपने ही आगर्हित कर्मों से उत्पन्न हुआ हो और चौथी कसौटी यह है कि जो आहार मोक्ष प्राप्त करने में सहायक हो, वही आर्यों का भोजन हो सकता है, अन्य नहीं । ऐसे आहार को आर्यों की परिभाषा में सात्विक आहार कहते हैं । सात्विक आहार का स्वरूप और प्रभाव वर्णन करते हुए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

अर्थात् आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और सौन्दर्य के बढ़ानेवाले रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर आहार ही सात्विक पुरुषों को प्रिय हैं । इसलिए मोक्षार्थियों को सदैव एकान्त–सेवी, हलकी खूराक के खानेवाले और शरीर, वाणी और मन को वश में करनेवाले होना चाहिए । इस सात्विक और हलकी खूराक का खुलासा करते हुए वेद भगवान् कहते हैं कि—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् । (वा० यजु० २।३४)

अर्थात् घी, दूध, अन्नरस (मिश्री), पके हुए परिश्रुति (टपके हुए) फल और जल आदि बलकारक पदार्थों को खा पीकर हे स्वधास्थ पितरो ! आप तृप्त हों । इस मन्त्र में उस आहार का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है जिसको गीता ने सात्विक आहार कहा है और जिस को पितृपूजन के बाद आर्यों को नित्य खाना चाहिये । गीता ने सात्विक आहार का लक्षण रसीला, चिकना, पुष्ट और रुचिकर किया है और वेदमन्त्र ने उसी को घी, दूध, मिश्री, जल और फल बतलाया है । दोनों का एक ही तात्पर्य है । घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर होते हैं । इसलिए घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही आर्यों का आहार है । यही आहार उपर्युक्त चारों परीक्षाओंसे परीक्षित भी है । इन्हीं पदार्थों के खाने पीने से आयु, बल, मेधा और सत्त्व की वृद्धि होती है, इन्हीं पदार्थों के खाने से न किसी को कष्ट होता है और न किसी प्राणी की आयु और भोगों में बाधा पड़ती है । येही पदार्थ विना किसी प्रकार का कष्ट उठाए केवल फलों की वाटिका लगाने और गौवों की सेवा करने से ही प्राप्त हो जाते हैं और हलकी खूराक होने से यही पदार्थ ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास में भी सहायक होते हैं और मोक्षसाधन के योग्य बनाते हैं । इसीलिए आर्यशास्त्रों में इष्टापूर्त के द्वारा बाग़ बग़ीचों से फलों की और गौरक्षा के द्वारा घी दूध की प्राप्ति करना उत्तम कहा गया है । जो लोग कहते हैं कि फलों के खाने से और गौ का दूध पीने से भी हिंसा होती है, वे न फल उत्पन्न करने की विद्या जानते हैं, न फलों का खाना

जानते है और न गौवों के दूध का ही कुछ हाल जानते हैं। इसलिए हम यहाँ थोड़ा सा इन दोनों विषयों में भी प्रकाश डालने का यत्न करते हैं।

मनुष्य-आहार के चार प्रकार हैं, जिनकी प्राप्ति वृक्षों और पशुओं से होती है। इनमें दो प्रकार का आहार वृक्षों से और दो प्रकार का पशुओं से प्राप्त होता है। दूध और मांस पशुओं से तथा फल और अनाज वृक्षों से प्राप्त होते हैं। इनमें फल दूध और घृतादि सात्विक, अनाज और शाकादि राजस और मांस मद्यादि तामस अन्न हैं। सात्विक अन्नों में फलों और दूध-घृतादिकों की गणना है। फलों और घृत-दुग्धादिकों को विधिवत् ग्रहण करने से हिंसा बिलकुल ही नहीं होती। पृथिवी को उर्वरा बनाकर और बीज को क़लम आदि से सुसंकृत करके सिंचाई और निराई गोड़ाई के द्वारा जो फल उत्पन्न किये जाते हैं, वे कुदरती वन्य फलों से बड़े होते हैं और उनमें बीज कम होते हैं। इसलिए स्वभाव से पके हुए और आप ही आप टपके हुए फलों को बीज निकालकर खाने से कुछ भी हिंसा नहीं होती। क्योंकि बीज निकालकर खाने से वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले बीज का नाश नहीं होता। इसी तरह पारस्कर की शिक्षा के अनुसार वृषोत्सर्ग के द्वारा उत्तम क्षेत्र के सांड को स्वतन्त्रतापूर्वक चराकर और उससे अमुक क्षेत्र की गौ से संतति उत्पन्न कराके और इस संतति की भी सन्तान को उसी क्रम से गोवर्धन (Cow-breeding) के सिद्धान्तानुसार तैयार करने से पाँचवीं पीढ़ी में दूध की मात्रा चौगुनी हो जाती है और एक एक गौ डेढ डेढ मन दूध देनेवाली हो जाती है। परन्तु गौवों को जंगल में छोड़ देने से और मनमानी स्वाभाविक नसल उत्पन्न होने से कभी भी इतना अधिक दूध उत्पन्न नहीं होता। इसलिए बहुत सी गायों को इस प्रकार अमित दूध देनेवाली बनाकर, उनसे थोड़ा थोड़ा दूध ले लेने से हिंसा नहीं होती। क्योंकि जितना दूध बच्चों के लिए आवश्यक होता है, उतना तो उनको मिल ही जाता है। मनुष्य तो फलों की भाँति अपनी कारीगरी से गौवों की सेवा करके दूध को स्वाभाविक परिणाम से अधिक बढ़ा लेता है, इसलिए जितना अधिक बढ़ा लेता है, उतना लेने में किसी की हानि नहीं होती अतएव हिंसा भी नहीं होती। अब रहे राजस और तामस अन्न। तामसान्नों के लिए मनुस्मृति में स्पष्ट ही लिखा है कि '**यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्**' अर्थात् मांस और मद्य राक्षसों और पिशाचों के अन्न हैं, आर्यों के नहीं। इसीलिए मांस मद्य आदि हिंसारूप तामस आहारों को आर्य-सभ्यता में स्थान नहीं दिया गया। किन्तु राजसान्न-अनाज और शाकान्न-जिनके खाने में कुछ हिंसा की संभावना है, उनको आपत्काल के समय ही सेवन करने की आज्ञा है। इसीलिए यज्ञशेषान्न खाने का विधान किया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि के लिए भी स्थान है, क्योंकि अनेकों स्थानों में अन्न और कृषि की प्रशंसा की गई है। हम कहते हैं कि ठीक है, आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि का वर्णन आता है, पर उस वर्णन का अभिप्राय दूसरा है।

अर्थात् जहाँ जहाँ अन्न का वर्णन मिलता, वहाँ वहाँ सर्वत्र ही अन्न का तात्पर्य आहार ही है, अनाज नहीं। इसीलिए आहार की परिभाषा करते हुए उपनिषद् में लिखा गया है कि '**अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते**' अर्थात् प्राणीमात्र का जो कुछ आहार है, वह सब अन्न ही है। क्योंकि अन्न शब्द '**अद्भक्षणे**' धातु से बनता है, जिसका अर्थ यही

होता है कि जो कुछ खाया जाय वह सब अन्न ही है। इसीलिए मनु भगवान् ने पिशाचों और राक्षसों का अन्न मद्य और मांस बतलाया है। कहने का मतलब यह कि अन्न शब्द से अनाज का ही ग्रहण नहीं है, प्रत्युत अन्न में उन समस्त पदार्थों का समावेश है, जो प्राणीमात्र का आहार हैं। अब रही कृषि। कृषि के लिए लिखते हुए मनु भगवान् कहते हैं कि—

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ (मनु० १०।८३-८४)

अर्थात् वैश्यवृत्ति से जीते हुए भी ब्राह्मण और क्षत्री बहुत हिंसावाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ दें। खेती अच्छी है ऐसा लोग कहते हैं परंतु यह वृत्ति सत्पुरुषों द्वारा इसलिए निन्दित है कि किसान का लोहा लगा हुआ हल भूमि और भूमि के रहनेवालों का नाश कर देता है। क्योंकि धान्य की खेती से वन और वाटिकाओं का नाश हो जाता है, पशुओं के चरागाह नष्ट हो जाते हैं और वनवृक्षों से जो प्राकृतिक शीतलता प्राप्त होती है वह नहीं रहती। जंगलों की शीतलताके अभाव से वर्षा कम हो जाती है और प्राणनाशक वायु का खर्च कम हो जाने से वायु ज़हरीली हो जाती है और नाना प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। अवर्षण से भूमि निरस हो जाती है और अनावृष्टि तथा बीमारियों से मनुष्य पश्वादि मर जाते हैं। इसीलिए कृषि को गर्हित बतलाया गया है और कहा गया है कि कृषि से भूमि और भूमि के प्राणी मर जाते हैं। इसके आगे मनु भगवन् कहते हैं कि—

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च
हिरण्यधान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् । (मनुस्मृति १०।११६) .

अर्थात् बनाए हुए खेत से, स्वाभाविक खेत में, बकरी भेड़ से गौ में और धान्य तथा अन्न से सोना में कम दोष है अर्थात् उत्तर उत्तर से पूर्व पूर्व अच्छा है। अन्न से सोना अच्छा है, बकरी से गौ अच्छी है और अन्नवाले खेतों से वाटिकावाले अकृत खेत उत्तम हैं। इसमें भी पाया जाता है कि अन्नवाली खेती का दर्जा आर्यसभ्यता में बहुत ही निकृष्ट है। मनु भगवान् जहाँ खेती को इतनी हीन दृष्टि से देखते हैं, वहाँ वृक्षों की हिफ़ाज़त के लिए बहुत बड़ा जोर देते हैं आप कहते हैं कि—

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा (मनु० ११।६४)
फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ (मनु० ११।१४२)
वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ (मनु० ८।२८५)

अर्थात् ईंधन के लिए हरे वृक्षों का काटना और निन्दित अन्नों का खाना उपपातक है। फल देनेवाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों का काटनेवाला एक सौ ऋचाओं का जप करे। समस्त वनस्पतियों का जो मनुष्य जैसा जैसा नुकसान करे उसको राजा उसी प्रकार दण्ड देवे। इन आज्ञाओं से सिद्ध होता है कि वन और वाटिकाओं का दर्जा खेती से बहुत बड़ा है। ऋग्वेद १०।१४६।६ में लिखा है कि '**बह्वन्नमकृषीवलम्**' अर्थात् वनवृक्षों से विना खेती के ही बहुत सा अन्न अर्थात् मनुष्य के आहार की उत्पत्ति होती है। कहने का मतलब यह कि आर्यसभ्यता में कृषि से बाग बगीचों का माहात्म्य अधिक है। यद्यपि बाग बगीचों का माहात्म्य बड़ा है, तथापि जीविका प्रबन्ध रखनेवाले वैश्यों को कृषि करने की भी थोड़ी सी आज्ञा है। इस निर्बल आज्ञा के तीन कारण हैं। एक तो कृषि से उत्पन्न अनाज यज्ञों के काम में आता है अर्थात् अनेक प्रकार के यज्ञ अनेक प्रकार के अन्नों से ही होते हैं। दूसरे अन्न पशुओं को भी दिया जाता है, जिससे दूध और घृत की प्राप्ति होती है। तीसरे थोड़ा बहुत यज्ञशेषान्न प्रसाद के तौर पर रोज़ खाने का भी अभ्यास रक्खा जाता है, जिससे संकट के समय अन्न से भी निर्वाह किया जा सके *। इसीलिए कहा गया है कि यज्ञशेष अन्न ही खाना चाहिये, अपने लिए पकाकर नहीं +। तात्पर्य यह कि अनाज और शाकान्न आदि राजस आहार आर्यों की स्वाभाविक खुराक नहीं है। आर्यों का सात्त्विक आहार तो फल और दूध ही है, जो अर्थ और आहारसंग्रह के समस्त नियमों के अनुसार है और मोक्ष का सहायक है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण २।५।१६ में लिखा है कि '**एतद्वै पय एव अन्नं मनुष्याणाम्**' अर्थात् यह दूध ही मनुष्य का अन्न है—आहार है। इसी तरह ऋग्वेद १०।१४६।५ में लिखा है कि '**स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय**' अर्थात् मोक्षमार्गी को सुस्वादु फलों का आहार करना चाहिये। यह बात आर्यों की आदिम सभ्यता के इतिहास से भी अच्छी तरह पुष्ट होती है। क्योंकि आदिम काल में तपस्वियों का आहार प्रायः फल फूल ही था, अन्न नहीं। वनस्थों के आहार का वर्णन करते हुए मनु लिखते हैं कि—

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितिः॥ (मनुस्मृति ६।२१)

अर्थात् पुष्प × मूल अथवा काल पाकर पके और स्वयं टपके हुए फलों से वानप्रस्थी निर्वाह करे। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण और सीता

* आहार का अभ्यास एकदम नहीं बदला जा सकता, इसलिए आपत्काल का ध्यान रखते हुए प्रसाद के रूप में थोड़ा सा यज्ञशेषान्न अवश्य खाना चाहिये। नित्य यज्ञान्न खाने से उसको अच्छी तरह पकाने की भी चिन्ता रहेगी और अच्छा पका हुआ सुस्वादु अन्न ही यज्ञ में भी गुणकारी होगा।

+ **यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते।** (मनुस्मृति ३।११८)

× महुवा के एक ही वृक्ष में इतने अधिक फूल होते हैं कि उनसे एक आदमी पूरा एक साल निर्वाह कर सकता है। फूलों के सिवा उससे फल, तेल, पत्ते और लकड़ी आदि पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जिनके कारण मनुष्य को फिर और किसी अन्य आहार की आवश्यकता नहीं रहती।

फलाहार करके ही तपस्वी जीवन निर्वाह करते थे । गुहराज के आतिथ्य करने पर रामचन्द्र कहते हैं कि—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम् ।
विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ।

(वाल्मीकि रा० अयोध्या० ५०।४४)

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए, तापस भेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल फूल ही खाकर रहता हूँ । भरत ने भी कहा है कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरोम्यहम् ।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।। (वाल्मीकि रा० अयोध्या० ५०)

अर्थात् मैं भी चौदह वर्ष तक जटा धारण करके और फल मूल ही खाकर रहूँगा । लक्ष्मण भी कहते हैं कि—

आहरिष्यामि ते नित्यं फूलानि च फलानि च ।
वन्यानि च तथान्यनि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ।।

(वाल्मीकि रा० अयोध्या० ३१।२६)

अर्थात् आपके तपस्वियों के से वन्य पदार्थ लाकर दूँगा और मैं भी फल फूल ही खाकर रहूँगा । इसी तरह अयोध्याकाण्ड २७।१६ के अनुसार सीताजी भी कहती हैं कि 'फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः' अर्थात् मैं सदैव फल मूल ही खाकर रहूँगी, इसमें संदेह नहीं । इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष तक फल फूल खाकर वृद्ध नहीं किन्तु जवान आदमी भी रह सकते थे और बड़े बड़े योद्धाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करते थे । अब भी युक्तप्रान्त के बैसवाड़े में आम की फ़सल पर तीन महिने कवल आमों को ही खाकर लोग पहलवानी करते हैं । कहनेका मतलब यह कि आर्यसभ्यता के उच्चादर्श के अनुसार मनुष्य का खूराक फल, फूल, दूध, दही ही है । अन्न तो यज्ञशेष पुरोडाश ही के नाम से खाया जाता था । पर जब खेती बढ़ी और जंगलों का नाश हुआ तब लोग अन्नवाली ज़मीन का आश्रय करने लगे । कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत वनपर्व अध्याय १९० में लिखा है कि—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।।

अर्थात् जिन देशों में यव और गेहूँ आदि विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग उन्हीं देशों का आश्रय लेंगे । इससे ज्ञात होता है कि दूसरे युगों में लोग उन देशों का आश्रय लेते थे, जहाँ फल फूल ही अधिक हो, अन्न नहीं । यही कारण है कि हिन्दू जगत् में फलाहार की अब तक जितनी प्रतिष्ठा है, उतनी दूसरे खाद्य की नहीं है । फलाहार एक प्रकार का महान् उच्च आचरण और तप समझा जाता है । यही नहीं, किन्तु जितने व्रत, शुभ अनुष्ठान अर्थात् सतोगुणी कार्य हैं, सबमें फलाहार ही का विधान है । इसका भाव स्पष्ट है कि फलाहार सात्विक आहार है, इसलिए सतोगुणी अनुष्ठानों में उसका उपयोग होता है । इसी से हम बलपूर्वक कहते हैं कि आर्य-भोजन फलाहार ही है ।

इस आर्य भोजन की अधिक प्रतिष्ठा का कारण यह है कि फलाहार कामचेष्टा का भी प्रतिषेधक है। कोई मनुष्य यदि ब्रह्मचारी रहना चाहे, तो उसे फलाहार ही करना चाहिये। फलाहार से कामचेष्टा कम हो जाती है। इसलिए विधवा स्त्रियों को फलाहार के द्वारा काम को शरीर में ही शोषण करने के लिए मनु भगवान् ने विधान किया है +। इसके अतिरिक्त फल और फूलों × से मनुष्य का सारा जीवन निर्विघ्नता से बीत सकता है। आज भी साल के तीन मास हमारे अवध के बैसवारा प्रांत में आम, महुवा और जामुन से ही काटे जाते हैं। ज्येष्ठ से भाद्रमास तक आम, महुवा और जामुन के कारण बहुत से घरों में चूल्हा जलता ही नहीं, पर कोई भूख से व्याकुल या दुर्बल दिखलाई नहीं पड़ता। यह तो हुई आर्यशास्त्र और आर्यावर्त की बात। अब हम दूसरे देश के प्रमाणों से भी दिखलाना चाहते हैं कि फलाहारी लोग कितने बलवान्, परिश्रमी और दीर्घकाय होते हैं। एक ही प्रकार के फलों को खाकर मनुष्य की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए सीरिया प्रान्त के असद याकूब कयात नामी एक विद्वान् ने अपने भाषण में कहा है कि मै लेबेनन पर्वत पर गया था। वहाँ मैंने मनुष्यों को राक्षसों की भाँति बलवान और चञ्चल देखा। ये लोग केवल खजूर पर ही निर्वाह करते हैं। इनमें से अनेकों की आयु एक सौ दश वर्ष की थी *।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब एक प्रकार के फल से इतना लाभ है, तो नाना प्रकार के फलाहार से बहुत बड़ा लाभ संभव है। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य फलों के द्वारा अच्छी प्रकार निर्वाह कर सकता है और फलाहार से दीर्घायु, दीर्घकाय और बलवान् भी हो सकता है। जो लोग समझते हैं कि फलाहार से मेहनत करने की ताक़त नहीं रह जाती, वे भी ग़लती पर हैं। सन् १९०२ में जरमनी के विटसनटाइड नामक स्थान में अन्तरजातीय पैदल दौड़ हुई थी। यह दौड़ ड्रस्डन से बर्लिन तक १२४॥ मील लम्बी थी। दौड़नेवाले सब ३२ आदमी थे। मौसम गर्मी (अर्थात् १८ वीं मई सन् १९०२) का था। दौड़नेवाले ड्रस्डन से ७॥ बजे निकले। इनमें कुछ फलाहारी, कुछ शाकान्नहारी और कुछ मांसाहारी थे। शाकान्नहारियों में बर्लिन का प्रसिद्ध चलनेवाला कार्लमान भी था। बर्लिन में जो सबसे पहिले पहुँचानेवाले ६ मनुष्य थे, वे तो शाकान्न और फलहारी ही थे इनमें कार्लमान प्रथम था। कार्लमान ने २६ घंटे और ५८ मिनट में यात्रा समाप्त की थी। दौड़ की समाप्ति पर वह बिल्कुल तरोताज़ा था, किंतु बड़े बड़े प्रसिद्ध मांसाहारी पहलवान थकावट से चकनाचूर होकर पहुँचे थे। यह घटना बतलाती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं प्रत्युत

+ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
(मनुस्मृति)

× शास्त्रों में फूलोंके खाने का वर्णन है। फूलों में महुवा एकविशेष लाभदायक फूल है।

* Assad Yakoob Kayat, a native Syrian, in a speech at Exeter Hall (16th May 1838) remarked that he had lately visited Mount Lebanon, where he found the people as large as giants and there were many among them one hundred and ted years of age. (Fruits and Farinacea.)

फलाहारी है । क्योंकि मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके दाँत और आँतों को देखकर डॉक्टरों ने निर्णय किया है कि मनुष्य की स्वाभाविक खूराक फल ही है । डॉक्टर लुई कुनें के हवाले से पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल, फूल और कंद आदि हैं । स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविधि भाँति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं । अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इंद्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ा है कि जिस वस्तु को देखकर हमें घृणा होनी चाहिये, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं । इस विषय में पशु ही हमसे अच्छे हैं । जो पशु घास खाते हैं, वे मांस की तरफ़ देखते भी नहीं और जो मांस खाते हैं, वे घास की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते । इसी प्रकार फल और कंद आदि के खानेवाले जीव भी उन पदार्थों को छोड़कर घास-पात नहीं खाते और प्यास लगने पर भी सोडावाटर और मद्य नहीं पीते, परंतु मनुष्य एक विलक्षण पशु है । वह घास-पात, फल-फूल, मांस-मदिरा सभी उदरस्थ कर जाता है । फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर बन जावे ? भोजन के अनुसार स्थलचर पशुओं के तीन भेद हैं-मांसभक्षी, वनस्पतिभक्षी और फलभक्षी । बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जंतु हैं, वे सब मांसभक्षी हैं । उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है । इसीलिए उनके दाँत लम्बे और नुकीले और दूर दूर होते हैं । इस प्रकार के दाँतों से ये जीव मांस को फाड़कर निगल जाते हैं । उनके दाँतों की रचना से यह सूचित होता है कि ईश्वर ने इन्हें मांस खाने के ही लिये वैसे दाँत दिये हैं । गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जीव वनस्पति-भक्षी हैं । इसीलिये ईश्वर ने उनके दाँत ऐसे बनाये हैं, जिससे वे उन दाँतोंसे घास को सहज ही में काट सकें । उनके दाँतों की रचना ही उनके वनस्पतिभक्षी होने का प्रमाण है । किंतु मनुष्य के दाँत न तो मांसभक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घासभक्षी पशुओं से ही । उनकी बनावट ठीक वैसी ही है, जैसी बन्दर आदि फलभोगी जीवों की होती है । इसलिए यह बात निर्विवाद है, निर्भ्रान्त है और निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दाँत फल खाने ही के लिए बनाए हैं । परन्तु हम लोग जब उनसे मांस और मच्छली काटने लगे हैं, आगरे की दालमीठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं, इस पर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है ।

मांसभक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है । उनके शरीर से उनकी अँतड़ियाँ ३ से लेकर ५ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं । वनस्पतिभक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है । वे खाते भी अधिक हैं । उनकी अँतड़ियाँ उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं अब रहे फलभक्षी जीव । उनका मेदा मांसभक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अँतड़ियाँ उनके शरीर से १० से लेकर १२ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं । अब इन तीनों प्रकार के जीवों में मनुष्य का मिलान कीजिए । सिर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १॥ से २॥ फुट तक होती है और मनुष्य की अँतड़ियों की लम्बाई १६ से २८ तक होती है । अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेके रीढ़ के छोड़ तक) की लंबाई से १० से १२ गुना तक अधिक हुई । यहाँ भी फलभक्षी पशुओं से मनुष्यों की समता मिली । शरीर के अनुसार मनुष्य की अँतड़ियाँ फल खानेवाले पशुओं ही की सी निकलीं । अतएव मनुष्य के फलभक्षी होने का यह दुसरा प्रमाण हुआ ।

इसी तरह 'Odontography' नामी ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१ में प्राफ़ेसर Owen कहते हैं कि मनुष्यों के दाँत बनमानुष और बन्दरों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं और इनका भोजन भी फल, अन्न एवं मेवा एक ही प्रकार का है। इन चौपायों और मनुष्यों के दाँत-सम्बन्धी सादृश्य से विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के लिए स्वाभाविक भोजन फल ही निर्माण किया गया था। इसी सम्बन्ध में लिनाकुस (Linnacus) कहता है कि फल, मूल मनुष्यों के लिए अत्यन्त हितकर भोजन है, जो चौपायों से प्रकाशित होता है, तथा जङ्गली मनुष्य और लंगूरों के सादृश्य एवं उनके मुख, पेट और हाथों की बनावट से भी प्रकट है *। इसी तरह डॉक्टर एब्रामाउस्की जो एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं और जिन्होंने सब रोगों की एक ही सहज दवा निकाली है, लिखते हैं कि हम जो पका हुआ, रँधा हुआ, भुना हुआ, कृत्रिम भोजन करते हैं, वह हमारे लिये बहुत ही अस्वाभाविक है। हमारे शरीर के बढ़ने तथा पुष्टि पाने के लिये प्राय: ऐन्द्रिक पदार्थों (Organic Matter) की ही आवश्यकता होती है। फलों तथा अनाजों में बहुतायत से विद्यमान रहता है। किन्तु यदि फलों तथा अनाजों को अग्नि में पकाया जावे, तो उनका बहुत सा ऐन्द्रिक अंश पृथक् हो जाता है। शेष पदार्थ न केवल मुश्किल से पचनेवाला ही होता है, किन्तु पचकर हमारे शरीर के लिये कुछ लाभ भी नहीं दे सकता। जब ऐसा भोजन करने में बहुतसा अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर में घर कर लेता है, तब अनेकों रोगों की उत्पत्ति होती है। प्रायः सभी आन्तरिक रोगों की उत्पत्ति इसी निकम्मे पदार्थ के एकत्रित हो जाने से होती है। अतः इन सब रोगों का एक यही इलाज है कि किसी प्रकार वह अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर से निकल जाय और नया प्रवेश न करे। ऐसा होते ही वे रोग स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। इसीलिये प्रायः नई सम्मोत के चिकित्सक लोग भी रोगियों से उपवास करवाते हैं। उन्हें कई दिन तक सिवा गर्म पानी के और कुछ नहीं देते। यह औषधि प्राय: बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। यथाशक्ति उपवास से प्रायः रोग दूर हो जाता है। किन्तु इस औषधि के करने में एक डर यह है कि कभी कभी बहुत दिन तक शरीर को आधारभूत पदार्थ न मिलने से रोगी इतना निर्बल हो जाता है कि वृद्धि होने की जगह धीरे धीरे क्षय का राज्य हो जाता है और रोगी थोड़े ही दिनों में मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसलिए खाली उपवास के स्थान में फलोपवास अधिक उपयोगी है। क्योंकि फलों के खाने से कोई अनुपयोगी पदार्थ शरीर में नहीं घुसता और बल प्राप्त होता है, रोग नष्ट हो जाता है और शक्ति नहीं घटती।'

इन विदेशीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य की आदिम और मौलिक खूराक फल ही है और फलों के सेवन से मनुष्य कभी बीमार तो होता ही नहीं प्रत्युत यदि बीमार हो भी तो अच्छा हो जाता है और सुदृढ तथा दीर्घजीवी हो जाता है। इसीलिए आर्यों ने अपनी मूल सभ्यता में फल और दूध ही को स्थान दिया है और कृषि को तथा कृषि से उत्पन्न होनेवाले अन्नों को आपत्काल में खाने की व्यवस्था की है। व्रतों और उपवासों में फलाहार की महिमा से तथा आर्य रिवाजों और आर्य सभ्यता में पिरोई हुई विशेषताओं से यही सूचित होता है कि आर्यों का आहार सात्विक ही है, जिसमें फल और दूध, घृत की ही प्रधानता है। क्योंकि फल, फूल और दूध, घृतादि सात्विक आहार ही अर्थ की पाँचों शर्तों

* Linnasi Amoonitales Academical, Vol. X, p. 8

के साथ संग्रह हो सकते हैं और उन्हीं से आयु, बल, कांति, मेधा और सत्व आदि भी प्राप्त हो सकते हैं, तथा उन्हीं के आहार से संसार में किसी की आयु और भोगों में हस्तक्षेप भी नहीं हो सकता और योगाभ्यासादि मोक्षसाधन में भी सहायता मिलती है। इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में सात्विक आहार ही को स्थान दिया है।

आर्य वस्त्र और वेषभूषा।

अर्थ में भोजन के बाद दूसरा नम्बर वस्त्रों का है। भोजन की तरह आर्य सभ्यता में वस्त्रों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। और सिलाई का काम जानते हुए भी × आर्यों ने अपनी सभ्यता में कभी सिले हुए वस्त्रों को स्थान नहीं दिया। बुद्ध भगवान् के समय तक इस देश के आर्य सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते थे। क्योंकि बौद्ध काल के पूर्व लिखित साहित्य में कहीं भी सिले हुए वस्त्रों का वर्णन नहीं है। बौद्ध मूर्तियों में सिले हुए वस्त्रों का कहीं दर्शन नहीं होता। बंगाल और उड़ीसा आदि प्रांतों में अब भी ग्रामीण आर्य सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते। कुलीन आर्यों में अब तक पंक्तिभोजन के समय, देवाराधन अथवा यज्ञादि के समय और यज्ञोपवीतादि संस्कारों के समय सिले हुए वस्त्रों का उपयोग नहीं होता। देवपूजन के समय यदि कोई सिला हुआ वस्त्र पहने होता है, तो उसका बटन खुलवा दिया जाता है। इसके सिवा विवाह के समय वर और वधू को वस्त्र और उपवस्त्र ही के देने का विधान है, सिला हुआ वस्त्र देने का नहीं +। वस्त्र और उपवस्त्र का आधुनिक नाम धोती उपर्ना है। बंगाल और उड़ीसा में यह धोती उपर्ना एक ही में बुना हुआ बिकता है। नदिया शान्तीपुर का धोती उपर्ना प्रसिद्ध था। इसमें एक धोती और एक डुपट्टा ही होता था। यही पोशाक स्त्रियों का भी था। वे भी एक धोती और एक चादर ही धारण करती थीं। अब पंजाब, युक्तप्रान्त, बंगाल और महाराष्ट्र में यह रिवाज है। महाराष्ट्र में तो गर्मी के दिनों में भी स्त्रियाँ शाल ओढ़ती हैं। इन समस्त रिवाजों से ज्ञात होता है कि आर्य सभ्यता में सिले हुए वस्त्र के लिए स्थान नहीं है। उनकी असली आर्य पोशाक धोती और दुपट्टा ही है। महाभारत मीमांसा पृ० २६३–२६४ में श्रीयुत रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम्० ए० लिखते हैं 'कि 'महाभारत के समय भारती आर्य पुरुषों की पोशाक बिलकुल सादी थी। दो धोतीयाँ ही उनकी पोशाक थी। एक धोती कमर के नीचे पहिन ली जाती थी और दूसरी शरीर पर चाहे जैसे डाल ली जाती थी। उल्लिखित दोनों वस्त्रों के सिवा भारती आर्यों की पोशाक में और कपड़े न थे। .... आजकल स्त्रियाँ जैसे लँहगे आदि वस्त्र पहनती हैं, वैसे उस समय न थे। पुरुषों की तरह, पर उनके वस्त्रों से लम्बे, स्त्रियों के वस्त्र होते थे।'

वस्त्रों की आवश्यकता के दो ही कारण हैं। एक वर्षा और सर्दी गर्मी से रक्षा और दूसरा लज्जानिवारण। सर्दी गर्मी और वर्षा के ही कारण रुई, ऊन और चर्म अथवा वल्कल आदि वसनों का विधान है परन्तु आर्यों की उच्चतम आदर्श सभ्यता में ऊन और रेशम के वस्त्रों का विधान नहीं है। संन्यासी के लिए ऊन और रेशम का वस्त्र पहनना उचित नहीं समझा

× वर्म सीव्यध्वं, सूच्याच्छिद्यमानः (ऋग्वेद); मूर्द्धानमस्य संसीव्य (अथर्ववेद)

+ संस्कारविधि (स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत)

गया *। हाँ, प्रवास के समय पहाड़ी प्रदेशों में जहाँ बर्फ़ पड़ता है, वहाँ के लिए ऊन के वस्त्र उपयोगी कहे गये हैं। अब रही लज्जानिवारण की बात। वह सर्दी गर्मी से अधिक आवश्यक है। क्योंकि परमात्मा की यही आज्ञा है कि गुप्ताङ्गों को खुला न रक्खा जाय। उसने पशु और पक्षियों के भी गुप्ताङ्गों को पूँछ से ढक दिया है। इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह गुप्ताङ्गों को ढका रक्खे। वेद में लिखा है कि 'मा ते कशप्लकौ दृशन्' अर्थात् तेरे गुप्तांग न दिखने पावें। इसलिए गुप्तांगों का ढकना आवश्यक है। पर स्मरण रखना चाहिये कि गुप्तांगों का पर्दा और सर्दी गर्मी से रक्षा बहुत ही थोड़े और बहुत ही सादे वस्त्रों से हो जाती है। इसलिए जहाँ आर्य सभ्यता, शरीररक्षा और पर्दा के लिए वस्त्रों की अनिवार्य आज्ञा देती है, वहाँ कामकाज में असुविधा और विलास, असमानता तथा ईर्षा द्वेषादि के उत्पन्न करने-वाले वस्त्रों के उपयोग को मना भी करती है। आर्यसभ्यता उतने ही और उसी प्रकार के वस्त्रों की आज्ञा देती है, जिनसे कामकाज करने में सुविधा हो। धोती ऐसी ही पोशाक है। धोती के उपयोगिता के विषय में मिसिज़ मैनिङ्ग (Manning) कहती हैं कि, 'समस्त पोशाकों में धोती पूर्ण है और चलने-फिरने, उठने-बैठने में सुविधा देनेवाली है। इससे अच्छी दूसरी पोशाक असम्भव है' ×। इसी तरह लार्ड डफ़रिन कहते हैं कि 'पोशाक के विषय में पश्चिम को पूर्व से बहुत कुछ सीखना है' +। इस धोती और चादर की पोशाक से जहाँ अंगरक्षा, पर्दा और कामकाज में सुविधा होती है, वहाँ समाज में विलास और ईर्षा-द्वेष नहीं बढ़ता। समाज को विलासी और असमान बनानेवाली पोशाक ही है। अपने घर में मनुष्य ने चाहे जो कुछ खाया हो, पर उसका प्रत्यक्ष अनुभव समाज को नहीं होता। किन्तु पोशाक बाह्य आडम्बर है-यह दिखलाई पड़ती है-इसलिए इससे समाज में विलास और असमानताजन्य ईर्षा-द्वेष के उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। तर्ज़, फ़ैशन और बनावट से ही समाज में असमानता उत्पन्न होती है, इसीलिए आर्य सभ्यता में सादी सीधी धोती और चादर ही के पहिरने ओढ़ने की आज्ञा है।

वर्तमान समय में वस्त्रों के अनेको तर्ज़ और फ़ैशनों से भले आदमी कहलानेवाले गृहस्थों को कितना कष्ट हो रहा है, यह किसी समझदार आदमी से छिपा नहीं है। साल की सारी कमाई कपड़ों में ही जाती है, तब भी पोशाक में कमी बनी रहती है। एक एक गृहस्थ के घर में एक एक आदमी के लिए चार चार छ छे सन्दूक कपड़े रक्खे हुए हैं और उनका सारा दिन उन्हीं के बदलने में व्यतीत होता है। अतएव मनुष्य के लिए उतने और उसी प्रकार के वस्त्र होने चाहिए जिनको वह रक्षा और पर्दा के लिए खुद ही तैयार कर ले।

---

* ऊर्णा केशोद्भवा ज्ञेया मलकीटोद्भवः पटः।
कस्तूरीरोचनं रक्तं वर्जयेदात्मवान् यतिः॥
वस्त्रं कार्पासजं ग्राह्यम्। (कात्यायनस्मृति)

× Any dress more perfectly convenient to walk, to sit, to lie in, it would be impossible to invent. (Ancient and Mediaeval India, Vol. II, p. 358.)

+ The West has still much to learn from the East in matters of dress.

इस दृष्टि से भी धोती और चादर का ही महत्त्व समझ में आता है। इस समय लहँगा, पाजामा, पटलून और कुरता, कोट, क़मीज़ तथा चुग़ा, आदि जितने सिले हुए वस्त्र पाये जाते हैं, सब उन्हीं धोती चादर के ही रूपान्तर हैं। धोती से तहमत और लहँगा बना है इन्हीं दोनों के मेल से ढीला पाजामा, पाजामा, पटलून और जोधपुरी आदि बनी हैं। इसी तरह चादर से कफ़नी, (जिसको बीच में फ़ाड कर गले में डाल लेते हैं), कफ़नी से कुरता और कुरता से कोट और चुग़ा आदि बने हैं। इसी तरह शिर के केशों से साफ़ा की और साफ़ासे टोपी की सृष्टि हुई है। प्राचीन मौलिक आर्य सभ्यता की पोशाक में नीचे धोती, शरीर में चादर का ओढना, शिर पर केशों का मुकुट और गले में फूलों की माला है। यही फ़ैशन सुविधाजनक भी है। किंतु आजकल की पोशाक के कारण ज़रा सा कीचड़ हो जाने पर, नदी उतरते समय, लगी हुई आग को बुझाते समय अथवा और किसी दौड़ धूप के समय बड़ी ही दुर्दशा होती है। परन्तु धोती चादर में यह असुविधा नहीं है।

आर्य सभ्यता में केशों का भी बड़ा माहात्म्य है। बाल वृद्धादि असमर्थों के अतिरिक्त किसी आर्य को केश कटाने की आज्ञा नहीं है। बाल्यकाल में जब लड़का असमर्थ होता है, तब उसका मुण्डन कर दिया जाता है और जब अत्यन्त वृद्ध होकर अथवा शरीर रोगी होकर असमर्थ हो जाता है, तब भी मुण्डित करने की आज्ञा है। संन्यासियों का मुण्डण इसी दशा का सूचक है। इन दशाओं के अतिरिक्त आर्यों को सदैव डाढ़ी, मूछ और शिर के केशों की रक्षा करना चाहिये। इस कठिन नियम का यह कारण है कि बालों में विद्युत्-ग्रहण करने का अद्भुत शक्ति है। इस शक्ति के सहारे केशों के द्वारा द्यौ–तत्त्व मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञानतन्तुओं को बल पहुँचाता है। वेद में लिखा है कि '**बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायै शीर्षे केशमकल्पयत्**' अर्थात् ज्ञानाधिष्ठान बृहस्पति–आकाश–ने पहिले ही सूर्या के द्वारा शिर में केशों को उत्पन्न किया। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान और सूर्य का केशों के साथ अपूर्व संबंध है। क्योंकि रंग सूर्य से उत्पन्न होता है और मनुष्यशरीर के केश अपना रंग चार बार पलटते हैं।

बाल्यकाल में जब ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती, तब बालक के बालों का रंग पीत लाल होता है और जब वृद्धावस्था में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति नहीं रह जाती, तब बालों का रंग सफ़ेद हो जाता है किन्तु युवावस्था में जब ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है, तब बालों का रंग काला रहता है। काले रंग में सूर्य की किरणों का प्रभाव विशेष पड़ता है, इसीलिए काले केशवाले युवा मनुष्य ही ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति भी रखते हैं। यह बालों के रंगों का परिवर्तन केवल मनुष्यों में ही देखा जाता है, पशुपक्षियों में नहीं। इससे और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि, असमर्थ दशा को छोड़कर अन्य समस्त दशाओं में केशों को धारण ही किये रहना चाहिये। इसीलिए कहा गया है कि '**जटिलो मुण्डितो वा**' अर्थात् चाहे समस्त केश रक्खे और चाहे मुँडवा दे। तात्पर्य यह कि जो समर्थ हैं, वे रक्खें और जो असमर्थ हैं, वे निकलवा दें। निकलवा देना बाल, वृद्ध और रोगियों के ही लिये है। क्योंकि वेद में ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी आदि सभी स्त्रीपुरुषों के लिए केश रखने का उपदेश किया गया है। ब्रह्मचारी के लिए अथर्ववेद ११।३।६ में लिखा है कि—

'ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।'

इस में ब्रह्मचारी को दीर्घ श्मश्रुवाला अर्थात् बड़े बड़े दाढ़ी मूँछोंवाला कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए दूसरी जगह स्पष्ट लिखा है कि 'क्षुरकृत्यं वर्जय' अर्थात् ब्रह्मचारी को बाल बनवाना मना है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए बाल बनवाना मना है, उसी तरह गृहस्थ के लिए भी मना है। राजा के लिए लिखा है कि—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रुणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ (यजु० २०।५)

इसमें राजा के शिर के केशों और डाढ़ी, मूँछों की भी प्रसंशा की गई है। इसी तरह वनस्थ के लिए भी लिखा ही है कि 'जटाश्च विभृतान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च' अर्थात् वानप्रस्थ सदैव जटा रक्खे और कभी बाल और नाखून न कढावें। कहने का मतलब यह है कि असमर्थ दशा के अतिरिक्त आर्यसभ्यता के अनुसार मनुष्य को कभी केश और बाल न निकलवाना चाहिये। वेदों में जहाँ बालों के रखने का आदेश किया गया है वहाँ उनके स्वच्छ रखने का भी उपदेश है। अथर्ववेदमें लिखा है कि 'कृत्रिमः कण्टकः शतदन्, शीर्षकेश अपः लिखात्' अर्थात् अनेक कृत्रिम काँटोंवाले कंघे से शिर के बालों का विन्यास किया जावे। इन समस्त आज्ञाओं से पता लगता है कि आर्यसभ्यता में केशों की रक्षा का विधान है। यही नहीं, किन्तु इतिहास और प्राचीन चित्रकला से भी पाया जाता है कि ऋषि, मुनि और राजा, महाराजा सब केश रखते थे। रामचन्द्र के शिर पर केश पहले ही से बड़े बड़े थे, तभी वे तुरन्त ही वटक्षीर से उन्हें जटिल बना सके। कृष्ण, अर्जुन और अन्य योद्धाओं के वर्णनों में भी केश सँभालने का ज़िक्र आता है। ऋषि तो जटाधारी थे ही। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में केशों से ही आर्यों और दस्युओं की पहिचान भी होती थी।

प्राचीन काल में जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य की पहिचान के लिए सूत, सन और ऊन का यज्ञोपवीत पहिना जाता था, उसी प्रकार आर्य और दस्यु की पहिचान के लिए शिर के केशों में एक ग्रंथि लगाई जाती थी। जिनके शिर में ग्रंथि होती थी, वे आर्य और जिनके शिर के केशों में ग्रंथि न होती थी, वे दस्यु अर्थात् अनार्य समझे जाते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों के अंदर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शुद्र ये चार उपभेद थे। इन चारों में से तीन द्विज थे, जो यज्ञोपवीत की भिन्नता से पहचाने जाते थे, किन्तु शुद्र आर्य होते हुए भी यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे, अतएव वे केशों की ग्रंथि से ही पहचाने जाते थे। इस प्रकार से केशग्रंथि आर्यत्व का चिह्न था। कभी कारणवश जब लोग शिर के बाल मुँड़वा डालते थे, तो ग्रंथि के लिए थोड़े से बाल रख लेते थे और उसी को शिखा कहा करते थे, अर्थात् आर्यत्व का चिह्न शिखा थी और द्विजातिभेद का चिह्न सूत्र था। सूत्र द्विजों का और शिखा आर्यत्व का चिह्न थी, यह हमारी केवल कल्पना नहीं है, प्रत्युत सप्रमाण सिद्ध है कि पूर्वसमय में जब जब कभी आर्यों ने किसी को भी जातिच्युत करके अनार्य किया है अथवा उसे आर्यों से पृथक करके दस्यु बनाया है, तब तब उसके केशों को कटवा दिया है अथवा शिखाग्रंथि को खोलवा दिया है। ये बातें महाभारत हरिवंश और विष्णुपुराण में अच्छी तरह वर्णन की गई हैं। अतः हम यहाँ इस विषय के दो श्लोक लिखते हैं—

अर्धं शकानां शिरसो मुंडयित्वा व्यसर्जयत् ।
यवनानां शिरः सर्वे काम्बोजानां तथैव च ॥
पारदाः मुक्तकेशाश्च पह्लवाश्मश्रुधारिणः ।
निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना ॥

अर्थात् शकों का आधा शिर मुँडवा दिया गया, यवनों का कुल शिर मुँडवा दिया गया, कम्बोजों का समस्त शिर मुँडवा दिया गया, पारदों की शिखाग्रंथी खुलवा दी गई और पह्लवों के केवल मोछ रक्खे गये और शिर के डाढ़ी के बल मुँडवा दिये गये। इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि शिर के केश अर्थात् शिखा आर्यत्व का चिह्न समझी जाती थी। आगे की जाने दीजिये, अभी १०० वर्ष पहिले भी यही रिवाज था कि कभी किसी पतित को त्यागते थे, तो उसका शिर मुँडवाकर और गधे पर चढ़ाकर निकलवा देते थे। इन घटनाओं से समझ में आ जाता है कि हमारे केश किस प्रकार विज्ञान से भरे हुये, धार्मिक ऐतिहासिक और आर्यत्व के प्रतिपादन करनेवाले हैं। हम देखते हैं कि आजकल लोग हिन्दू (आर्य) का लक्षण अनेक प्रकार का करते हैं, पर विना आर्यइतिहास के समझे वे हिंदू का ठीक ठीक लक्षण ही नहीं कर सकते। पर वैदिक जानते हैं कि शिखासूत्रधारी को आर्य (हिंदू) कहते हैं। शिखा में सिक्ख, बौद्ध, जैन, शूद्र और कोलभील सभी जाते हैं और सूत्र में द्विजाति तथा पारसी आ जाते हैं और इस प्रकार से केशों की खूबी समझने पर आर्यफ़शन, आर्यवेशभूषा और आर्यपोशाक का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

आर्य सभ्यता में केशों की भाँति नाखूनों का भी बड़ा महत्त्व है। नाखूनों के द्वारा श्रम की इयत्ता अर्थात् मर्यादा और प्रकार अर्थात् विधि से संबंध रखनेवाली दो बातें जानी जाती हैं। एक तो यह कि ऐसे काम किये जाँय, जिनसे नाखून आप ही आप घिस जाँय, काटना न पड़े और दूसरा यह कि इतना काम किया जाय, जिससे न तो नाखून परिणाम से अधिक घिस ही जाँय और न बने ही रहें। खेती करनेवाले किसान और घरों में काम करनेवाली स्त्रियों को कभी नाखून काटने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु कसरत के द्वारा श्रम करनेवालों को अथवा कुछ भी काम न करनेवालों को नाखून कटाना पड़ते हैं। इससे ज्ञात होता है कि न तो निकम्मे बैठना ही अच्छा है और न डण्ड बैठक जैसे व्यर्थ श्रमों का करना ही अच्छा है, प्रत्युत इस प्रकार का काम करना अच्छा है, जिस प्रकार के काम किसान अथवा घर में काम करनेवाली स्त्रियाँ करती हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि कृषकों के समान काम करनेवालों के भी नाखून इतना न घिस जाना चाहिये कि, जिससे ज़िन्दा नाखून कट जाय। मनुष्यों को श्रम करने का क्षेत्र केवल भोजन और वस्त्रादि उत्पन्न करना ही है।

इसलिए तात्सम्बन्धी श्रम ही उसके लिए आवश्यक है। किंतु दुःख से कहना पड़ता है कि कसरत करनेवाले व्यर्थ ही घण्टों श्रम करते हैं और उस श्रम से कुछ भी जीविका उत्पन्न नहीं कर सकते। उल्टा दूसरों की कमाई खाते हैं और अपनी खूराक में इतना अधिक खर्च करते हैं कि एक पहलवान की खूराक में चार भले आदमियों का निर्वाह हो सकता है। अगर नाखून का विज्ञान ज्ञात होता, तो वे कभी ऐसा न करते। नाखून कटाना निकम्मेपन की दलील है। २५ वर्ष पूर्व चीन में वह आदमी अधिक अमीर समझा जाता था जिसके नाखून बहुत बड़े हों। यह अमीरत की स्पर्धा यहाँ तक बढ़ गई थी कि लोगों के नाखून चार चार

इञ्च तक बढ़ गये थे। नाखून बढ़ाने की ग़रज़ से वे लोग कुछ भी काम नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि नाखून चाहे बढ़ाये जायँ और चाहे बढ़े हुए कटाये जायँ—दोनों का अर्थ निकम्मापन ही है। पर आर्यसभ्यता सिखलाती है कि वानप्रस्थी फल, फूल खाकर रहें और केश तथा नाखून न कटाएँ। इसका मतलब स्पष्ट है कि वानप्रस्थ वन और वाटिकाओं में श्रम करके ख़ूराक पैदा करें, जिससे नाखून आप ही आप घिस जायँ। यह बात आज भी वनवासियों में देखी जाती है। जंगलनिवासी न कभी नाखून कटाते हैं और न कभी उनके नाखून बढ़े हुए देखे गये हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि नाखून हमारे श्रम की कसौटी हैं—पैमाना हैं—इसलिए नाखून कभी न कटाना चाहिये, प्रत्युत खेतों और वाटिकाओं में इतना और इस प्रकार का काम करना चाहिये, जिससे नाखून स्वयं घिस जायँ।

आर्य सभ्यता में धातु के आभूषणों के लिए स्थान नहीं है। क्योंकि वैदिक आर्य सुगन्धित फूलों के ही आभूषण पहनते थे और सोनेचाँदी के आभूषण नहीं पहनते थे। वे सोने चाँदी के आभूषण तो पशुओं (गायों) को पहिनाते थे। इतना होने पर भी वे सुवर्ण के गुणों को खूब जानते थे, इसलिए यद्यपि सुवर्ण के आभूषण नहीं पहनते थे, पर सुवर्ण को शरीर के किसी न किसी भाग में लगा हुआ अवश्य रखते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों की सभ्यता के अनुसार सुवर्ण का धारण करना और सुवर्ण अथवा चाँदी का आभूषण पहनना दोनों अलग अलग बातें मानी गई हैं। जिस प्रकार बिना चेन की घड़ी केवल समय देखने के लिए गुप्त रीति से पाकेट में पड़ी रहना एक बात है और सोने की सुन्दर चेन में घड़ी को बाँधकर कलाई में पहनना दूसरी बात है। उसी तरह सुवर्ण धारण करना और सुवर्ण का आभूषण पहिनना दोनों अलग अलग समझा गया है। कलाई में सुवर्ण की चेन के साथ बाँधना आभूषण की श्रेणी में है और समय देखने के लिए घड़ी का पाकेट में पड़ा रहना सुवर्ण के धारण करने की श्रेणी में है। जिस प्रकार घड़ी का मुख्य उद्देश समय देखना है, आभूषण बनाना नहीं, उसी तरह सुवर्ण का शरीर में लगा रहना स्वास्थ्य के लिये है, आभूषण के लिए नहीं।

आर्य सभ्यता में सुवर्ण आयुर्वर्धक माना गया है। यही कारण है कि आर्य लोग लड़का के पैदा होते ही सुवर्ण की शलाका से उसकी जिह्वा में ओ३म् लिखते हैं और मरने के समय भी बीमार के मुँह में सुवर्ण डालते हैं। सुवर्ण डालते ही नहीं प्रत्युत मृत्यु के कई दिन पूर्व से सुवर्ण के बने हुए चन्द्रोदयादि रसों का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं। जन्ममृत्यु के समयों के अतिरिक्त भी कुंडल अथवा अँगूठी के रूप में आर्य लोग सदैव सुवर्ण को धारण किये रहते थे, पर कुंडल और अँगूठी को आभूषण नहीं समझते थे। कुंडल का अर्थ गोल छल्ला है और अँगूठी भी एक छल्ला ही है। छल्ला आभूषण नहीं है, क्योंकि इस में कुछ भी कारीगरी नहीं होती—फूल पत्ती का काम नहीं होता। कानों में छिद्र होने के कारण ही औषधिरूप कुंडल पहने जाते हैं, आभूषण के लिए नहीं। क्योंकि सुवर्ण के वर्कों और सुवर्ण से बने हुए चन्द्रोदयादि रसों के खाने से अच्छी प्रकार ज्ञात होता है कि सुवर्ण में दीर्घायु का गुण है। इसी गुण का वर्णन करते हुए वेद में बतलाया गया है कि दीर्घायु के लिए सुवर्ण अवश्य धारण करना चाहिये। अथर्ववेद और यजुर्वेद में लिखा है कि—

पुनाति एव एनं यो हिरण्यं बिभर्ति । (अथर्व० १९।२६।९)
जरामृत्युं भवति यो हिरण्यं बिभर्ति । (अथर्व० १९।२६।१)
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः ।
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ (यजुर्वेद ३४।५)

अर्थात् सुवर्ण उसको पवित्र कर देता है, जो उसे धारण करता है । जो सुवर्ण धारण करता है, वह वृद्ध होकर मरता है । जो उत्तम सुवर्ण धारण करता है, वह दीर्घजीवी होता है ।

सुवर्ण के इस महान् गुण के ही कारण शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।२४ और १०।४।१।६ में '**आयुः हिरण्यं, अमृतं हिरण्यं**' अर्थात् सुवर्ण आयु है और सुवर्ण अमृत है कहा गया है । इसी गुण के कारण आर्य लोग जन्म से मृत्युपर्यंत सुवर्ण को कान मे या अंगुली में पहिनते थे × पर इन छल्लों को भी आभूषण नहीं कहते थे । आभूषण तो वे सदैव फूलों का ही पहिनते थे । क्योंकि फूलों के आभूषणों से मन प्रफुल्लित होता है और शीतलता प्राप्त होती बचाते हैं । यही कारण है कि ऋषि लोग फूलों के आभूषण बनाकर ऋषिपत्नियों को पहिनाते थे । 'एक बार चुनि कुसुम सुहाये । निज कर भूषण राम बनाये । सातहि पहिराये प्रभु सादर' का सुन्दर वर्णन रामायण में किया गया है ।

इससे ज्ञात होता है कि आर्यलोग आभूषण फूलों के ही पहिनते थे और कुंडल आदि सादे छल्ले तो केवल आरोग्यता प्राप्त करने के ही अभिप्राय से पहिनते थ, आभूषणों के अभिप्राय से नहीं । आर्यसभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले जितने प्राचीन आभूषण है, उनके नामों से ज्ञात होता है कि वे फूलों के ही होते थे । कर्णफूल, कण्ठश्री और वेणीपर्ण आदि नाम फूल, पत्तों के ही सूचक हैं । इसके अतिरिक्त जितने आभूषण हैं, सबमें बेल, फूल, कली और पत्ते ही बने होते हैं । फूलपत्तों की ही नक्काशी होती है, अतएव यह बात निर्विवाद है कि आदिम काल में आर्यों के आभूषण फूलों के ही होते थे । परन्तु अनुमान होता कि कुछ दिन के बाद गौभक्त आर्यों ने कारीगरों से सोने के फूलपत्ते बनवाकर और उनमें फूलों के ही रंगों के मूल्यवान् पत्थर जड़वाकर गायों के लिए आभूषण तैयार करवाये और मणिमुक्ताखचित आभूषणों से अपनी गायों को सजाया । फल यह हुआ कि कुछ दिन के बाद फूलों के आभूषणों के स्थान में सुवर्ण के आभूषण बनने लगे और सब लोग धातुनिर्मित अनेक प्रकार के गहने पहिनने लगे । परन्तु आर्यों की आदिम सभ्यता में धातुनिर्मित आभूषणों के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है । जिस प्रकार उनके वस्त्र सादे हैं और जिस प्रकार उनका भेष सादा है उसी प्रकार उनकी भूषा भी सादी ही है ।

आर्य गृह, ग्राम और नगर ।

अर्थ की तीसरी शाखा गृह है । सर्दी, गर्मी और वर्षा के कष्ट से बचने तथा अन्य सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए यद्यपि घर की आवश्यकता मनुष्यमात्र को होती

× अण्डवृद्धि को रोकने के लिए कर्णवेधसंस्कार होता है और कान में छिद्र किया जाता है । उस छिद्र की रक्षा और सुवर्ण का धारण कुंडलों से ही हो जाता है, इसीलिए कान में सुवर्ण पहिनने का रिवाज हो गया है ।

है, तथापि आर्यसभ्यता में गृह अर्थात् घर का विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि आर्यों की आश्रमव्यवस्था के अनुसार उनके समाज की आधे से भी अधिक जनसंख्या के पास निज का घर नहीं होता। ब्रह्मचारी, वनस्थ, संन्यासी और अन्य ऐसे ही उपयोगी मनुष्य केवल गृहस्थों के ही घरों में आश्रय ग्रहण करते हैं। इसलिए आर्यों को घर के के विषय में बहुत ही सोच समझकर नियम बनाने पड़े हैं। हमने जिन ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियों को बिना घर द्वार के लिखा है, उनमें वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों आर्यजीवन का अन्तिम उद्देश्य पूरा करने के लिए मोक्षमार्ग का पूर्ण अवलंबन किये हुए विचरते हैं। तीसरे ब्रह्मचारी लोग गृहस्थ बनकर और फिर उन्हीं दोनों का अनुकरण करनेवाली शिक्षा और दीक्षा को प्राप्त करते हुए फिरते हैं। इन तीन दलों को सहायता देने और स्वयं दोनों अंतिम दलों में प्रवेश करने के लिए ही गृहस्थाश्रम की व्यवस्था है। इसीलिए तीन भाग जनता के पास मकान नहीं होते और एक भाग जनता के पास मकान होते है, जो केवल उपर्युक्त तीनों आश्रमियों की सेवा करने के लिए ही होते हैं और ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों की चाल ढाल के विपरीत न हों, उनमें मोह किसी दूसरे काम के लिए नहीं। अतएव आर्यों के मकान ऐसे ही होना चाहिये जो और वासना का ज़हर डालनेवाले न हों और गृहस्थ के प्रति घृणा, उपेक्षा तथा तिरस्कार उत्पन्न करनेवाले न हों। प्रत्युत आर्यों के घर ऐसे हों जो मोक्षमार्गियों को अपने निकट बुलाते हों और गृहस्थ को भी वनस्थ बनने में सहायता देते हों।

एक आर्य जब ब्रह्मचर्याश्रम से आकर गृहस्थ बनता है, तो ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों में एक प्रकार का बल प्राप्त हो जाता है। उनको विश्वास हो जाता है कि हमारी सेवा करने के लिए और हमें सहायता देने के लिए अब एक और मज़बूत बाहुबलवाले दम्पति ने अपने घर में अग्नि की स्थापना की है। इसी अभिप्राय से आर्यों ने विवाह के बाद अपने कुटुम्ब से पृथक् हो कर जुदा रहने में ही धर्म माना है। मनु भगवान् कहते हैं कि 'पृथक विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया' अर्थात् अलग रहने से ही धर्म बढ़ता है, इसलिए अलग ही रहना चाहिये। यही बात गौतमसूत्र अध्याय २८ में इस प्रकार लिखी है कि 'पिता की मृत्यु के पश्चात् अथवा पिता के जीते ही जी जब माता के पुत्र जनने का समय व्यतीत हो जाय, तब तक पुत्र पिता की सम्पति को बाँट लें। इसी तरह शुक्रनीति में भी लिखा है कि—

सदारप्रौढपुत्रां दाक् श्रेयोऽर्थी विभजेत्पिता।
सदारा भ्रातरः प्रौढाः विभजेयुः परस्परम्।

अर्थात् युवा और विवाहित पुत्र अथवा भाई कल्याण के लिए परस्पर गृहस्थी को बाँट लें और जुदा हो जायँ। इस पृथक्ता का केवल इतना ही कारण है कि प्रत्येक विवाहित पुरुष बहुकुटुम्ब के कलह, प्रमाद और आलस्य से हटकर अलग घर बनावे और अपने बाहुबल से मोक्षार्थियों की सेवा और सत्सङ्ग से खुद भी मोक्षमार्गी बन जाय। तात्पर्य यह कि गृहस्थों के घर मोक्षमार्ग के केन्द्र होना चाहिये, जिनमें देव, पित्तर, ब्रह्मचारी, संन्यासी, पापरोगी, श्वपच और पशु पक्षी, कीट पतङ्ग, तृण पल्लव सभी की पूजा हो और सभी को सहारा दिया जाय। ऐसे घर जिन में निरंतर मोक्षार्थियों की सेवा होती ही और जहाँ

निरंतर मोक्ष प्राप्त करने का ही उद्योग होता हो वे ऐसे ही होना चाहिए जो स्वच्छ, सात्विक अभयदान देनेवाले और रम्य हों। उन मकानों से अभिमान, विलास और अपवित्रता की बू न आती हो, प्रत्युत शांति मिलती हो। यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में बहुत ही सादे मकानों को स्थान दिया है और यही कारण है कि पुराने ज़माने में आर्यों के मकान बहुत ही सादे होते थे। 'महाभारत–मीमांसा' पृष्ठ १७५ मे रायबहादुर चिंतामणी विनायक वैद्य, एम्० ए० लिखते हैं कि 'हिंदुस्तान में प्राचनि काल में प्रायः लकड़ी और मिट्टी के ही मकान थे। दुर्योधन ने पाण्डवों के रहने के लिए जो लाक्षागृह बनवाने की आज्ञा दी थी, उसमें लकड़ी मिट्टी की ही दीवारें बनाने को कहा गया था। इन दीवारों के भीतर राल, लाख आदि ज्वालाग्राही पदार्थ डाल दिये गये थे और ऊपर से मिट्टी लीप दी गई थी। जब पाण्डवों सरीखे राजपुरुषों के रहने के लिये ऐसे घर बनाने की आज्ञा दी गई थी, तब यही बात होती है कि महाभारतकाल में बड़े लोगों के घर भी मिट्टी के ही होते थे। यह बात बिलकुल ही ठीक है। आर्यों के घर ऐसे ही होते थे। पर इसका मतलब यह नहीं है कि आर्य लोग ईंट बनाना या पत्थर काटकर जोड़ना नहीं जानते थे। वे ईंटों को पकाना जानते थे और ईंटों से हवनकुण्ड और हवनमण्डप बनवाते भी थे, यहाँ तक की बड़े बड़े लोहे के किले भी बनवाते थे। यह बात 'अग्न इष्टका' का वर्णन करते हुए यजुर्वेद में और आयसी पुर का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखी भी है। किन्तु जैसा कि हम अभी कह आये हैं आर्यों के रहनेवाले मकान मोक्षार्थिओं के टिकने और मोक्षार्थ की चरचा करने ही के लिये थे, इसलिये वे प्रमाद उत्पन्न करनेवाले ढंग के नहीं बनाये थे। भव्य भवनों और साधारण आर्य घरोंमें क्या अन्तर है और दोनों से क्या क्या हानि लाभ हैं यही बतलाने का यत्न करते हैं।

सादे सीधे, मिट्टी लकड़ी और घास के छोटे छोटे मकान झाड़ने और लीपने पोतने से नित्य पवित्र हो जाते हैं, परन्तु बड़े ऊंचे और ईंट पत्थर के मकान इतनी जलदी रोज़ साफ़ नहीं हो सकते। ईंट पत्थर के मकान गर्मी में अधिक गर्म और सर्दी में अधिक सर्द तथा वर्षा मे अधिक गर्मी उत्पन्न करते हैं, पर मट्टी लकड़ी और छप्पर के मकान गर्मी में ठंडे, सर्दी में गर्म और वर्षा ऋतु में बड़े ही हवादार हो जाते हैं। वर्षाकाल में घास का छप्पर तो बड़ा ही आनन्ददायक होता है। सादे मकान बहुत ही थोड़े श्रम और खर्च से बन जाते हैं, परन्तु ईंट पत्थर के भव्य भवनों में लाखों रुपया लग जाता है। आज इमारत के व्यर्थ खर्च के कारण नवीन स्कूलों और कॉलेजों का खुलना कठीन हो रहा है। नवीन स्कूल का नाम लेते ही बिल्डिंग का प्रश्न सामने आता है और हज़ारों की बात लाखों में बदल जाती है और सारी स्कीम दिमाग़ में ही पड़ी रह जाती है। परन्तु यदि सादे मकानों का अनुकरण किया जाय तो प्रत्येक तहसील में थोड़ी ही लागत से एक एक कॉलेज खुल सकता है। इसलिए भव्य भवनों से सादे मकान अधिक उपयोगी हैं। सादे मकानों की उपयोगिता उस समय बहुत ही अच्छी तरह समझ में आ जाती है, जब भूकम्प, अग्निकाण्ड अथवा नदियों के प्रवाह से गाँवों का नाश होता है। ऐसी आपत्तियों में से भूकम्प के कारण तो छप्परवाले मकान गिरते ही नहीं। रहा अग्निकाण्ड और जलप्रवाह, यद्यपि इनसे सादे मकान भी नष्ट होते हैं पर सादे घरों के नष्ट होने में भव्य भवनों की अपेक्षा बहुत ही कम हानि होती है। कम हानि के कारण छोटे मकानवाला दस ही बीस दिन में अपना नया मकान फिर बना लेता

है, परंतु भव्य भवनवाले का तो फिर दूसरा भव्य भवन आजीवन बनवाया ही नहीं बनता। इसका मतलब यह हुआ कि सादे मकान सदैव क़ायम रहते हैं, पर भव्य भवनों की स्थिरता में संदेह है। बड़े मकानवालों में स्वाभाविक ही अभिमान और प्रमाद होता है, पर साधारण मकानवाले बहुत ही सरल होते हैं। बड़े मकानों में रहते ही नौकर, फ़रनीचर, सवारी और अनेक प्रकार की पोशाकों और ठाटबाटों की आवश्यकता अकारण ही उत्पन्न हो जाती है, पर सादे मकानों से ये बातें उत्पन्न नहीं होतीं। भव्य भवनों और सादे मकानों में जो सबसे बड़ा अंतर है, वह मोह और पैतृक सम्पत्ति का है सादे मकानवाले जब चाहते हैं तब अपने मकान को छोड़कर सुविधा के साथ दूसरी जगह नया मकान बना लेते हैं और बात की बात में ग्राम, ज़िला और प्रांत को भी छोड़ देते हैं, जिनका नमूना हम नित्य खानेबदोशों—नट, कंजर और हबूड़ों में देखते है। पर ऊँची हवेलीवाले हज़ार हज़ार मुसीबतों के आने पर भी अपनी कोठी के मोह से न कहीं जा सकते हैं और न अमीरत की व्यर्थ बू को दिमाग़ से निकाल सकते हैं, प्रत्युत उसी पुरानी कोठी को सम्पति मानकर उसी के पत्थरों में पैर रगड़ा करते हैं इसलिए भव्य भवन और बड़ी बड़ी कोठियाँ मनुष्य की स्वाभाविक रहन सहन के बिलकुल ही विपरीत हैं। इन्होंने मनुष्यों में सबसे पहिले मिलकियत के भावों को उत्पन्न किया है और उन्होंने पैतृक सम्पति के भावों की जड़ जमाई है। इसीलिए मोह अभिमान और आलस्य उत्पन्न करनेवाले ऐसे मकानों को आर्यों ने अपनी सभ्यता में स्थान नहीं दिया। आर्यों के मकानों का आदर्श वर्णन करते हुए अथर्ववेद में लिखा है कि—

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती।

(अथर्ववेद ९।३।१७)

या द्विपक्षा दशपक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षा दशपक्षा शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।

(अथर्ववेद ९।३।२१)

अर्थात् तृण से छाई हुई और तोरण वन्दनवारों से सजी हुई हे शाला! तू सबको रात्रि के समय शांति देनेवाली है और लकड़ी के खंभों भर हस्तिनी की भाँति थोड़ी सी ज़मीन में स्थित है। जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छे छप्परवाली और आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस इज्ज़त बचानेवाली शाला (घर) में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ। वैदिक आर्यों के घरों का यही आदर्श है। इन्हीं घरों मे रहकर वे ईश्वरपरायण मोक्षार्थी भक्तों को आश्रय देते थे और स्वंय उनके सत्सङ्ग से मोक्षसाधन में सदैव रत रहते थे। यही कारण है कि वैश्यवर्ण के द्वारा संशोधित पृथिवीखण्डो मे जहाँ का जल वायु उत्तम होता था, पशुओं के लिए चरने योग्य बड़े बड़े चरागाह होते थे और जंगलों तथा ऊँचे पहाड़ों का दृश्य होता था, वहीं वे अपनी बस्ती बना देते थे। आर्यों के घर मिट्टी, लकड़ी और घास से और फूल फलों की वाटिकाओं से घिरी हुई ऊँची भूमि पर, नदी के निकट कूप तड़ागों से आप्यायित और उर्वरा भूमि पर बनाये जाते थे। मकान बनाते समय इस बात का ध्यान रहता था कि प्रत्येक घर दूर

दूर पर उतनी भूमि को छोड़ कर बनाया जावे, जिसमें एक कुटुम्ब के योग्य भोजन वस्त्र और पशुचारन उत्पन्न हो सके। मकानों का यह ढंग बंगाल और मध्यप्रदेश में कहीं कहीं अब तक जीवित है।

अच्छे आर्यगृहों में दश छप्पर अर्थात् दश भिन्न भिन्न कमरे होते थे। इनमें पाँच अंदर की ओर और पाँच मकान की दीवार के बाहर की ओर। भीतरवालों में एक कमरा गृहपति का, दूसरा गृहपत्नी और छोटे बच्चों का, तीसरा अतिथि का, चौथा पाकशाला का जहाँ गार्हपत्याग्नि रहती है और पाँचवाँ बाहर से अध्ययनार्थ आये हुए ब्रह्मचारी का होता था। घर से बाहरवाले कमरों में एक नर पशुओं का, दूसरा मादा पशुओं का, तीसरा रोगी का, चौथा स्नान का, पाँचवाँ कृषि के पदार्थों के संग्रह का होता था। बस, इसके अतिरिक्त मकान में बहुत से खण्ड बनाकर अनेकों कोठरियाँ बनवाना निरर्थक समझा जाता था। सच है, अधिक कमरों की आवश्यकता भी तो प्रतीत नहीं होती। आर्यसभ्यता की स्थिरता तो सादे, स्वच्छ और छोटे घरों में ही रह सकती है। इसलिए सादे ही घर होना चाहिये और ऐसे ही सौ दो सौ सादे घरों का ग्राम होना चाहिये, तथा प्रत्येक ग्राम बाद बहुत सा जंगल छोड़कर फिर दूसरा ग्राम आबाद करना चाहिए। क्योंकि ग्राम्य जंगल में ही वनस्थों का निवास हो सकता है। मनुस्मृति में लिखा है कि प्रत्येक ग्राम में चारों ओर एक सौ धनुष भूमि छोड़ देना चाहिये और बड़े नगरों के चारों ओर इससे तिगुनी चरभूमि को छोड़ना चाहियें +। आर्य-ग्रामों में जहाँ तक हो सभी वर्ग और सभी पेशे के लोगों को बसाना चाहिये। वैद्य, राजकर्मचारी, वेदवेत्ता और यज्ञ करानेवाला तो अवश्य ही बसे। जिस प्रकार के ये ग्राम हों उसी प्रकार के सादे गृहों से बने हुए ही नगर अथवा पुर भी होना चाहिये। आर्यग्राम और आर्यपुर या नगर में बड़ा अन्तर नहीं है। जहाँ बड़ जंगल से घिरकर दो चार कोस तक दस बीस छोटे छोटे ग्राम आ जाते हैं, वही पुर हो जाता है और ये छोटे छोटे ग्राम ही उसके मुहल्ले हो जाते हैं। ऐसे पुर या नगर बहुधा बाज़ार या राजा के कारण बन जाते हैं, पर वे आजकल के नगरों की भाँति नहीं होते। आजकल के नगरों के मकानों में तो नीचे, ऊपर, अगल बगल सर्वत्र पैख़ाना ही पैख़ाना भरे होते हैं। किन्तु आर्यसाहित्य में भंगी और पैख़ाना के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यनगर जंगलों से और उसके मुहल्ले बाग़ बग़ीचों तथा चारागाहों से घिरे थे और लोग जंगलों में ही शौच के लिए जाते थे। यही आर्यगृहों और आर्यग्रामों तथा आर्यनगरों का दिग्दर्शन है।

आर्य-गृहस्थी।

आर्य की चौथी शाखा गृहस्थी है। भोजन, वस्त्र और गृह के तैयार करने में जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है और जो पदार्थ स्वास्थ्य और ज्ञानवृद्धि में सहायक होते हैं, उन सबकी गणना गृहस्थी के। आर्य-गृहस्थी के स्थूल रूप से सात विभाग हैं। इन सातों के

+ धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समंततः।
शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ (मनु० ८।२३७)

नाम बर्तन, पशु, रोशनी, औषधि, पुस्तक और शस्त्रास्त्र हैं। यहाँ हम क्रम से इन सबों का वर्णन करते हैं।

आर्य गृहस्थी में सबसे पहिली वस्तु बर्तन हैं। बर्तनों का उपयोग खाने पीने, पकाने और यज्ञों के कामों में होता है। खाने पीने के बर्तनों के लिए अथर्ववेद में लिखा है कि '**अलाबुं पात्रं पात्रम्**' अर्थात् तूँबे के बर्तन ही बर्तन हैं, अन्य नहीं। यही बात बर्तनों का वर्णन करते हुए मनु भगवान् ने भी लिखी है वे कहते हैं कि '**अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा**' अर्थात् तूँबे, लकड़ी, मिट्टी और बाँस के ही बर्तन होना चाहिये। इन बर्तनों में खाने पीने के पदार्थों को रखने से बिगड़ने का डर नहीं रहता और सबको एक समान आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह काष्ठ, मिट्टी और पत्थर के पात्र यज्ञों में भी काम आते हैं, इसलिए ऐसे ही पात्र होना चाहिये जो सबको आसानी से मिल जायँ। इस पर कुछ लोग कहते हैं कि ये पात्र तो संन्यासियों के हैं, गृहस्थों के नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि आज हमारे देश में लाखों गृहस्थ ऐसे हैं जिनके घरों में सिवा काठ के कठौते और कठैली के पत्थर के कूंडों और कूंडियों के, मिट्टी के हंडे और हंडियों, तश्तरी और सकोरों के और बाँस, घास, पत्ते और मूँज के बर्तनों के एक भी फूल या पीतल का बर्तन नहीं है।

इसी तरह लाखों गृहस्थ ऐसे हैं जिनके घरों में पीतल की केवल एक ही थाली, एक ही बटुवा और एक ही लोटा है, शेष जितने बर्तन हैं सब लकड़ी, मिट्टी पत्थर पत्ते और बाँस ही के हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ये बर्तन केवल संन्यासियों के ही हैं। इनको संन्यासियों के बर्तन कहने का कारण इतना ही है कि संन्यासी इनमें से एक ही पदार्थ का एक ही बर्तन ले सकता है, सब पदार्थों के एक साथ अनेकों बर्तन नहीं। परन्तु गृहस्थ हर चीज़ के कई बर्तन रख सकता है, इसलिये संन्यासी और गृहस्थ के बर्तनों की तुलना नहीं हो सकती। हमारे देश में आज तक यह रिवाज है कि गृहस्थ के घर में कुम्हार मिट्टी के बर्तन, नट बाँस के बर्तन और बारी पत्तों के बर्तन जितने आवश्यक होते हैं, उतने हमेशा दे जाता है और साल के अन्त में गृहस्थ की उपज का अमुक भाग ले जाता है, पर संन्यासी के साथ इस प्रकार का कोई बन्दोबस्त नहीं है। इसलिये उपर्युक्त बर्तनों को केवल संन्यासियों के बर्तन नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि जो बर्तन सबको एक समान सरलता से प्राप्त हो सके और जो भोजन को सुरक्षित रख सकें, उन्हीं का आर्यसभ्यता में समावेश है। फूल, पीतल, एल्युमीनियम, जर्मन सिल्वर और चाँदी आदि के बर्तनों का नहीं। क्योंकि ये सबको सरलता से एक समान प्राप्त नहीं हो सकते।

पशु भी आर्य-गृहस्थी की प्रधान सामग्री हैं। इसीलिए वेदों में पशुओं की प्राप्ति के लिए सैकड़ों प्रार्थनाओं का वर्णन है। क्योंकि आर्यसभ्यता में पशुओं से छे प्रकार का काम लिया जाता है। अर्थात् आर्यों के पशु भोजन, वस्त्र, खेती, सवारी, पहरा और सफ़ाई का काम देते हैं। गाय, भैंस और भेड़ी से दूधघृतादि खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। भेड़ी और बकरियों से वस्त्रों के लिए ऊन प्राप्त होती है। बैल, भैंसे ऊँट, घोड़े, गधे और हाथी से सवारी, बारबरदारी और खेतों के जोतने तथा सींचने का काम लिया जाता है।

कुत्ता पहरा देता है और सुवर सफ़ाई का काम करता है । इसीलिए आर्य गृहस्थी में पशुओं का बड़ा महत्त्व है ।

आर्य गृहस्थी में रोशनी भी प्रधान वस्तु है । क्योंकि आर्य सभ्यता में दीपदान का बड़ा महत्त्व है । जहाँ अतिथि के षोडशोपचार गिनाये गये हैं, वहाँ अतिथिपूजा में दीपदान भी रक्खा गया है । इसके सिवा आर्यों का कोई भी धार्मिक कृत्य आरंभ नहीं होता, जब तक दीपक न जला लिया जाय । इसलिए दिन के समय में भी दीपक जलाया जाता है । आर्यों का दीपक सदैव घी से ही जलाया जाता है । घृत की रोशनी के समान नेत्र को सुख देनेवाली कोई दूसरी रोशनी नहीं है । इसीलिए आर्य गृहस्थों में अंधकार को दूर करनेवाला दीपक आवश्यक समझा गया है ।

आर्य गृहस्थी में औषधियों का संग्रह भी आवश्यक है । पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आर्यों को सदैव औषधियों का सेवन करना चाहिए । औषधियों के संग्रह का कारण इतना ही है कि न मालूम किस समय कैसी दुर्घटना हो जाय और औषधि की आवश्यकता पड़ जाय । क्योंकि गृहस्थ को इस प्रकार के प्रसंग आया ही करते हैं, जिनमें तुरन्त ही औषधों की आवश्यकता पड़ जाती है । इसलिए ऐसी औषधियाँ जो तुरन्त नहीं बन सकतीं और जिनकी आवश्यकता तुरन्त हो पड़ती है, उनका आर्य गृहस्थी में अवश्य संग्रह रहना चाहिए । यद्यपि आयुर्वेदशास्त्र का यही मतलब है कि कोई कभी बीमार ही न हो । क्योंकि आयुर्वेद कहते ही उस विद्या को हैं, जो बीमारियों से बचने का ज्ञान देती है, तथापि दुर्दैव के कारण शरीर में चोट लगने से, थक जाने से और मलों के संचय हो जाने से जो अस्वस्थता उत्पन्न हो जाती है, उसका उपाय करना पड़ता है । चोट लगने से किसी अंग के टूट फूट जानेसे जो अवस्था होती है, उसमें दर्दी की देखभाल, सेवाशुश्रूषा और मरहम पट्टी से ही आराम पहुँचता है, दवा दारू से नहीं । इसी तरह थकावट से जो अस्वस्थता होती है, उसमें भी आराम करने से ही लाभ होता है, औषधि से नहीं । किन्तु जो अस्वस्थता रोगों के कारण होती है, उसमें कुछ विलक्षण उपचारों की आवश्यकता होती है । क्योंकि माधव ने अपने निदान में लिखा है कि '**सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः**' अर्थात् समस्त रोग मलों के संचय ही से उत्पन्न होते हैं, और वह संचित मल ही कभी कफ होकर, कभी अतिसार होकर, कभी फोड़ा फुनसी बनकर और कभी ज्वर तथा वमन के रूप में परिणत होकर नाना प्रकार के रोगों के नामों से प्रकट होते हैं । इसलिए इन मलजन्य रोगों को चार उपायों से दूर किया जाता है । चरकाचार्य कहते हैं कि—

पाचनान्युपवासश्च व्यायमश्चेति लङ्घनम् ।
चतुष्प्रकारा संशुद्धिर्वमनञ्च विरेचनम् ॥

अर्थात् पाचक पदार्थों से खाने, उपवास, व्यायाम और लङ्घन के करने तथा वमन और विरेचन का प्रयोग करने से मलों की शुद्धि हो जाती है । इन उपचारों में फलोपवास, लंघन और वमनविरेचनों को सभी जानते हैं, परन्तु आर्यसभ्यता में मलों की शुद्धि का एक दूसरा ही उपाय बतलाया गया है, जिसे प्रायः लोग भूल गये हैं । वह तरीक़ा प्राणायाम है । प्राणायाम का गुण वर्णन करते हुए मनु भगवान् कहते हैं कि—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं । उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं । इसलिए यद्यपि नित्य प्राणायाम करनेवाले फलाहारी आर्यों के शरीरों में मलों का संचय नहीं होता, तथापि कभी कभी अचानक ही सान्निपातिक रोगों का आक्रमण हो जाता है, जिससे मृत्यु की आशंका उत्पन्न रख छोड़ना चाहिये ।

आर्य गृहस्थी में पुस्तकों का भी बड़ा महत्त्व है । इसलिए प्रत्येक आर्य के घर में वेद, वेदों के अङ्ग, उपाङ्ग, स्मृतियाँ, दर्शन, इतिहास और ऐसे अन्य ही ज्ञान विज्ञान को बढ़ानेवाली पुस्तकें होना चाहिये । पर व्यर्थ बकवास करनेवाली और ज्ञान के स्थान में अज्ञान को फैलानेवाली तथा मनुष्यों की रुचियों को तामस बनानेवाली पुस्तकें न होना चाहिये । क्योंकि उच्च कोटि के थोड़े से भी ग्रन्थ ज्ञानवृद्धि में जो सहायता करते हैं, उतनी सहायता अनिश्चित सिद्धांतों के प्रचार करनेवाले हज़ारो ग्रन्थ भी नहीं कर सकते । ऋषियों के लिखे हुए सौ पचास ग्रन्थों के अवलोकन करने से ही जो ज्ञान में स्थिरता होती है, वह बड़े बड़े पुस्तकालयों की हज़ारों पुस्तकों के पढ़ने से भी नहीं होती । इसीलिए शास्त्र में अनिश्चित सिद्धांतों का संग्रह करना मना किया गया है । सांख्यशास्त्र १।२६ में कपिलाचार्य कहते हैं कि 'अनियतत्वेपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्' अर्थात् बालकों और उन्मतों के समान अनिश्चित और युक्तिहीन बातों का संग्रह करना व्यर्थ है । इसलिए ग्रंथ वही संग्रह करने योग्य हैं, जो सनातन सिद्धांतों का अखण्ड रूप से प्रचार करते हों और प्राणियों को इस लोक और परलोक में सुख पहुँचाने की विधि और युक्ति की शिक्षा देते हों ।

आर्य गृहस्थी में यन्त्रों का भी समावेश है । पर वैदिक यन्त्र वही हैं, जो किसी पशु या मनुष्य का कर्मक्षेत्र संकीर्ण नहीं करते । आर्य सभ्यता में ऐसे यन्त्रों का समावेश नहीं है, जो किसी पशु की सहायता के बिना केवल स्प्रिंग, स्टीम अथवा विद्युच्छक्ति के द्वारा थोड़े से मनुष्यों की सहायता से चलाये जायँ और जिनके कारण हज़ारों पशुओं और मनुष्यों का कर्मक्षेत्र रुक जाय । वैदिक यन्त्रों का नमूना सूत कातने का पुराना चर्खा, कपड़ा बुनने का पुराना साँचा और बर्तन बनाने का कुम्हार का पुराना चक्र है । परन्तु अवैदिक यंत्र आजकल के मोटर, ट्राम, रेल और मिलइंजिन हैं, जिनके कारण लाखों पशु और मनुष्य निकम्मे, निरुपयोगी और भाररूप हो गये हैं । ये यंत्र हिंसाकारी हैं, इसलिए आर्य सभ्यता में इनका समावेश नहीं है । आर्ययंत्र तो वही हैं जो सनातन से पशुओं और मनुष्यों के द्वारा चलाये जाते हैं । इसलिए आर्य गृहस्थी में उनका संग्रह अवश्य होना चाहिये ।

आर्य गृहस्थी में शस्त्रास्त्र भी आवश्यक हैं । प्राचीन कुल्हाड़ी, आरा, बसूला, निहाय, हतोड़ा, संसी, सुई, कैंची, अस्तुरा, धनुषबाण, तलवार और भाला आदि आर्य सभ्यता के शस्त्रास्त्र हैं । इनमें किसी प्रकार की कला का प्रयोग नहीं होता, इसीलिए ये आर्यसभ्यता में गिने जाते हैं । किन्तु जिनमें कला का योग होता है, वे अन्य प्राणियों का कर्मक्षेत्र

रोकनेवाले होते हैं, इसलिये वे आर्यसभ्यता में नहीं गिने जाते। परन्तु आर्यों के घरों में सादे शस्त्रास्त्रों का रहना बहुत ही आवश्यक है, अतएव सादे शस्त्रास्त्र ही आर्य गृहस्थी में स्थान पाने योग्य हैं। गृहस्थी से संबंध रखनेवाले इन सात प्रकार के पदार्थों के अतिरिक्त यदि और कोई वस्तु गृहस्थी में उपयोगी और आवश्यक समझी जाय, तो उसका भी संग्रह करना चाहिये। पर इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि आर्य गृहस्थी की चीज़ वही हो सकती है, जिसके प्राप्त करने में न किसी प्राणी की कोई हानि हो, न मनुष्य-समाज में असमानता और ईर्षा उत्पन्न हो और न उसके प्राप्त करने में अपने को ही कष्ट करना पड़े, प्रत्युत जो पदार्थ आसानी से सबको एक समान प्राप्त हो सकें, वही आर्य गृहस्थी में सम्मिलित हो सकते हैं। क्योंकि मोहक पदार्थों का संग्रह करके मनुष्यों में प्रकरणातन्तर से चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न कराना आर्यसभ्यता के विपरीत है। आर्यसभ्यता में चोरी के लिए गुंजायश नहीं है। यही कारण है कि आर्यों की भाषा संस्कृत में ताला और चाभी के लिए कोई शब्द नहीं है। इसलिए आर्यों की ऐसी गृहस्थी हो सकती है, जिसके लिए ताला चाभी का प्रबंध न करना पड़े।

यहाँ तक हमने आर्यों के अर्थ की चारों शाखाओं की आलोचना करके देखा, तो ज्ञात हुआ कि जिस ढंग से वे इस सृष्टि से अर्थ का संग्रह करते हैं, उससे न तो किसी भी प्राणि को कोई कष्ट ही होता है और न आर्यों के लोकपरलोकसम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्णता में कोई रुकावट ही होती है, प्रत्युत सृष्टि की सीधी (मनुष्य) आड़ी (पश्वादि) और उलटी (वृक्षादि) समस्त योनियों के देनलेन में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और सबके लिए मोक्षमार्ग सरल हो जाता है। क्योंकि आर्यलोग अपने अर्थ के चारों विभाग प्रायः पशुओं और वृक्षों से ही लेते हैं और उनकी आयु तथा भोगों का सदैव ध्यान रखते हैं। वे जानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्यों को पशुओं और वृक्षों की आवश्यकता होती है, उसी तरह पशुओं को वृक्षों और वृक्षों को जलों की आवश्यकता होती है। इसीलिए वे सदैव कृषि और जंगलों के द्वारा पशुओं के लिए अन्न और घास का तथा यज्ञों के द्वारा वनस्पतियों के लिए जलों का प्रबन्ध करते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि मनुष्य का जीवन केवल अकेली एक गाय के दूध से ही पार हो सकता है और गाय केवल जंगलों की घास पर ही बसर कर सकती है। इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता की परिभाषा में मनुष्यों को प्रजा पशुओं को प्रजापति और वृक्षों को पशुपति कहा है। इसका यही मतलब है कि प्रजा को पशु पालते हैं और पशुओं को वनस्पतियाँ पालती हैं। वेद में सैकड़ों जगह पर मनुष्य को 'प्रजया सुवीराः' कहा गया है। इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में पशुओं को प्रजापति कहा गया है। वहाँ पूछा गया कि 'कतमः प्रजापतिरिति' अर्थात् प्रजापति कौन है? तो उत्तर दिया गया है कि 'पशुरिति' अर्थात् पशु ही प्रजापति है। जिस प्रकार पशुओं को प्रजापति कहा है, उसी तरह वृक्षों को पशुपति कहा है। शतपथ ब्राह्मण ३।३।१२ में लिखा है कि 'ओषधयो वै पशुपतिः, तस्मात् यदा पशव ओषधीः लभन्ते अथ पतीयन्ति' अर्थात् औषधि ही पशुपति है, अतः जब पशु औषधियाँ खाते हैं तभी स्वामी के कार्यक्षम होते हैं। इसी तरह यजुर्वेद १६।१७ में भी 'वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यो पशूनां पतये नमः' लिखकर वृक्षों को हरितकेशवाले पशुपति कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार प्रजा (मनुष्य) का पालन पशु करते हैं और पशुओं का पालन वृक्ष करते हैं उसी तरह लौटकर मनुष्य भी पशुओं से घी लेकर और वृक्षों से काष्ठ लेकर यज्ञ करता है और यज्ञ से पानी बरसाकर वृक्षों का भी पालन करता है जिससे वृक्ष, पशु और मनुष्य आदि सभी प्राणी पूर्ण आयु जीकर और अपने अपने कर्मफलों को भोगकर मोक्षमार्ग के पथिक बन जाते हैं। यही आर्यों के आर्यशास्त्र का मूल है और यही आर्यों के अर्थ की प्रधानता का सारांश है।

काम की प्रधानता।

आर्यसभ्यता के प्रधान चार स्तंभों में काम का बहुत ही बड़ा महत्त्व है। जिस प्रकार मोक्ष का सहायक अर्थ है उसी तरह अर्थ का सहायक काम है। यदि काम अर्थ की सहायता न करे तो अभी हम जिस अर्थ की प्रधानता का वर्णन कर आये हैं और आर्य-भोजन, आर्य-वस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्थी का जो आदर्श दिखला आये हैं उसकी स्थिरता एक दिन भी नहीं रह सकती। अर्थात् यदि मनुष्य काम को मर्यादित न करे तो वह कभी अर्थ को मर्यादित कर ही नहीं सकता और न विना आर्यमर्यादा के कभी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए आर्यों ने काम के विषय में बहुत गम्भीरता से विचार किया है। संसार में आज तक आर्यों के अतिरिक्त किसी भी सभ्यजाति ने इस अर्थशुद्धि के मूलाधार काम पर इतना विचार नहीं किया। सबने अर्थ और काम को एक में मिला दिया है। परन्तु आर्यों ने जिस प्रकार शरीर और मन की पृथकता को समझ लिया है, उसी तरह शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को और मन से सम्बन्ध रखनेवाले काम को भी एक दूसरे से पृथक् कर दिया है और जिस प्रकार शरीर से संबंध रखनेवाले भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी को अर्थ के अन्तर्गत कर दिया है, उसी तरह मन से संबंध रखनेवाले ठाट बाट, शोभा शृङ्गार और स्त्री पुत्रादि को काम के अन्तर्गत कर दिया है। क्योंकि ये सभी पदार्थ केवल मनस्तुष्टि के ही लिए हैं। यदि अपना मन काबू में हो तो इनमें से एक भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। किन्तु इन सबसे मन का एकदम हटा लेना बहुत ही कठिन है। ठाट बाट और शोभा शृङ्गार से चाहे मनुष्य अपना मन हटा भी ले, पर स्त्री से पुरुष को और पुरुष से स्त्री को मन हटाना बड़ा ही दुस्तर है। सच पूछो तो स्त्री पुरुष के स्वाभाविक बंधन को ही काम कहा गया है, बनाव चुनाव और शोभा शृङ्गार तो उनके बंधन के साधनमात्र है। यही कारण है कि मानसशास्त्र का प्रसिद्ध ज्ञाता शार्ङ्गधर काम का लक्षण करता हुआ लिखता है कि—

स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते॥ (शार्ङ्गधर १।६)

अर्थात् स्त्रियों में पुरुषों का और पुरुषों में स्त्रियों का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसी को काम कहते हैं। स्त्री और पुरुष के इस पारस्परिक स्नेह और स्वाभाविक आकर्षण के दो कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि मनुष्य अनंत जन्म जन्मान्तरों से अनेक योनियों में स्त्री और पुरुष शक्ति के संमेलन के ही द्वारा पैदा होता हुआ और उसी संमेलन के द्वारा अन्य जीवों को पैदा करता हुआ चला आ रहा है; दूसरा कारण यह है कि वीर्य में पड़े हुए जीवों के भोग जीवों को बाहर निकलने और नवीन शरीर धारण करने की प्रेरणा करते

हैं । इन्हीं दोनों कारणों से स्त्री पुरुषों में एक विलक्षण आकर्षण उत्पन्न होता है और मनुष्य रति करने के लिए विवश होता है । यह प्राणीमात्र का अनादि अभ्यास है । किन्तु मनुष्य के लिए यह अभ्यास अच्छा भी है और बुरा भी । इस अभ्यास में जहाँ तक आर्यसभ्यता का संबंध है वहाँ तक तो अच्छा है, पर जहाँ से इसमें अनार्यता का संचार होता है वहाँ से इसका रूप भयंकर हो जाता है । मन पर क़ाबू रखकर और अवश्य संतान को उत्पन्न करके उस संतान को मोक्षमार्गी बनाना आर्यसभ्यता है और शोभा शृंगार, ठाट बाट के द्वारा कामुकता को बढ़ाकर और अपरिमित संतान को उत्पन्न करके संसार में अर्थ संकट उत्पन्न कर देना अनार्यसभ्यता है । आर्यसभ्यता मोक्षाभिमुखी है, इसलिये उसका अर्थ (भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी) सादा है—उसमें शोभा शृंगार और ठाट बाट के लिए गुंजायश नहीं है । किन्तु अनार्यसभ्यता शोभा श्रृंगार और ठाट बाट से संबंध रखती है अतः वह एक तो संसार में अर्थ संकट उत्पन्न कर देती है, दूसरे शोभा श्रृंगार से कामुकता बढ़ा देती है और अमर्यादित संतान उत्पन्न करके अर्थ संकट को और भी अधिक भयंकर रूप दे देती है जिससे दुष्काल, महामारी और युद्धों का प्रचंड तूफ़ान उमड़ पड़ता है और सारा संसार अशांत हो जाता है । इसीलिए आर्यों ने अपने अर्थ में शोभा श्रृंगार और ठाट बाट के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं दिया, प्रत्युत इसकी गणना काम में की है । क्योंकि श्रृंगार का स्थायीस्वभाव रति है । 'रस—गंगाधर' नामी ग्रंथ में पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि—

श्रृङ्गारो करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव ॥
रतिः शोकश्च निर्वेद क्रोधोत्साहश्च विस्मयः ।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायीभावः क्रमादमी ॥

अर्थात् शृंगार, करुणा, शांत, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं । इनमें शृंगार का रति, करुणा का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हँसी, भयानक का भय और बीभत्स का घृणा स्थायीभाव है । यहाँ श्रृंगार का स्थायीभाव रति माना गया है । बनाव चुनाव और शोभा शृंगार का परिणाम रति ही है । साहित्यदर्पण में लिखा है कि—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाङ्गसर्वस्वम् ॥

अर्थात् राज्य का सार पृथिवी है, पृथिवी का सार नगर है, नगर का सार महल है, महल का सार पलंग है और पलंग का सर्वस्व स्त्री के अंग हैं । यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि एक शृंगारप्रिय की मनोभावना किस प्रकार रति में समाप्त होती है । इसी प्रकार काम—चेष्टा के उत्पन्न करनेवाले शृंगारों का वर्णन करते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि—

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धामाल्यविभूषणैः ।
गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणाञ्चाभरणस्वनैः ।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानाञ्च वृषायते ॥

अर्थात् तैल, उबटन, स्नान, इत्र, माला, आभूषण, अट्टालिका, रंगमहाल, शय्या, पोशाक, बाग़, पक्षियों का कलरव, स्त्रियों के आभूषणों की झनकार और स्त्रियों से हाथ पैर मलवाना आदि समस्त कामचेष्टा के उत्पन्न करनेवाले सामान हैं, अतः इस प्रकार के शृङ्गारमय पदार्थों से निर्वीर्य भी कामातुर हो जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट हो गया कि शृङ्गार मनुष्य को कामी बनाकर रतिप्रिय बना देता है। पञ्चतन्त्र में विष्णु शर्मा ने ठीक ही कहा है। कि—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥

अर्थात् निःस्पृह मनुष्य अधिकारी नहीं होता, बनाव चुनाव और शोभा शृङ्गारप्रिय मनुष्य अकामी नहीं होता, मूर्ख कभी प्रिय बोलनेवाला नहीं होता और स्पष्ट बोलनेवाला कभी ठग नहीं होता। सत्य है, शृङ्गारप्रिय छैल गुडा कभी अकामी हो ही नहीं सकता। उसे निश्चय ही कामी होना चाहिये। वह बनाव चुनाव करता ही इसलिए है कि उसे रति प्राप्त हो। यह बात हम संसार के अनुभव से भी कह सकते हैं कि शृङ्गार रति के ही लिए किया जाता है। क्योंकि हम देखते हैं कि रति के पश्चात् तो शृङ्गारभङ्ग हो जाता है। भङ्गशृङ्गार पर खण्डिताओं ने न जाने कितने व्यङ्ग कहे हैं जो शृङ्गाररस के ज्ञाताओं से छिपे नहीं हैं। कहने का मतलब यह कि ठाट बाट, शोभा शृङ्गार और विलास तथा आमोद प्रमोद से कामुकता बढ़ती है और उस कामुकता से शृङ्गार की और भी उन्नति होती है और दूने परिणाम से कामुकता का विस्तार होता है। फल यह होता है कि अमर्यादित सन्तति से संसार भर जाता है और भूख, दुष्काल आदि से संसार के प्राणी अकाल ही में मरने लगते हैं।

सन्तति-विस्तार का भयङ्कर चित्र खींचते हुए प्रो० माल्थस आदि प्रजनन-शास्त्री कहते हैं कि संसार में जनसंख्या सदैव बढ़ती रहती है और उस वृद्धि को प्रकृति सदैव दुष्काल, महामारी और युद्धों के द्वारा न्यून किया करती है। इसलिए यदि दुष्काल, महामारी और युद्धों के सन्ताप से बचना है और यदि बहु संतानजन्य दारिद्र्य से बचना है तो संतान-निरोध का उपाय करना चाहिये, अन्यथा एक दिन ऐसा आनेवाला है कि जनसंख्यावृद्धि के कारण पृथिवी पर तिल रखने की भी जगह न रहेगी। इस आशङ्का को ध्यान में रखकर पाश्चात्य विद्वानों ने संतातनिरोध के तीन तरीक़े निश्चित किये हैं। पहिले तरीक़े में उन्होंने कहा है कि कुछ ऐसे यन्त्रों का उपयोग किया जाय जिससे गर्भ ही न ठहरे, दूसरा तरीक़ा यह बतलाया है कि ऐसी औषधियाँ खा ली जायँ कि संतान का उत्पन्न होना ही बंद हो जाय और तीसरा तरीक़ा यह बतलाया है कि इन्द्रियसंयम के द्वारा अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किया जाय जिससे संतान की वृद्धि रुक जाय। इन तीनों तरीक़ों का अब तक जो अनुभव हुआ है वह बड़ा ही दुःखद है। यन्त्रों और औषधियों के उपयोग से अनेकों प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हुई हैं जिनके कारण लाखों स्त्री और पुरुष दुःख पा रहे हैं। मि० थर्स्टन ने इन यन्त्रों और औषधियों के दुष्परिणामों का बड़ा ही लोमहर्षण वर्णन किया है। अब रहा इन्द्रियनिग्रह, वह इन दोनों से भी अधिक भयङ्कर है। इन्द्रियनिग्रह करना किसी ऐसे वैसे साधारण मनुष्य का काम नहीं है। उसे तो बहुत ही योग्य पुरुष कर सकते हैं। जो योग्य हैं उन्हीं से योग्य संतान भी उत्पन्न हो सकती है। परन्तु यदि योग्य मनुष्य संयम

करके योग्य सन्तान का उत्पन्न करना बंद कर दें और अयोग्य अर्थात् नालायक मनुष्य सन्तान का उत्पन्न करना जारी रक्खें तो परिणाम यह होगा कि भविष्य में समस्त पृथिवी नालायक प्रजा से ही भर जायगी और फिर वही दुष्काल, महामारी, युद्ध और दुःख दारिद्र से मनुष्यों का संहार होने लगेगा। इसलिए योग्यों को तो कभी सन्ततिनिरोध के फेर में पड़ना ही न चाहिये ।

अब रहे अयोग्य; सो वे संयम कर नहीं सकते, इसलिए पश्चिमीय विद्वानों के ढूँढे हुए तीनों तरीके उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। परन्तु आर्यसभ्यता शोभा शृङ्गार, ठाट बाट और आमोद प्रमोद को हटाकर सादे और यत्किञ्चित् अर्थ के द्वारा विना किसी प्रकार का अर्थ-संकट उत्पन्न किये, अपने ब्रह्मचर्य-व्रत से समस्त मनुष्यों को मोक्षाभिमुखी बनाकर संतति-विस्तारजन्य अर्थसंकट की उलझन को बहुत ही अच्छी तरह सुलझाती है। हमने आर्यों के अर्थ का विस्तृत वर्णन करके दिखला दिया है कि आर्यसभ्यता में बनाव चुनाव, शोभा शृङ्गार और ठाट बाट के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है। आर्यों का अर्थ बिलकुल ही सादा है, इसलिए उसमें कामुकताजन्य अर्थसंकट के उपस्थित होने के लिए कुछ भी आशंका नहीं है। रही संततिविस्तार की बात, उसको आर्यों ने अपनी एक विशेष शक्ति के द्वारा बहुत ही अच्छी तरह हल किया था। उन्होंने शृङ्गारशून्य किंतु सादे अर्थ के द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करके ऊर्ध्वरेतत्व और अमोघवीर्यत्व की शक्ति से वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया था, जिससे वे जब चाहते थे तब आवश्यक संतान उत्पन्न कर लेते थे और जब चाहते थे तब संतान का उत्पन्न करना एकदम बंद कर देते थे। ऐसी मनोनिग्रह-शक्ति का सम्पादन आज तक संसार में कोई भी सभ्य जाति नहीं कर सकी। यही कारण है कि सन्ततिनिरोध के जटिल प्रश्न को भी आज तक कोई जाति हल नहीं कर सकी। इसलिए हम यहाँ आर्यों की सन्ततिनिरोध की शक्ति और नीति का सारांश देकर बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्होंने इस दुरूह समस्या को हल किया है।

आर्यों की कामसम्बन्धी नीति ।

संसार का अनुभव बतलाता है कि व्यक्ति समाज, और राष्ट्र को समय समय पर सन्तति अर्थात् जनसंख्या की अनावश्यकता, आवश्यकता और अत्यावश्यकता होती ही रहती है। जिस समय राष्ट्र और समाज में शान्ति रहती है उस समय मोक्षमार्गियों के अतिरिक्त शेष समस्त समाज को मृत्यु के परिमाण से संतान की आवश्यकता रहती है। परन्तु जिस समय युद्ध जारी हो जाता है अथवा समाप्त हो जाता है उस समय संतान की आवश्यकता बेहद बढ़ जाती है। इसी तरह समय सुख-शांति के कारण संतान बेहद बढ जाती है उस समय संतान के कम करने की भी आवश्यकता हो जाती है। ऐसी दशा में इच्छानुसार अधिक संतति उत्पन्न करने या कम संतति करने या बिलकुल ही संतति उत्पन्न करना बंद कर देने की शक्ति उसी में हो सकती है जिसकी सामाजिक शिक्षा की दीवार अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत की नीव पर उठाई गई हो। आर्यों ने अपनी सभ्यता की इमारत अखण्ड ब्रह्मचर्य पर ही खड़ी की है, इसीलिए आर्यसभ्यता के अनुसार आर्यों को ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के पचहत्तर वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य-दशा में ही बिताने के लिए जोर दिया गया है और गृहस्थ को भी अधिक रति से बचने के लिए यज्ञोपवीत-संस्कार से

ही सन्ध्योपासन, प्राणायाम, शृङ्गारवर्जन, सादगी, तपस्वी जीवन और मोक्षमार्ग का ध्येय बतलाकर अमोघवीर्यत्व सम्पादन करने का उपदेश किया गया है। क्यों संततिनिरोध की शक्ति अमोघवीर्य पुरुष में ही हो सकती है और वही अवश्यकतानुसार एक, दो अथवा दस संतान उत्पन्न कर सकता है और वही चाहे तो संतान का उत्पन्न करना एकदम बन्द भी कर सकता है। आर्यसभ्यता के इतिहास में इस प्रकार के प्रजोत्पत्तिसंबंधी तीन सिद्धांत और तीनों के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, अंतः हम यहाँ तीनों का सारांश रूप से वर्णन करते हैं।

पहिला प्रमाण उन व्यक्तियों का मिलता है जो क्षीणदोष उत्पन्न होते हैं और जन्म से ही मोक्षमार्ग में लग जाते हैं। वे कभी प्रजा की इच्छा नहीं करते। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि 'पूर्वे विद्वांस्स प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः अर्थात् पूर्व समय में विद्वान संतान की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे कि प्रजा को क्या करेंगे। ऐसे आजीवन ब्रह्मचारी इन देश में हजारों लाखों हो चुके हैं। मनस्मृति में लिखा है कि—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्।

अर्थात् हज़ारों ब्राह्मण ब्रह्मचारी विना सन्तति के कुमार अवस्था से ही मोक्षगामी हो गये। इतना ही नहीं कि पूर्वकाल में पुरुष ही इस प्रकार के होते थे, प्रत्युत उस समय की कन्याएँ भी कुमारी रहकर और आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर मोक्षभागिनी होती थीं। महाभारत में भी लिखा है कि लोमचऋषि युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी।
बभूव श्रीमती राजन् शांडीलस्य महात्मनः।
सुता धृतवती साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी।
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन च।
गता स्वर्गं महाभाग देवब्राह्मणपूजिता। (महा० शल्य० अ० ५४)

अर्थात् इसी स्थान पर शांडिल्य ऋषि की कन्या धृतवती ने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर और विद्वानों से सत्कृत होकर मोक्ष लाभ किया था। वहीं पर अध्याय ४९ में फिर लिखा है कि—

भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी॥
साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसती मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्।

अर्थात् भारद्वाज की पुत्री श्रुतावती ने भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन किया था। इतना ही नहीं प्रत्युत याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी ने विवाह करके भी कभी कभी संतान उत्पन्न नहीं किया। इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पाया जाता है कि पूर्वकाल में आर्य लोग विना संतति के आजीवन ब्रह्मचारी रहकर मोक्ष प्राप्त करते थे। जो लोग कहते हैं कि

प्राचीन आर्य संतान के पीछे दीवाने फिरते थे। वे गलती पर हैं। मोक्षार्थी आर्य कभी संतान की इच्छा नहीं करते थे। क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि '**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत**' अर्थात् तपस्वी विद्वान् आजीवन ब्रह्मचर्य-बल से ही मृत्यु को मारकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सच है, जो मनुष्य दूसरों को उत्पन्न नहीं करता वह निश्चय ही दूसरों के द्वारा उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न न होने का सबसे सुगम तरीका यह है कि मनुष्य आजीवन ब्रह्मचारी रहे। परंतु यह महाव्रत सबके मान का नहीं है। सब मनुष्य तो संतान की इच्छा ही करते हैं। इसीलिए दूसरे प्रकार के भी प्रमाण मिलते हैं। इन प्रमाणों के अनुसार संतान की इच्छा करना अच्छा भी समझा गया है। क्योंकि इनमें दो लाभ हैं। एक तो संतान से गृहस्थाश्रम कायम रहता है जिसके आश्रम में सारा मनुष्य समाज जीविका प्राप्त करता है और दूसरा वीर्य में पड़े हुए जीव बाहर आकर मोक्षप्राप्ति की साधना करते हैं। यदि संतान का जन्म ही न हो तो वे प्राणी जो अन्य योनियों से घूमकर अब मनुष्य शरीर के द्वारा मोक्ष में जानेवाले हैं, सब बीच ही में फँसे रह जायँ। इसलिए अत्यंत आवश्यक है कि योग्य पुरुष एक दो संतान को अवश्य उत्पन्न करके और शिक्षा दीक्षा से योग्य बनाकर समाज को बल पहुँचावे और उन्हें मोक्षमार्गी बनावे। यह बात आर्यसभ्यता में बड़े महत्त्व की है और आर्यसमाज को पुष्ट करनेवाली है। इसीलिए आपत्तिरहित समाज के समय में आर्यों को एक संतान उत्पन्न करने के लिए बल दिया गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। (मनु० ९ १०६)

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः। (मनु० ९।१०७)

अर्थात् प्रथम पुत्र के उत्पन्न होते ही मनुष्य पुत्री हो जाता है अतः ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मज है और दूसरे सब कामज हैं। इस प्रमाण से पाया जाता है कि वैदिक आर्यसभ्यता के अनुसार एक ही संतान उत्पन्न करना चाहिये, अधिक नहीं। कई संतान उत्पन्न करने से कामुकता का संस्कार हो जाता है और यह दोष समाज और मोक्ष दोनों का बाधक हो जाता है। वेद स्वयं आज्ञा देते हैं कि बहुत सी संतान उत्पन्न न करना चाहिये। ऋग्वेद १।१६४।३२ में लिखा है कि '**बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश**' अर्थात् बहुत संतानवालों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए ऋग्वेद ३ १।६ में आज्ञा देते हैं कि '**सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः**' अर्थात् सप्तपदी (विवाह) की हुई युवती स्त्रियाँ एक ही गर्भ धारण करें। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्यों को एक ही संतान उत्पन्न करने की आज्ञा है, अधिक की नहीं। कदाचित् एक भी पुत्र उत्पन्न न हो तो कोई चिंता करने की बात नहीं। पुत्र के अभाव की चिंता से कुछ लोग दूसरे का पुत्र गोद लेते हैं पर वह वेदानुकूल नहीं है। क्योंकि वेद में दत्तक पुत्र गोद लेने का निषेध किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।

अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः। ऋ० ७।४।८

अर्थात् जो दूसरे के पेट से उत्पन्न हुआ है उसको कभी अपना पुत्र नहीं समझाना चाहिये। अन्योदर्य पुत्र का मन सदैव वहीं जायगा जहाँ से वह आया है, इसलिए अपने ही पुत्र को पुत्र समझना चाहिये। अपना भी एक ही पुत्र पुत्र है शेष कामज हैं अतः यह एक पुत्र का

सिद्धांत दूसरी श्रेणी का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस प्रमाण के अनुसार अपना भी एक ही पुत्र उत्तम है, अनेक नहीं। किन्तु कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर कई संतानों की भी आवश्यकता होती है अतः तीसरी श्रेणी के भी प्रमाण मिलते हैं। जिसने राष्ट्रों के इतिहास पढ़े हैं वह जानता है कि कभी कभी राष्ट्र को बहुत सी संतानों की भी आवश्यकता हो जाती है। युद्धों के समय में अथवा युद्ध समाप्त हो जाने पर अनेक युवा पुरुषों के मारे जाने के कारण कभी कभी राष्ट्र पुरुषों से शून्य हो जाता है। महाभारत के समय अथवा गत योरोपीय महायुद्ध के समय अनेक राष्ट्रों को इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा है और एक एक पुरुष ने कई कई स्त्रियों के साथ विवाह वा नियोग करके भी अनेक संतानों को उत्पन्न किया है। ऐसी ही आपत्ति के समय के लिए वेद में ' दशास्यां पुत्रानाधेहि ' अर्थात् दश पुत्रों के उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार से आर्यसभ्यता में प्रजोत्पत्ति के तीन सिद्धांत स्थिर किये गए हैं। इन तीनों में पहिला सिद्धांत यह है कि विशेष विशेष व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दूसरा सिद्धांत यह है कि सामाजिक सुविधा उत्पन्न करने और जीवों को मनुष्यशरीर में लाकर मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए सबको एक एक संतान उत्पन्न करना चाहिए और तीसरा सिद्धांत यह है कि राष्ट्रीय आवश्यकताओं के समय एक से अधिक अर्थात् अनेक संतान उत्पन्न करना चाहिये। इन तीनों सिद्धांतों के अंदर आर्यों की अमोघवीर्यत्व की शक्ति ही काम कर रही है। वही शक्ति इस प्रकार से मनमाने समय में संतान उत्पन्न कर सकती है और वही शक्ति मैथुन कृत्य से सर्वथा पृथक् रख सकती है। यह अमोघवीर्यत्व की शक्ति आर्यों की खास उपज है। इस शक्ति के चमत्कारों का इतिहास आर्यों की सभ्यता के इतिहास में विस्तार से वर्णित है। इस शक्ति के उत्पन्न होने पर कामवासना अपने क़ाबू में हो जाती है; अतः अमोघवीर्य पुरुष जब चाहता है तब संतान उत्पन्न करता है और जब चाहता है तब संतान उत्पन्न नहीं करता। वेदव्यास ने जब चाहा तब धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न कर दिया और जब चाहा तब इस कृत्य से हमेशा के लिए पृथक् हो गये। द्रौपदी और पाण्डव जब चाहते थे तब पति–पत्नी का भाव रखते थे और जब चाहते थे तब माता पुत्र और पिता पुत्री का सा भाव कर लेते थे। यह भाव अमोघवीर्यत्व की ही शक्ति से उत्पन्न हुआ था। इसलिए जब तक अमोघवीर्यत्व उत्पन्न न किया जाय तब तक माल्थस थियरी का सामञ्जस्य नहीं हो सकता। अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने के लिए शृङ्गारवर्जित, सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाना पड़ता है। परन्तु योरोप के विद्वान् शृङ्गारमण्डित अवस्था में ही केवल यन्त्रों के सहारे सर्वसाधारण से संततिनिरोध कराना चाहते हैं, इसलिए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे कभी त्रिकाल में भी सुखपूर्वक संततिनिरोध नहीं कर सकते। क्योंकि यंत्रों और औषधियों के प्रयोग से प्रयोगकर्ताओं का रोगी हो जाना अनिवार्य है। इसलिए न यंत्रों का उपयोग हो सकता है और न संततिनिरोध हो सकता है।

यदि यंत्रों और औषधियों के द्वारा संततिनिरोध को मान भी लें तो भी यह उतना ही बड़ा पाप है जितना गर्भपात से होता है। क्योंकि वीर्य भी छोटा सा गर्भ ही है। संतति पहिले बीज (वीर्य) ही में बढ़ती है और फिर वीर्य से गर्भ में बढ़ती है तथा गर्भ से पृथिवी पर आकर और अधिक बढ़ती है। ये तीनों स्थान–वीर्य, गर्भ और पृथिवी–प्राणी के

क्रम क्रम बढ़ने के ही लिए हैं । ऐसी दशा में यदि पृथिवी पर उत्पन्न हुए मनुष्य का मारना पाप है और यदि गर्भ में ठहरे हुए मनुष्य का मारना पाप है तो वीर्य में ठहरे मनुष्य के मारने में भी पाप होना चाहिये । प्राणी की वृद्धि में ही सहायता करना हमारा कर्तव्य है; वृद्धि रोकने में नहीं । परंतु जो लोग वीर्य को गर्भ में वृद्धि पाने से रोकते हैं—उसे गर्भ तक नहीं जाने देते—वे उसी तरह का जुर्म करते हैं जिस तरह का जुर्म गर्भस्थ को पृथिवी में आने से रोककर गर्भपात करके किया जाता है । इसलिए जब तक कामवासना का निरोध न किया जाय तब तक संततिनिरोध का प्रश्न हल नहीं हो सकता । कामवासना का निरोध शृङ्गारवर्जित सादे मोक्षाभिमुखी अमोघवीर्यों से ही हो सकता है, दूसरों से नहीं । वही एक बार की रति से एक संतान उत्पन्न कर सकते हैं । इसीलिए अमोघवीर्य आर्यों ने अपनी आर्यसभ्यता में एक संतान उत्पन्न करना अर्थात् एक ही बार रति करना धर्म माना था और एक से अधिक संतान उत्पन्न करना अर्थात् एक बार से अधिक रति करना अनार्यता समझा था + । यह अनार्यता काम्य पदार्थों से—शोभा शृंगार, बनाव चुनाव और ठाट बाट से—उत्पन्न होती है । पर काम्य पदार्थों की न तो शरीर को आवश्यकता होती है न बुद्धि और आत्मा को ही । काम्य पदार्थ तो केवल मन बहलाने के लिए एकत्रित किये जाते हैं । उदाहरणार्थ सर्दी के दिनों में शरीर को रज़ाई की जरूरत होती है । पर रज़ाई में अमुक प्रकार के बेल बूटों, गिरण्ट की चटापटी मग़ज़ी और नीले उपल्ला तथा पीले भितल्ला की ज़रूरत केवल मन बहलाने के लिए होती है । इसलिए रज़ाई अर्थ है और बेल बूटे तथा मग़ज़ी आदि काम है । पहले का उद्देश्य शरीररक्षा अर्थात् जीना है और दूसरे का उद्देश्य रति अर्थात् मरना है । पर मुमुक्षु का उद्देश्य मरना नहीं है, इसीलिए वह मारनेवाले काम को अपना शत्रु समझता है । भगद्गीता में लिखा है कि—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणः ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

अर्थात् ज्ञान का नाश करनेवाला यह काम ही ज्ञानियों का—मुमुक्षुओं का—वैरी है । इसीलिए मुमुक्षुता अर्थात् संन्यास का लक्षण करते हुए गीता में बतलाया गया है कि 'काम्यनां कर्माणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' अर्थात् विद्वानों ने काम्य कर्मों के त्याग ही का नाम संन्यास कहा है । सच है, काम्य पदार्थ, काम्य कर्म, काम्य अभिलाषा ही जनसमाज में नाना प्रकार के दुःखों, समानताओं और विघ्नों को जन्म देती है और वही मोक्ष में बाधा पहुँचाती है । क्योंकि यह मन से उत्पन्न होती है और मन बड़ा उच्छृङ्खल है । उसमें अनेकों जन्म के संस्कार हैं, यही कारण है कि निरंकुश मन जन्म—मरणवाले कर्मों की ही ओर दौड़ता है और रतिप्रधान काम्य पदार्थों में ही लिपटता है । वह विलास, आमोद प्रमोद और ईर्षा द्वेष को बढ़ा देता है और मनुष्य को हर प्रकार से पतित कर देता है । यही कारण है कि सारी राजनीति और समस्त धर्मशास्त्र मानसिक ज़रूरतों को मर्यादित कराने के ही क़ायदे बनाते हैं । क्योंकि पाप पुण्य, धर्म अधर्म, सभ्यता असभ्यता और लोक

+ तत्त्ववेत्ता सुक़रात भी कहते हैं कि मनुष्य को ज़िन्दगी में एक ही बार मैथुन करना चाहिये ।

परलोक सब मन के ही आधीन हैं। मनुष्य से जब कभी असावधानी होती है तो वह मन ही के कारण होती है। इसलिए सब शास्त्र यही कहते हैं कि मन से सावधान रहो। शास्त्रों में स्पष्ट ही कहा गया है कि '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**' अर्थात् मनुष्य के बन्धमोक्ष का कारण मन ही है।

कुछ लोग का खयाल है कि स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भूख के लिए आहार अथवा सर्दी के लिए रज़ाई आवश्यक है; पर यह बात बिलकुल ग़लत है। मैथुन आहार की तरह आवश्यक नहीं है। क्योंकि विना आहार के मनुष्य जी नहीं सकता, पर क्या कोई साबित कर सकता है कि विना स्त्रीसंग के भी मनुष्य क्षुधापीड़ा की भाँति मृतप्राय हो सकता है अथवा उसके विना मनुष्य की कायिक या आत्मिक या वैज्ञानिक कोई हानि हो सकती है? कभी नहीं, हरगिज़ नहीं। यदि हानि होती तो ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की उत्पत्ति ही न होती, पहलवानों को सुरक्षित रहना मुश्किल हो जाता और विधवाधर्म तथा पतिव्रताधर्म नाम ही न सुनाई पड़ता। पर हम ये समस्त बातें संसार में देख रहे हैं, इससे ज्ञात होता है कि काम तो कामना अर्थात् मन का ही विकार है और केवल कामियों के मन बहलाने की ही चीज़ है, आहार की भाँति शरीर के लिए आवश्यक वस्तु नहीं। इसीलिए वीर्य को मनसिज, मनोज और कामदेव आदि नामों से सूचित किया गया है। कहने का मतलब यह कि जब रति ही कोई आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं होती और जब वह केवल मन का ही खिलवाड़ प्रतीत होता है, तो मन से उत्पन्न होनेवाली और शोभा शृंगार तथा ठाट बाट से संबंध रखनेवाली कोई भी रतिप्रधान वस्तु आवश्यक सिद्ध नहीं हो सकती। इन वस्तुओं की आवश्यकता तो बिलकुल ही मन की मिथ्या कल्पना और कुसंस्कारों से उत्पन्न होती है अतः इनकी वास्तविक आवश्यकता नहीं है।

आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण केवल लोगों के मन ही है। मनुष्यों के निरंकुश मनों ने अपनी कामनाओं को इतना अधिक अमर्यादित कर दिया है कि प्रायः मनुष्यसमाज काम्य पदार्थों का गुलाम बनकर कामी बन गया है। जहाँ आर्यसभ्यता काम को दबाने के लिए २४, ३६ और ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करके सादे अर्थ का आश्रय लेकर और मण्डन अर्थात् शृंगार से बचकर अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने का आयोजन करती है, वहाँ आज अनार्यसभ्यता वीर्यरक्षा की अवगणना करके काम को उत्तेजना देने के लिए असाधारण सम्पत्ति का आश्रय लेकर और विलास अर्थात् शृंगार में फँसकर व्यर्थ वीर्यपात का प्रबंध करती है। यही कारण है कि अनार्यसभ्यता के इस अमर्यादित विलास ने संसार को कामी बनाकर पतित कर दिया है। अर्थात् जहाँ आर्यसभ्यता सदैव अर्थशुद्धि को प्रधान मानती हुई तपस्वी जीवन के साथ मोक्षप्राप्ति की ओर ले जाती है वहाँ अनार्यसभ्यता अर्थशुद्धि के द्वारा कामुकता को बढ़ाकर संसार में कलह उत्पन्न करती है। आर्यसभ्यता ने अर्थ और काम के दो विभाग करके शरीर और मन के साथ उनका सामञ्जस्य किया था और दोनों को वैज्ञानिक रीति से हल करके पृथक् पृथक् उपदेशित किया था, किन्तु आज वर्तमान अनार्य सभ्यता ने अर्थ और काम को एक ही में मिलाकर 'पोलिटिकल एकॉनॉमी' के नाम से संसारव्यापी कर रखा है। इसलिए जिस प्रकार

हम काम के विषय में आर्यों की नीति की आलोचना कर आये हैं उसी तरह हम यहाँ वर्तमान अनार्य पोलिटिकल एकॉनॉमी के समस्त अङ्ग उपाङ्गों का सारांश लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि वह कितनी अशुद्ध है और किसी प्रकार विशुद्ध अर्थ में–साधारण भोजन, वस्त्र, गृह, गृहस्थी में–काम्य अथात् शृंगार और विलासप्रधान पदार्थों का समावेश कर रही है और किस प्रकार संसार में कामुकताजन्य सन्ततिविस्तार से अशांति फैलाये हुए हैं।

अनार्यसभ्यता अर्थात् पोलिटिकल एकॉनॉमी ।

यद्यपि वर्तमान सम्पत्तिशास्त्र के प्रायः समस्त विद्वानों ने माना है कि अभी पोलिटिकल एकॉनॉमी अर्थात् राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त अपूर्ण हैं तथापि उसके जो उद्देश्य और सिद्धान्त क़ायम किये गये हैं उनके देखने से पता लगता है कि पोलिटिकल एकॉनॉमी के नियमों के अनुसार मनुष्य का खूब सम्पत्तिवान् होना चाहिये। खूब सम्पत्तिवान होने का मतलब यह है कि मनुष्य के घर में नागरिक जीवन बनानेवाला अर्थात् शृङ्गार और विलास के बढ़ानेवाला सामान अधिक हो। अधिक सामग्री ही सभ्यता का चिह्न है, इसलिए सभ्यता बढानेवाले अमित पदार्थों के संग्रह के ही लिए खूब धन इकट्ठा करना चाहिये। धन का स्रोत व्यापार है, इस लिए व्यापारसम्बन्धी ऐसे पदार्थ तैयार करना चाहिये जो अन्य देशों के बने हुए सामानों से सस्ते और अच्छे हों। इनकी तैयारी के लिए कम्पनियों के द्वारा धन-राशि एकत्रित करके और धन से कच्चा माल खरीद कर यन्त्रों के द्वारा पक्का माल तैयार करना चाहिये और इस तैयार माल को अपने राजा के दबदबे की सहायता से दूसरे देशों में जाकर बेचना चाहिये और वहाँ से कच्चा माल लाकर अपने यहाँ फिर सस्ता माल तैयार कराना चाहिये। यही वर्तमान व्यापार की सच्ची परिभाषा कही जाती है और यही पोलिटिकल एकॉनॉमी का मूल समझा जाता है।

राजा की सहायता लेने के कारण बहुधा दूसरे राजों से लड़ाई छिड़ जाती है, इसलिए अपने देश में बड़ी बड़ी मारवाले शस्त्रों को बनाना और सारी प्रजा मिलकर लड़ने के लिए तैयार रहना इस सम्पत्ति के प्रति कर्तव्य समझा जाता है। युद्ध के लिए जातीयता का दृढ करना और जातिरक्षा का नाम देशरक्षा रखकर देशसेवा का अनुराग पैदा कराना इसमें कुंजी की बात समझी जाती है, और किसी विशेष सभ्यता के प्रचार करने का हठ करके उलझनों को बढ़ाना और युद्धों के लिए तैयार रहना आवश्यक समझा जाता है। चूँकि देखने सुनने में लडाई करने की तैयारी ज़रा असभ्य प्रतीत होती है, इसलिए विज्ञान का सहारा लेकर यह बहाना किया जाता है कि भाई संसार में भोग करनेवालों से भोग्य पदार्थ कम हैं, तिस पर भी सृष्टि बेहिसाब बढ़ रही है और एक समय आनेवाला है जब धरती पर पैर रखना मुश्किल हो जायगा। इसलिए बहुत सी पृथिवी अपने क़ब्ज़ में लेकर उसे अमित धन-सोना चाँदी और हीरा मोती–से भर लेना चाहिये और शस्त्रों तथा जातिप्रेम के अमित बल से अपनी रक्षा करके दूसरों को दबाये रहना चाहिये। यह वर्तमान पोलिटिकल एकॉनॉमी का विज्ञानप्रकरण है। बस, यही वर्तमान सम्पत्तिशास्त्र अर्थात् पोलिटिकल एकॉनॉमी के साधारणतः प्रकट और गुप्त नियम और उद्देश्य हैं। सारांश रूप से वर्तमान सम्पत्ति की परिभाषा आवश्यक पदार्थ हैं, और आवश्यक पदार्थों की परिभाषा अमित पदार्थ हैं।

अमित पदार्थों में बेशुमार चीज़ें आ जाती हैं और बेशुमार चीज़ों के लिये कहा जाता है कि न मालूम कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाय इसलिए यद्यपि वर्तमान सम्पति के पदार्थों की गणना नहीं हो सकती तथापि आवश्यक पदार्थ कहने से उसके समस्त पदार्थों की गणना हो जाती है।

इस सम्पत्ति से संबंध रखनेवाली तीन बातें हैं, (१) सम्पत्ति की आवश्यकता (२) सम्पत्ति का स्वरूप और (३) सम्पत्ति के प्राप्त करने के उपाय। इनमें सबसे पहिली बात सम्पत्ति की आवश्यकता की है। सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि सम्पत्ति की आवश्यकता के दो कारण हैं। एक तो नागरिक जीवन है जिसमें अमित आवश्यक पदार्थों की आवश्यकता होती है, और दूसरा जनसंख्या की वृद्धि और भोग्य पदार्थों की न्यूनता है जिसके कारण अमित संपत्ति क़ब्ज़े में रखने की आवश्यकता है। दूसरी बात संपत्ति के स्वरूप की है। संपत्तिशास्त्री कहते हैं कि पृथिवी, श्रम और पूँजी संपत्ति के स्वरूप हैं। पृथिवी में खदान और खेत हैं और श्रम तथा पूँजी से यंत्र और खाद तैयार होती है, इसलिए पृथिवी, खेत, यंत्र और खाद ही संपत्ति का असली स्वरूप है। तीसरी बात संपत्ति के प्राप्त करने के उपायों की है। इसके लिए संपत्तिशास्त्री कहते हैं कि कंपनी, शासन और जातीयता से ही अमित संपत्ति की प्राप्ति, रक्षा और भोग हो सकता है। इस प्रकार वर्तमान पोलिटिकल एकॉनॉमी से संबंध रखनेवाले (१) नागरिक जीवन (२) जनवृद्धि (३) खदान (४) खेत (५) खाद (६) यंत्र (७) कंपनी (८) शासन और (९) जातीयता आदि नौ विभाग हैं। हम यहाँ क्रमसे इन समस्त विभागों की साधारण आलोचना करके देखना चाहते हैं कि क्या ये समस्त विभाग सृष्टिनियम के अनुकूल है और क्या इनकी गणना अर्थशास्त्र के अंदर हो सकती है।

नागरिक जीवन और जनवृद्धि।

नागरिक जीवन और जनवृद्धि की आशंका से प्रेरित होकर ही आजकल अमित संपत्ति की आवश्यकता बतलाई जाती है, परन्तु हम देखते हैं कि ये दोनों बातें अशुद्ध हैं। इन दोनों बातों में पहिले नागरिक जीवन की ही लीजिये। नागरिक जीवन बड़े बड़े नगरों में रहने से ही उत्पन्न होता है। जहाँ खरीदने और बेचने का बाज़ार होता है, और जहाँ कोई बड़ा राजकर्मचारी या राजा रहता है, जहाँ कोई बड़ा घाट या बंदर होता है और जहाँ कोई तीर्थ अथवा और कोई ऐसा ही जमघट का स्थान होता है वहीं धीरे धीरे नगर बन जाता है और नगर में रहनेवालों में चार दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये अभिमानी, विलासी, रोगी और झूठे हो जाते हैं। क्योंकि ख़रीदने बेचनेवाले, राजकर्मचारी और तीर्थवासी मनुष्य अन्य जनता की अपेक्षा मालूमात अधिक रखते हैं, इसलिए वे अपने को स्वभावतः बड़ा आदमी मानने लगते हैं। वे अपनी रहन सहन और भेष भूषा में कुछ विलक्षण फेरफार कर लेते हैं और फ़ैशन के गुलाम बनकर विलासी हो जाते हैं। नाच तमाशा, गाना बजाना और विषयाशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि सभी लोग किसी न किसी रोग का शिकार हो जाते हैं। जुवा खेलना, ठगाई करना और झूठ बोलना थोड़ा बहुत सभी में आ जाता है। इस तरह ये अपने चारों दोषों के कारण हर प्रकार से पतित हो जाते हैं। परन्तु अनजान ग्रामीण इनको सभ्य समझते हैं, अतः इनकी नक़ल करना आरंभ कर देते हैं और वे भी अपना सर्वस्व खो देते हैं।

नागरिक जीवन में अमित पदार्थों का सञ्चय ही प्रधान कार्य बन जाता है और यंत्रों का आविष्कार आरम्भ हो जाता है। नागरिकों के स्वभाव में यहाँ तक अत्याचार बढ़ जाता है कि वे अपने ही सदृश मनुष्य से पीनस उठवाने, रिक्सा खिंचवाने और पखाने साफ़ कराने का काम लेते हैं। इनके कारण नगरमें वेश्याओं की दूकानें, शराब की दूकानें, जुए (सट्टे) की दूकानें और कुटिल नीति (मुक़द्दमेबाज़ी) की दूकानें खुल जाती हैं। बंसी लगाये हुए मछली का मारनेवाला जिस प्रकार मछली के ताक मे बैठा रहता है उसी तरह प्रत्येक नागरिक सीधे सादे मनुष्य को फँसाने—लूटने—के ताक में बैठा रहता है।

विलास के लालच से मोहित होकर ग्राम के मनुष्य शहरों में जमा होने लगते हैं और थोड़े ही दिनों में शहरों की आबादी इतनी घनी हो जाती है कि पखाना, पेशाब, धूल और धूएँ की गंदगी से मनुष्यों के स्वास्थ्य बिगड़न लगते हैं। दवा, सफ़ाई और कपड़े धुलाई का खर्च इतना बढ़ जाता है कि उसकी चिंता शरीर को रोग का घर बना देता है। रेल, मोटर, ट्राम और इक्का गाडा तथा मिल और इंजिनों की भरमार से सैकड़ों आदमी लँगड़े और अंधे हो जाते हैं और सैकड़ों मर जाते हैं। नगरों में शुद्ध हवा, शुद्ध जल, शुद्ध घी दूध, शुद्ध फल और शुद्ध अन्न कभी देखने को नहीं मिलता। हरे खेतों का दर्शन, बाग़ बगीचों की सैर, पशुओं का कल्लोल और पक्षियों का कलरव कभी सुनाई नहीं पड़ता। अर्थात् मनुष्य का जीवन इतना अस्वाभाविक बन जाता है कि वह रोग, खर्च और अभिमान के कारण जिंदा ही प्रेत होता जाता है। इसलिए नागरिक जीवन सृष्टिनियम के बिलकुल ही प्रतिकूल है और नागरिक जीवन से संबंध रखनेवाली अतिम सम्पत्ति बिलकुल ही अस्वाभाविक है। ऐसा अस्वाभाविक नागरिक जीवन नितांत आसुरी जीवन है, इसीलिए आर्यसभ्यता में नगरों के लिए स्थान नहीं है।

आर्यसभ्यता के नगर का आदर्श हम आर्य—ग्राम के वर्णन में लिख आये है। आर्यनगर तो केवल राजा के निवास के ही कारण बनता था जो छोटे छोटे ग्रामों और बाग़ बग़ीचों तथा जंगलो के टुकड़ों से सदैव घिरा रहता था। हमारी यह बात दो प्रमाणों से सिद्ध होती है। एक प्रमाण तो यह है कि प्रत्येक आर्य को संध्या करने के लिए दोनों वक्त नित्य जंगल में जाना लिखा है ×। और दूसरा प्रमाण यह है कि आर्यभाषा संस्कृत में भंगी और पखाने के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग शौच के लिए भी जंगल में ही जाते थे। इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यनगर जंगलों से घिरे रहते थे और जंगल ग्रामों तथा नगरों से घिरे रहते थे। नहीं तो नित्य दोनों समय संध्या और शौच के लिए कोसों कोई कैसे जाता। इसलिए आर्यनगर वर्तमान नगरों की भाँति न थे। वर्तमान नगर तो आसुर नगर हैं अतः ऐसे नगरों को तो वेद में इंद्रवृत्त के अलङ्कार से तोड़वा देने की आज्ञा है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

× अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

(मनु० २।१०४)

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥

(ऋग्वेद १।५१।५)

अर्थात् हे राजन्! आप प्रकृष्ट बुद्धिवाले, छलकपटयुक्त अयज्वा और अव्रती दस्युओं को कम्पायमान कीजिये और जो यज्ञ न करके अपने ही पेट भरते हैं उन दुष्टों को दूर कीजिये और इन (पिप्र) उपद्रव, अशान्ति, अज्ञानता और नास्तिकता फैलानेवाले जनों के नगर को भग्न कर दीजिये तथा दुष्टों का हनन करके सरल प्रकृति मनुष्यों की रक्षा कीजिये।

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ (ऋ० ४।३०।२०)

अर्थात् राजा को चाहिये कि वह द्यूत खेलनेवाले जुवाचोरों के पाषणनिर्मित समस्त नगरों को तोड़वा दे। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि आर्यसभ्यता में नागरिक जीवन असुर प्रवृत्तिवाला समझा जाता है, इसीलिये नगरों के तोड़वा देने की आज्ञा दी गई है। आर्य-सभ्यता में जब नगरों की ही आवश्यकता नहीं बतलाई गई तब भला नागरिक जीवन और नागरिक सम्पत्ति की बात कहाँ बतलाई जा सकती है।

अब रही बात जनसंख्या की वृद्धि की। कहा जाता है की जनसंख्या की वृद्धि से भोग्य पदार्थ और पृथिवी कम होती जाती हैं। परन्तु इस बात में भी अधिक दम नहीं है। हम इस सृष्टि का यह प्रबल नियम देख रहे हैं कि पहिले भोग्य उत्पन्न हो जाता है तब भोक्ता उत्पन्न होता है अर्थात् बच्चा उत्पन्न होने के पहिले ही दूध तैयार हो जाता है और पशु पक्षी तथा मनुष्यों के उत्पन्न होने के पहिले ही वनस्पति उत्पन्न हो जाती हैं। प्रजोत्पत्ति के विषय में विद्वानों की यह राय है कि चालीस दिन के बाद खाये हुए पदार्थों का वीर्य बनता है जिससे संतान उत्पन्न होती है और दस महीने भोजन प्राप्त कर लेने के बाद ही माता बच्चे को पेट से बाहर निकालती है। इसलिए संसार में जब तक संतति उत्पन्न होती जाती है तब तक कौन कह सकता है कि भोग्यों की कमी है। भोग्य कम होने पर न तो पिता का वीर्य ही बनेगा और न दस महीने तक खा पीकर माता ही बच्चे को पैदा कर सकेगी। ऐसी दशा में जब कि लोगों के संतान हो रही है तब कैसे कहा जा सकता है कि भोग्य कम हो रहे हैं। हमारी समझ मे तो जब भोग्य इतने कम हो जायँगे कि जिनसे भविष्य प्रजा का पोषण न हो सकेगा तो माता के पेट में बच्चों का आना ही बंद हो जायगा।

प्राय: लोग कहते हैं कि यद्यपि प्रजा उत्पन्न होती है तथापि पृथिवी में खूराक की कमी तो है ही, क्योंकि यदि लाखों मन मछलियाँ और पशुओं का मांस न होता तो लोग भूख से मर जाते। हम कहते हैं इस में पृथिवी का दोष नहीं है। इसमें उनका दोष है जिन्होंने पृथिवी का दुरुपयोग कर रक्खा है। लाखों एकड़ ज़मीन मिर्च, मसाला, गाँजा, भंग, चाह और अफ़ीम के उत्पन्न करने में रोकी गई है, लाखों एकड़ जमीन रुई, सन और पाट की खेती के लिए रोकी गई है, लाखों एकड़ ज़मीन मशीनों का तेल उत्पन्न करने के लिए रोकी गई है और लाखों एकड़ ज़मीन रेल की सड़कों, सादी सड़कों और नहरों के लिए रोकी गई

है इसी तरह लाखों एकड़ ज़मीन में पैदा होनेवाला ग़ल्ला शराब बनाने में खर्च कर दिया जाता है। इस समस्त ज़मीन पर यदि मनुष्य का खाद्य उत्पन्न किया जाता और पशुओं की बसर के लिए घास उत्पन्न की जाती तो जितना खाद्य आज संसार में उत्पन्न होता है उनसे दूना होता और सबको पेट भर अन्न खाने को मिल जाता और मांस के लिए पशुओं की हत्या न करनी पड़ती और उनसे उत्पन्न हुए दूध घृत से भी मनुष्यों के आहार में सहायता मिलती।

यद्यपि हम भी मानते हैं कि धीरे धीरे मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है, परन्तु हम यह भी मानते हैं कि धीरे धीरे पृथिवी भी बढ़ रही है। यदि पृथिवी धीरे धीरे न बढ़ती तो आदि सृष्टि से आज तक इतने प्राणियों को जगह कौन देता? क्या आदि में पृथिवी की यही स्थिति थी? कभी नहीं। आदि में तो समस्त पृथिवी जल से भरी हुई थी। जैसे जैसे सृष्टि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे समुद्र सूखते जाते हैं और पृथिवी बसने के योग्य होती जाती है। पृथिवी का अब तक एक तिहाई भाग समुद्र से बाहर खुल पाया है और दो तिहाई में पानी भरा हुआ है। जितने में समुद्र भरा है उस जलमय समुद्र के पेट से अब भी पृथिवी के टुकड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। जब जब ज्वालामुखी अग्निप्रपात और भूकम्प होते हैं तब तब कहीं न कहीं समुद्र से पृथिवी के बाहर निकलने का सूत्रपात होता है और कभी कभी पृथिवी बाहर निकल भी आती है। इसके अतिरिक्त पहाड़ धीरे धीरे टूट टूटकर ज़मीन का रूप धारण कर रहे हैं। झांसी के पास यह दृश्य बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इसी तरह बड़े बड़े रेत के मैदान धीरे धीरे लसदार मिट्टी के रूप में परिणत हो रहे हैं। यह दृश्य भी मारवाड़, काठियावाड़ और कच्छ में अच्छी तरह दिखलाई पड़ता है। इसलिए यह बात बिलकुल ग़लत है कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण पृथिवी में तङ्गी है। यह तो एक वैज्ञानिक बहाना है जो दूसरों के देश में क़ब्जा करने के लिए किया जाता है। हमारी समझ में तो जो तंगी है वह पृथिवी के कारण नहीं प्रत्युत वह नागरिक विलासियों की खुद उत्पन्न की हुई है। नागरिकों ने अपने विलास के लिए संसार के अपरिमित पदार्थों को अपने घरों में इकट्ठा कर रक्खा है। एक एक जेंटलमैन के पास आठ आठ ट्रंक कपड़े, सोलह सोलह जोड़ बूट और दो दो सौ कुर्सियों का जमघट जमा है। एक एक लेडी का कमरा व्हाइटवे लेडलॉ कंपनी की दूकान बन रहा है। उधर गाँव में उसी प्रकार की शक्ल सूरतवाली एक कुलवधू के शरीर पर लज्जा निवारण के लिए एक साधारण वस्त्र भी मज़बूत नहीं है। चाह सिगरेट और गाँजा भंग से लदी हुई रेल गाड़ियाँ और जहाज़ संसार भर में दौड़ रहे हैं और एक एक धनवान् का घोड़ा सोलह सोलह आदमी की खूराक का दाना पा रहा है, परंतु गरीबों को आधे पेट अन्न का भी ठिकाना नहीं है। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि यह तंगी पृथिवी के कारण उत्पन्न हुई है। हम तो यही कहते हैं कि यह तंगी नागरिक जीवन से उत्पन्न हुई है है। इसलिए जनसंख्या की वृद्धि की आशङ्का से अमित संपत्ति को हस्तगत करने का सिद्धांत बिलकुल ही ग़लत है। क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि अमित संपत्ति से बंद नहीं हो सकती। अमित सपत्ति से तो वह और भी बढ़ेगी। इसलिए इस नागरिक और काम्य संपत्ति का मोह छोड़कर जब सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाया जायगा तभी संततिनिरोध भी संभव है और तभी मनुष्यजाति के सुखशांति की आशा भी हो सकती है। अतएव आजकाल की आसुरी संपत्ति की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है।

खेत, खाद, खादन और यन्त्र।

गत पृष्ठों में वर्तमान सम्पत्ति की आवश्यकता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि मनुष्य जाति को इस प्रकार की सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। अब देखना चाहते हैं कि क्या उस सम्पत्ति का स्वरूप सही है। वर्तमान सम्पत्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए अर्थशास्त्रियों ने पृथिवी, श्रम और पूँजी को सम्पत्ति का स्वरूप माना है। पृथिवी में खदान और खेत प्रधान हैं तथा श्रम और पूँजी में यन्त्र और खाद प्रधान हैं। वैज्ञानिक खाद डालकर और यन्त्रों से जोत कर खेतों में अन्न, रुई, तेल और फल आदि उत्पन्न किए जाते हैं और फिर यन्त्रों के ही सहारे उनसे नाना प्रकार के अन्य पदार्थ तैयार होते हैं। इसी तरह खदानों से खनिज पदार्थों को निकाल कर यन्त्रों के द्वारा ही नाना प्रकार के पदार्थ तैयार किये जाते हैं और यन्त्रों से ही इधर उधर भेजे जाते हैं। इसीलिए सम्पत्ति के उपर्युक्त चार विभाग खेत, खाद, खदान और यंत्र ही सम्पत्ति का स्वरूप समझे जाते हैं। हम यहाँ क्रम से इन चारों स्वरूपों की आलोचना करते हैं।

हम मनुष्य के आहारप्रकरण में लिख आये हैं कि मनुष्य की असली खूराक फल, फूल और दूध दधि है। ये पदार्थ पशुओं और फलदार दरख्तों तथा फलदार बेलों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए मनुष्य को इन्हीं की खेती करना चाहिए, अन्न की नहीं। अन्न की खेती से जंगलों, वाटिकाओं और झाड़ियों का नाश हो जाता है और पशुओं के चरागाह कम हो जाते हैं जिससे दूध और घी में कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त जंगलों, वाटिकाओं और चरागाहों के नष्ट होने से अवर्षण भी हो जाता है और नाना प्रकार की बीमारियाँ भी पैदा हो जाती हैं। इसलिए खेती करना अर्थात् अन्न के लिए ज़मीन का अधिक भाग रोकना सृष्टिनियम के विरुद्ध है। किन्तु वाटिका लगाना, चरागाह बनाना और जंगल बढ़ाना सृष्टिनियम के अनुकूल है। जंगलों में जहाँ मनुष्यों के खाने के लिए फल मिलते हैं वहाँ अन्न भी उत्पन्न होता है। आरम्भ में समस्त अन्न जंगलों में ही उत्पन्न होते थे और अब भी अनेक देशों में कई प्रकार के अन्न जंगलों में ही घास की तरह उत्पन्न होते हैं। इसलिए केवल जंगलों की वृद्धि से ही फल फूल, दूध घी और अनेक प्रकार के अन्नों की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु खेत अकेला अन्न ही देते हैं, शेष फल फूल, घी दूध, वर्षा और आरोग्य का नाश कर देते हैं; इसलिये खेती करना उचित नहीं है। मनु भगवान् स्पष्ट शब्दों से मना करते हैं कि '**हिंसां प्रायः पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्**' इस हिंसामय दैवाधीन खेती को कभी न करना चाहिये।

जब खेती ही सृष्टिनियम के विरुद्ध है तब खेतों में अपवित्र और रासायनिक खाद का डालना कब अनुकूल हो सकता है? हाँ जंगलों में और बाग़ बग़ीचों में जो स्वाभाविक खाद पत्तों और पशुओं के गोबर मूत्र से बनकर पहुँचता है वही वृक्षों के लिए हितकर होता है। किन्तु जो खाद मनुष्यों के पेशाब पैखाना और मछली आदि से तैयार किया जाता है वह बड़ा ही हानिकारक होता है। मलिन खाद से खाद्य पदार्थों का असली गुण नष्ट हो जाता है। अमेरिका से निकलनेवाले 'मेफ्लावर' नामक अखबार में एक लम्बा लेख छपा है जिसमें वैज्ञानिक रीति से सिद्ध किया गया है कि कृत्रिम और मलिन खाद अन्न

को दूषित कर देता है और वह दूषित अन्न खानेवाले को हानि पहुँचाता है। मलिन खाद से उत्पन्न हुआ अन्न योरपनिवासी भी पसंद नहीं करते। इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि '**अमेध्यप्रभवाणि च**' अर्थात् अपवित्र स्थानों में उत्पन्न होनेवाले अन्न न खाना चाहिये। तात्पर्य यह कि इस सम्पत्तिशास्त्र में जिस प्रकार की खाद का महत्त्व बतलाया गया है वह भी अस्वाभाविक है।

खेत और खाद के बाद खदान और यंत्रों का नंबर है। खदान और यंत्रों का प्रश्न बड़ा भयंकर है। खदानों में परमात्मा ने न मालूम किस उपयोग के लिए खनिज पदार्थों को सुरक्षित रक्खा है। परन्तु आजकल सम्पत्तिशास्त्री उस धरोहर को निकला निकलाकर इधर का उधर कर रहे हैं। कौन जानता है कि ये खनिज पदार्थ पृथिवी में भीतर ही भीतर क्या असर कर रहे हैं और निकल जाने पर क्या असर होगा। बिना समझे बूझे, बिना किसी प्रमाण और दलील के मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह इन पदार्थों में हाथ लगावे। हम देखते हैं कि करोड़ों मन कोयला खदानों से निकाला जा रहा है। लोग कहते हैं कि कोयले में प्राणनाशक वायु अधिक होती है जो वृक्षों की खुराक है। किन्तु वृक्षों को कोयले से मिला हुआ जो रस या वायु मिलती थी वह कोयला निकल जाने से अब नहीं मिलती। ऐसी दशा मे सम्भव है कि वृक्षों के फलों मे और अन्न के गुणों में कमी हुई हो। आज जो सैकड़ों बीमारियाँ फल रही हैं सम्भव है वे इसी उपद्रव का फल हों। कहने का मतलब यह कि जिस बात को हम जानते ही नहीं और न त्रिकाल में कभी जान ही सकते हैं उस बात मे हाथ डालना और प्रकृति के रक्षित पदार्थों को निकालकर नष्ट करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, मैनसिल, हरताल और पारा आदि को सभी लोग जानते हैं कि इनमें स्वास्थ्यसम्बन्धी बड़ा से बड़ा असर मौजूद है। ऐसी हालत में हम कैसे मान लें कि उनकी टालटूल से सृष्टि मे महान् परिवर्तन न हुआ होगा? हमें तो विश्वास है कि ये हर वर्ष के अवर्षण, बीमारी और बड़े बड़े क्रूर स्वभाववाले कार्य सृष्टि मे सब इन्हीं पदार्थों के फेरफार—टालटूल—से होते हैं। इसके सिवा खदानों से निकले हुए अपरिमित सोना, चाँदी, हीरा, मोती आदि पदार्थों ने संसार मे बेहद असमानता पैदा कर दी है जिससे कोई बेहद धनी और कोई बेहद ग़रीब कहलाने लगा है।

इसलिए ऐसे निरर्थक पदार्थों को क़ीमती बना कर लोगों की रुचि उसी तरह लगाना क्या कोई कम पाप की बात है? एक व्यक्ति जिसका सोना, चाँदी आदि के आभूषणों को पहिनने का कभी ध्यान भी नहीं था उसे सोना, चाँदी और हीरा मोती दिखलाकर उस ओर लालायित करना क्या कम अत्याचार है। आज संसार में जो आभूषणसंबंधी काल्पनिक दुःख से मनुष्य दुःखी हो रहे है, आज जो संसार मे हाय हाय मची है कि हमारे कण्ठा नहीं हमारे जड़ाऊ चेन नहीं और हमारे अगूँठी नहीं, यह क्या कम शोक की बात है? जिन मनुष्यों ने इन व्यर्थ पदार्थों को क़ीमती बनाकर सादे सीधे मनुष्यों को इस [illegible] के दुःख में फँसाया है क्या उन्होंने कम पाप किया है? हम तो दावे से कहते है कि जिन्होंने पहिला और इस समय ऐसे पदार्थों का रिवाज पैदा करके मनुष्यों को उस और प्रवृत्त [illegible] है वे मनुष्यजाति के ही नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के शत्रु हैं। इसलिए खेती और खदान [illegible] ही व्यर्थ हैं और मनुष्यसमाज में पाप के बढ़ानेवाले हैं।

इन सबमें यंत्रों का आविष्कार तो खेत और खदानों से भी अधिक भयङ्कर है। यंत्रों ने संसार में कितना अत्याचार कर रक्खा है, यह सबकी आँखों के सामने है। यंत्रों ने मनुष्यों घोड़ों, बैलों, हाथियों और खच्चर आदि पशुओं के कर्मक्षेत्रों को एकदम ही बन्द कर दिया है। जिस काम को हजारों मनुष्य और हजारों पशु मिलकर कर सकते थे, आज यंत्रों के सहारे उसी काम को थोड़ा सा लोहा, कोयला और दोचार आदमी कर लेते हैं। शेष मनुष्य और शेष पशु निकम्मे हो गये हैं और मारे मारे फिरते हैं। उनके लिये संसार में कोई काम ही नहीं है। यही कारण है कि विना उद्योग के मनुष्य तो धनियों के गुलाम बन गये हैं अथवा भूख से मर रहे हैं और पशु छुरी के नीचे अपनी गर्दन कटा रहे हैं। इन यन्त्रों के ही कारण संसार में जगह स्ट्राइक और अनारकिज्म की आसुरी आवाज़ सुनाई पड़ रही है और हर जगह लड़ाइयाँ जारी हैं। यन्त्रों के ही कारण जंगल कट गये हैं, प्रतिवर्ष अवर्षण होता है, जल वायु बिगड़ गया है, सृष्टि—सौन्दर्य नष्ट हो गया है और मनुष्य मनुष्य का जानी दुश्मन बन रहा है। इसलिए हम कहते हैं कि यदि यंत्र न होते, तो आज संसार का नक़शा दूसरा ही होता।

आप कल्पना कीजिये कि आज संसार से सब प्रकार के इंजिन, रेल, मोटर, ट्राम, साइकिल, बिजली से जलनेवाले चिराग़ और बिजली से चलनेवाले पंखे नहीं हैं, अर्थात् किसी प्रकार का कोई भी आसुरी यंत्र नहीं है। अब आप सोचिये कि आपकी सवारी कैसे जायगी और आपके पदार्थ इधर उधर कैसे ढोये जायँगे। इसका उत्तर यही हो सकता है कि पशुओं के द्वारा सवारी और बारबरदारी का काम चलेगा। फिर प्रश्न है कि इतने पशु चरेंगे कहाँ, तो उत्तर स्पष्ट है कि चरागाहों में—जंगलों में। अब फिर प्रश्न है कि जब सारी पृथिवी में जंगल ही हो जायँगे, तो मनुष्य खायँगे क्या, तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि फलदार वृक्षों के फल और पशुओं का दूध, घृत मनुष्य खायँगे और छोटे वृक्ष (तृण) और दाना पशु खायँगे और समस्त प्राणिसमूह का योगक्षेम आनन्द से चल पड़ेगा और संसार आनन्दकानन बन जायगा। जहाँ पर जंगल है, वहाँ आज भी बड़ा आनन्द है। आज ३० वर्ष से हिन्दोस्तान में प्लेग मनुष्यों का सत्यानाश कर रही है, पर जंगल में इसकी दाल नहीं गली। वहाँ आज तक लोग प्लेग को जानते ही नहीं। इसका यही कारण है कि जंगलों में ऐसी बीमारियाँ नहीं होतीं और बीमार को जंगलों में ले जाते ही बीमारी जाती रहती है। जगलों में समय पर वृष्टि होती है और भूमि सदैव शस्यश्यामला बनी रहती है। इस प्रकार केवल यंत्रों, मशीनों और खतों के हटाने की कल्पना मात्र से स्वर्गीय सुख आँखों के सामने घूमने लगता है। फलों के टोकने और घीदूध के प्रवाह बहने लगते हैं, वर्षा होने लगती हैं और प्लेग हैज़ा आदि बीमारी भाग जाती हैं। अर्थात् संसार ही कुछ और का और हो जाता है। इसलिए समस्त खजानों से पदार्थों का निकालना और उन समस्त यंत्रों का चलाना जो स्प्रिंग, स्टीम और बिजली अथवा और कृत्रिम उपाय से चलाये जाते हैं, एकदम सृष्टिनियम के विरुद्ध हैं। इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि—

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च। (मनु० ११ ६३)
उपपातकम्। (मनु० ११।६६)

अर्थात् समस्त खदानों में अधिकार करना, बड़े बड़े यन्त्रों का चलाना, वृक्षों का काटना, वेश्यावृत्ति और अभिचार आदि का करना उपपातक हैं। यहाँ खदानों में अधिकार करना और महायन्त्रों का चलाना पाप बतलाया गया है। अतः ऐसे महायन्त्र जिनसे मनुष्यों अथवा पशुओं का कर्मक्षेत्र रुकता हो, आर्यसभ्यता में कैसे स्थान पा सकते हैं। आर्यसभ्यता में तो अगर्हित शिल्प के ही लिए स्थान है। मनु कहते हैं कि—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थितः।
प्रोषितेत्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥ (मनु० ९ ७५)

अर्थात् यदि पति अपनी पत्नी का विना प्रबंध किये परदेश चला जाय, तो वह स्त्री अनिन्दित शिल्पों के द्वारा अपना निर्वाह करे। अनिन्दित शिल्पों का अर्थ है वैदिक शिल्प। वैदिक शिल्प वे हैं, जो अपने घर में अपने हाथ से किये जायँ, जैसे चरखा कातना आदि। परन्तु जो शिल्प और यंत्र अनिन्दित नहीं हैं, गर्हित हैं, उनके लिए मनु कहते हैं कि—

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥ (मनु० ३।६४-६५)

अर्थात् शिल्प से, रुपये के लेनदेन से, शूद्र संतान से, गौ घोड़ी की सवारियों से, खेती से, राजा की सेवा से और वेदों के न पढ़ने से कुल के कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिए शिल्प, कृषि, नौकरी और नीच संगति को छोड़ दे। यहाँ निन्दित शिल्प और खेती की निन्दा की गई है। इसके सिवा ये निन्दित यन्त्र बहुत दिन चल नहीं सकते। वे शीघ्र बंद हो जायँगे। क्योंकि स्टीम बनाने के लिए जिस कोयले की आवश्यकता होती है, वह शीघ्र ही खतम होनेवाला है +। इसी तरह बिजली जिन मसालों से बनती है, वे भी खतम हो जायँगे और यदि सूर्य से शक्ति ली जायगी, तो वह शक्ति जहाँ के लिए बनाई गई है, वहाँ न पहुँचेगी और घोर उपद्रव हो जायगा। रहा यह कि विना रेल आदि के लोग दूर देश कैसे जायँगे। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो सबको सफ़र में जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि प्रायः वैश्य लोग ही दूर देश जाते हैं। वे स्थल में पशुओं के

+ Already some of the smaller coalfields of Europe have been worked out, while in others it has become necessary to sink much deeper shafts at an increasing cost. There is not much tin left in Cornwall, not much gold in the gravel deposits of nothern California. The richest known goldfield of the world, that of Transval Witwatersrand can hardly last more than thirty or forty years. Thus in a few centuries the productive capacity of many regions may have become quite different from what it is now with grave consequences to their inhabitants

—Harmsworth-History of the World, Introduction, p. 38.

द्वारा और जल में बिना इंजिन के जहाज़ों के द्वारा जा सकते हैं। यदि इन सवारियों का अच्छा प्रबन्ध किया जाय, तो साल भर में सारी पृथिवी का चक्कर लग सकता है। यदि मनुष्य रोज़ २० मील चले, तो पैदल ही तीनचार वर्ष में सारी पृथिवी का चक्कर लगा सकता है। संसार के अवलोकन करने के लिए पैदल से अच्छा और कोई मार्ग नहीं। इसलिये ऐसे यंत्रों को जिनसे किसी भी प्राणि का कर्मक्षेत्र रुकता हो कभी काम में न लाना चाहिये। साथ ही ऐसे यन्त्रों से बने हुए पदार्थ भी, चाहे वे स्वदेशी हों या विदेशी, कभी उपयोग करने के योग्य नहीं हैं। ये सब पदार्थ मनुष्यों या पशुओं को हानि पहुँचा करके ही बनते हैं, इसलिये प्राणियों के खून से बने हुए पदार्थों के द्वारा सजावट करनेवाले मनुष्य का कभी भला होनेवाला नहीं है। मशीनों के कारण ही लाखों कुली भूख भूख चिल्लाते फिरते हैं और लाखों पशु रोज़ क़तल किये जाते हैं। मशीनें यदि न होतीं, तो इन सब प्राणियों की क़दर होती। किन्तु मशीनों ने सबको निकम्मा बना दिया है, अतः मशीनों को सहारा देने में उतना ही पाप है, जितना अनेकों मनुष्यों या पशुओं के वध करने से होता है। इस प्रकार से यह खेत, खाद, खदान और यंत्रों से बना हुआ कृषक सम्पत्ति का स्वरूप नहीं है। यह तो कामुकता का भयङ्कर चित्र है, जो मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों को ही सतानेवाला नहीं, प्रत्युत जल, वायु और वृष्टि आदि जड़सृष्टि में भी उथलापथल करनेवाला है। इसलिए इसको शीघ्र ही नष्ट हो जाना चाहिये। इस सम्पत्ति के स्वरूप की आलोचना के आगे अब इस आसुरी सम्पत्ति के उत्पन्न करनेवाले साधनों का भी विवरण देख लेना चाहिये।

कम्पनी, राज्यबल और जातीयता।

सम्पत्तिशास्त्रियों का कहना है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए बहुत लोगों से थोड़ा थोड़ा धन एकत्रित करके और सबको हानिलाभ का भागीदार बनाकर व्यापार करने से ही अमित लाभ हो सकता है। क्योंकि इस ढंग से एक तो बहुत बड़ी धनराशि एकत्रित हो जाती है, जिसके बल से बहुत बड़ा व्यापार किया जा सकता है, दूसरे अन्य व्यापारियों का व्यापार पीछे हटाने के लिए यदि थोड़ा बहुत पहिले घाटा भी उठाना पड़े तो घाटे की हानि थोड़ी थोड़ी बहुत से भागीदारों में बट जाती है, जिससे कम्पनी को धक्का नहीं लगता, प्रत्युत दूसरे व्यापारियों का धंधा बन्द हो जाता है और शीघ्र ही वह समस्त लाभ कंपनी को ही होने लगता है, जिसके द्वारा अनेकों व्यापारी और उस व्यापार से संबंध रखनेवाले जीते हैं। इस प्रकार की कुटिल नीति से प्रेरित होकर कंपनी का संगठन होता है और अपने राजा के बल तथा जातीयता की उत्तेजना से प्रबल बनकर और मशीनों के द्वारा शृङ्गारिक पदार्थों को बनाकर दूसरे देशों के बाज़ारों का सर्वस्व अपहरण किया जाता है। कंपनी की इस नीति में प्रधान वस्तु धनराशि की है। सम्पत्तिशास्त्री इसी को पूँजी कहते हैं। वे कहते हैं कि बिना पूँजी के संपत्ति उपार्जित नहीं हो सकती। पर यह पूँजीवाद जिसमें धनराशि के द्वारा शृङ्गारिक पदार्थों को बनाकर दूसरों का व्यापार नष्ट करने की बात गर्भित है, नितान्त पतित और पापमूलक है। यहाँ हम धनराशि और दूसरों के व्यापार को पीछे हटाने की नीति की आलोचना करके देखते हैं कि वह कितनी अस्वाभाविक है।

आजकल धन का अर्थ सोना और चाँदी माना जाता है। व्यापार में लेनदेन का यही माध्यम है। इसी के द्वारा पदार्थों का मूल्य निश्चित होता है। पर यह सोना और चाँदी

स्वयं किसी काम आता है—मानवजीवन में औषधि के अतिरिक्त वह किस मौक़े पर लाभदायक सिद्ध होता है—यही आज तक किसी ने नहीं बतलाया। प्रथम तो संसार में जितनी क़ीमत के पदार्थ हैं, अर्थात् यह संसार जितना क़ीमती है, उतनी क़ीमत का सोना चाँदी संसार में है ही नहीं, इसलिए सोना चाँदी सम्पत्ति का माध्यम हो ही नहीं सकता। संसार की सम्पत्ति की बात जाने दीजिये, अभी हाल में जितने बड़े बड़े लेन देन होते हैं, उनमें भी यदि नोट, चेक हुण्डी का उपयोग न हो, केवल सोना चाँदी ही ले देकर ख़रीदा बेचा जाय, तो एक दिन भी व्यापार न चले। इसलिए सोने चाँदी को धन मानना या उससे धन की क़ीमत आँकना बिलकुल ही बुद्धि के विरुद्ध है। इसके सिवा जो आदमी सोने चाँदी को मूल्यवान् ही न समझता हो, उसके साथ तो पदार्थों का लेन देन हो ही नहीं सकता। घोर जंगल के रहनेवाले नग्न भीलों से यदि कोई सुवर्ण का टुकड़ा देकर खाने के लिए वन्य पदार्थ माँगे, तो वे कभी नहीं दे सकते। जंगलनिवासियों को जाने दीजिये, अभी गत योरोपीय युद्ध के समय खाद्य पदार्थों के कम हो जाने पर जब सर्विया के सैनिकों को भोजन के समय सुवर्ण की गिन्नियाँ दी गईं तो उन्होंने गिन्नियों को फेंक दिया। इस तरह से सुवर्ण न तो जंगली असभ्यों के काम की वस्तु है और न यह अन्नहीन नागरिक सभ्यों के ही काम की वस्तु है। वह तो श्रृङ्गारप्रिय कामियों की वस्तु है। वही उसकी क़दर करते हैं। परन्तु जो कामी नहीं हैं, उनके निकट हीरा, मोती, सोना, चाँदी कुछ भी मूल्य नहीं रखते। एक बार लव कुश को सुवर्ण दिया गया तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि—

> वन्येन फलमूलेन निरतौ वनचारिणौ ।
> सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने ॥

अर्थात् हम लोग तो वन्य फलफूलों से ही निर्वाह करते हैं, हम इस सुवर्ण को लेकर क्या करेंगे ? इससे ज्ञात होता है कि सोना चाँदी सम्पत्ति का माध्यम होने की योग्यता नहीं रखते। अभी कुछ दिन अब तक लोगों में लव कुश की सी परिमार्जित बुद्धि का विकास नहीं हुआ तब तक चाहे भले भोले स्वभाव के लोग उसके मोह में फँसे रहें, पर जब संसार में सोने की अधिकता हो जायगी—खदानों से और रासायनिक प्रयोगों के द्वारा जब सोने की वृद्धि हो जायगी तब उसको कोई मिट्टी के समान भी न पूछेगा। हमने कानपुर से निकलनेवाले ८ दिसम्बर सन् १९२१ के 'आदर्श' पत्र में पढ़ा था कि चौदह वर्ष के अनुभव के बाद एक फ्रांसीसी रसायनशास्त्री ने पारे से सोना बना लिया है। मि० बाँड नामक एक अँगरेज़ी भी उसके साथ है। दोनों ने इस कृत्रिम सुवर्ण को आक्सफ़ोर्ड के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री के पास परीक्षार्थ भेजा है। वहाँ की रासायनिक जँच से ज्ञात हुआ है कि इसमें प्रति शतक नब्बे भाग सोना है और शेष दश भाग रेडियम तथा अन्य पदार्थ हैं। इस पर एक अर्थशास्त्री ने कहा है कि इस आविष्कार से भारत और चीन को छोड़कर शेष समस्त संसार पर आपत्ति आ जायगी, क्योंकि शेष समस्त संसार में सोने से ही क्रयविक्रय होता है'।

इस घटना और अर्थशास्त्रसंबंधी इन विचारों से अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है कि सोना चाँदी या रुपया पैसा अथवा हीरा मोती सम्पत्ति के माध्यम नहीं हो सकते। सम्पत्ति का माध्यम तो सम्पत्ति ही हो सकती है। क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य को दो मौक़ों पर सम्पत्ति के माध्यम की आवश्यकता होती है। एक तो ग्राम के अन्दर नित्य—

प्रति लेन देन के समय और दूसरी आपत्ति के समय जब एक देश से दूसरे देश में आवश्यक पदार्थों के क्रयविक्रय की आवश्यकता होती है। ग्राम के अंदर नित्य पदार्थविनिमय का माध्यम ग्राम के पदार्थ ही हैं, रुपया पैसा नहीं। ग्राम्य जीवन के प्रकाण्ड अर्थशास्त्री प्रो० राधाकमल मुकर्जी ग्राम्य जीवन की प्राचीन आवश्यकता के संबंध में कहते हैं कि 'ग्राम का काम अब भी प्रायः ग्राम के भीतर ही चल जाता है। ग्राम आप ही आप एक आर्थिक संघ है। ग्राम के किसान ग्रामवासियों के सभी आवश्यक खाद्य उत्पन्न करते हैं और लोहार किसानों के लिए फाल तथा घरू काम करने के लिए लोहे के अन्य पदार्थ तैयार करता है। वह ये चीजें लोगों को देता है और इनके बदले में उनसे रुपये पैसे नहीं पाता, किंतु वह उनके बदल में अपने ग्रामवासियों से भिन्न भिन्न काम लेता है। कुम्हार उसे घड़े देता है, जुलाहा कपड़े देता है और तेली तेल दे जाता है। इसी तरह अन्य कारीगर भी अन्य अन्य आवश्यक पदार्थ दे जाते हैं। ये सभी कारीगर किसानों से अनाज का वह भाग पाते हैं जो पीढ़ियों से बँधा हुआ चला आता है। इस तरह से सहकार्यनिर्वाहसंबंधी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति रुपये पैसे के बिना ही हो जाती है और गाँववालों को लेन देन के लिए रुपये पैसे की आवश्यकता नहीं होती' यह बात बिलकुल ही सत्य है। इस घटना से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जब इस प्रकार की अदला बदली गाँव में हो सकती है, तो इसी तरह की अदला बदली दूर देशों के साथ भी हो सकती है। परंतु यह तभी हो सकती है जब अदला बदली का उद्देश्य लोगों का धन हरण करना नहीं प्रत्युत प्राणियों का कष्ट दूर करना हो। आर्यसभ्यता के मूलप्रचारक भगवान् मनु वैश्य को—व्यापारी को—व्यापार का उद्देश्य समझाते हुए लिखते हैं कि—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥ (मनु० ९ ३२६)

अर्थात् वैश्य धन (भोजनादि सामग्री) को बढ़ाकर प्रयत्न से प्राणिमात्र को अन्न पहुँचावे। वैश्य को उचित है कि जो मनुष्य बर्फ़ानी स्थानों में पड़े हुए हैं, उनको गोमेध यज्ञ के द्वारा नवीन नवीन टापुओं की अनुर्वरा भूमि को उर्वरा बनाकर बसावे और जहाँ कहीं जिस पदार्थ की आवश्यकता हो, वहाँ वह पदार्थ पहुँचावे। इस काम के लिए अर्थात् सवारी और बारबरदारी के लिए पशुओं और नावों तथा जहाजों की आवश्यकता होती है। नावों की आवश्यकता चाहे कभी कभी हो, पर पशु तो नित्य ही काम आते हैं। इसीलिए आर्यव्यापार में पशुरक्षा का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। वेद में लिखा है कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥
(ऋ० ५।४५।६)

अर्थात् मित्रो! आओ गौवों के बड़े बड़े गोष्ठ बनाने का उद्यम करें। यह उद्यम माता के समान है। इसी से मनुष्य शत्रुओं को जीत सकता है और इसी से उत्कण्ठावान् वणिक् हर प्रकार के रस को प्राप्त होते हैं। इस मंत्र में गौवों के बड़े बड़े गोष्ठ बनाना ही उद्यम बतलाया है। गौगोष्ठों में बड़े बड़े बैल तैयार होते हैं, जो लाखों मन अन्न वस्त्र एक देश से दूसरे देश में पहुंचाते हैं। इस प्रकार के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर केवल प्राणियों को अन्न

पहुँचाने के लिए जो व्यापार किया जाता है, उसमें भी सोने चाँदी के सिक्के की आवश्यकता नहीं होती। व्यापार में सोने चाँदी का पचड़ा लगाने से तो कभी उन देशों को अन्न मिल ही नहीं सकता, जिनके पास सोना चाँदी नहीं है। इस सिद्धान्तानुसार तो यदि अरबों के पास सोना न हो, तो उनको ईरानवाले अन्न देंगे ही नहीं, चाहे भले समस्त अरबस्तान भूख से मर जाय। परन्तु जो व्यापारी अरबों की प्राणरक्षा के लिए वहाँ अन्न भेजेगा, वह ऐसी शर्त न लगावेगा कि हमें सोना दो तभी हम अन्न देंगे, प्रत्युत वह तो यदि वहाँ सूत, ऊन अथवा इमारत की लकड़ी ही पावेगा, तो लौटते समय वही लेता आवेगा और उसी में विनिमय समझ लेगा। यदि यह भी न मिलेगा, तो अपना माल दूसरे साल के लिए खजूर के बयाने में उनकी साख पर दे आवेगा। इसलिए दूर देशों के व्यापार में भी सोने चाँदी के सिक्के की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अब रही बात वर्तमान सम्पत्तिशालियों के तैयार किये हुए माल की। ये लोग कोई ऐसा माल तैयार नहीं करते, जो मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हो। खाद्य पदार्थ ये तैयार करके भेजते ही नहीं। हाँ, कपड़े भेजते हैं। परन्तु वे कपड़े शरीफ़ आदमियों के पहिनने के योग्य नहीं होते। उनसे शृंगार, विलास और व्यभिचार की दुर्गन्ध निकलती है। इसलिए वे उतने ही त्याग के योग्य हैं, जितना कि एक कुलवधू के लिए वेश्या की मैत्री का त्याग आवश्यक है। इन दो पदार्थों के सिवा मनुष्य के जीने के लिए संसार में और आवश्यकता ही किस वस्तु की है? इसलिए इनका तैयार किया हुआ माल अर्थ नहीं कहला सकता। वह तो अनर्थ है। और काम के बढ़ानेवाला, दूसरे देश का धन चूसनेवाला और प्राणिमात्र जीते ही जी जलानेवाला है। इसीलिए महाराज मनु ने ऐसे शिल्पियों पर राजा को कड़ी निगाह रखने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं कि—

> असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
> शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥
> एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
> निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ (मनु० ९।२५९, ६०)

अर्थात् बुरे कर्म करनेवाले उच्च कर्मचारी, वैद्य, मारन मोहन करनेवाले ठग, शिल्पी, वेश्यादिकों में रहनेवाले और आर्यरूप धारण किए हुए अनार्यों पर राजा निगाह रक्खे। यहाँ शिल्पियों की किस प्रकार के लोगों के साथ गिनती की गई है और चोरों की तरह उनकी निगरानी करने की आज्ञा दी गई है। इसका कारण यही है कि शृंगार बढ़ानेवाले विलासी पदार्थ तैयार न हों। कहने का मतलब यह कि पूँजी से संबंध रखनेवाली कंपनी की शिक्षा और शिल्पसंबंधी नीति नितांत अशुद्ध है।

संपत्ति के उत्पन्न करनेवाले इस प्रधान साधन—कंपनी को राज्यबल की भी आवश्यकता रहती है। राज्यबल से दो लाभ होते हैं। एक तो कंपनियों को दूसरे देशों में माल खरीदने और बेचने में अपने राजा के सैनिक दबदबे के कारण किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती और दूसरे अपने राजा की सहायता से यांत्रिक कला और विज्ञान में उन्नति होती है, जिसके द्वारा शृंगार और विलास के बढ़ानेवाले पदार्थ सस्ते और शीघ्र तैयार होते हैं तथा युद्ध को सफल बनानेवाले नाना प्रकार यंत्र, गैस और यान भी तैयार होते हैं, जो दूसरे

देशों को भयभीत किए रहते हैं। आजकल के शासन का प्रधान ध्येय यही है। इसलिए आजकल का अर्थशास्त्र राजनैतिक अर्थशास्त्र अर्थात् पोलिटिकल एकॉनॉमी कहलाता है। इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र के द्वारा मनुष्यों के जीवन शृंगार और विलासमय बनाये जाते हैं और कामुकता का प्रचार किया जाता है। जहाँ देखो वहीं नाना प्रकार की शराबों की दूकानें, चाह, गाँजा, अफ़ीम और चण्डू की दूकानें, सिगरेट और तंबाकू की दूकानें, वेश्याओं की दूकानें, जुए (सट्टे) की दूकानें और कामोद्दीपक तथा व्यभिचार के बढ़ानेवाले वस्त्रों, यन्त्रों और औषधियों की दूकानें सबकी आँखों के सामने लगी हैं। सबके सामने जीवित प्राणियों के अण्डे और मांस के ढेर बिक रहे हैं, पर कोई मना करनेवाला नहीं है। यह तो रोज़ देखने में आता है कि सादगी और समता का प्रचार करनेवाले जेलों में बंद किये जा रहे हैं, पर यह देखने में नहीं आता कि जिन वेश्याओं ने अपने ज़हर (गर्मी, सूज़ाक) से लाखों मनुष्यों को सड़ाकर कोढ़ी बना दिया है अथवा जिन दुराचारी पुरुषों ने लाखों निरपराध गृहदेवियों को उसी ज़हर से सड़ा डाली है, उन पर एक रुपया जुर्माना भी हुआ हो। यह दशा किसी एक ही देश या जाति की नहीं है, प्रत्युत सारी पृथिवी की शासनप्रणाली आजकल प्रायः इसी ढंग की हो रही है। इसका कारण यही है कि आजकल शासन और व्यापार का उद्देश उत्तम मनुष्य बनाना और उन्हें भूख से बचाना नहीं है, किन्तु सबको विलासी बनाकर संसार का सुवर्ण अपने पास जमा करना है और दूसरों को गुलाम बनाना है।

इसलिए न तो यह सम्पत्ति शुभ कामनावाली ही है और न इस प्रकार की राज्यप्रणाली ही उत्तम है। ऐसी राज्यप्रणाली से तो वह प्रजा लाख दरजे अच्छी है, जो बिना राजा के है। समुद्र के अनेक टापुओं में जहाँ बिना राजा के मनुष्य बसते हैं, जंगली दशा में भी सुख की नींद सोते हैं। उन्हें यह खौफ़ नहीं है कि सबेरा होते ही हमें तोप के मुँह लड़ना पड़ेगा अथवा कल हमारा शहर उड़ाया जायगा—बंबार्डमेंट किया जायगा। उन्हें यह तो चिन्ता नहीं है कि जब तक मिल (पुतलीघर) न खुल जायँ और बैंकों की प्रतिष्ठा न हो तब तक हमारा जीवन व्यर्थ है? उन्हें किसी देश की उत्तम दशा पर ईर्षा और डाह तो नहीं है? वे मनुष्य जैसे प्राणी के नाश करने का उपाय तो नहीं सोचते? इसलिए जिन राज्यों में शांति नहीं, सुख नहीं, मनुष्यों के प्रति दया नहीं, परस्पर प्रेम नहीं और सहानुभूति नहीं उन राज्यों से तो किसी रेतीले मैदान में बालू खाकर रहना अच्छा है। सैकड़ों स्थान पृथिवी पर अब तक ऐसे हैं जहाँ लोग राजा का नाम तक नहीं जानते, पर क्या वहाँ के लोग पूर्ण आयु नहीं जीते? अवश्य जीते हैं। राज्यहीन जितने जंगली मनुष्य है, वे वहाँ की प्रजा से अधिक दीर्घायु बलवान् और प्रसन्नवदन होते हैं, जहाँ राज्यशासन प्रचलित है।

ऐसी प्रचलित राज्यशासनप्रणाली में अधूरी आयु जानेवाले नागरिक सिवा अस्पतालों की दवा पी पीकर आधी आयु जाने के और क्या किये लेते हैं और बड़े बड़े महलों में तकिया गद्दी पर कराह कराह कर आधी नींद सोने के सिवा और क्या बनाये लेते हैं? इसलिए हम कहते हैं कि राज्यशासनप्रणाली वही ठीक है, जिसका उद्देश्य मानवजीवन को शान्ति देनेवाला हो। परन्तु उपर्युक्त राजनैतिक अर्थशास्त्र के कारण राष्ट्र में एक भी व्यक्ति शांति से एक दिन भी नहीं बैठ सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे राज्यों से बचने के लिए अथवा उनसे बाज़ी मारने के लिए व्यग्र रहता है। एक विज्ञानवेत्ता से लेकर साधारण कुली पर्यंत इसी व्यथा से पीड़ित

रहता है और इसी के कारण संसार में कहीं न कहीं युद्ध की आग धधका करती है। अतः इस प्रकार की शासनप्रणाली से संसार में कभी सुख, शान्ति नहीं मिल सकती। जहाँ वैर विरोध है, वहाँ चैन कहाँ हो सकता है। वह मनुष्य सुख की नींद कैसे सो सकता है, जिसने अनेकों शत्रु बना रक्खे हैं और वह मनुष्य शान्त कैसे हो सकता है, जिसने अपने जीवन को कलहमय बना रक्खा है। इसलिए इस शासनप्रणाली को छोड़कर देखना चाहिये कि वैदिक शासनप्रणाली के अनुसार राजा की क्या आवश्यकता है?

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, एक विद्वान् दूसरे मूर्ख। विद्वानों के लिये राज्य-शासन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि विद्वान् कभी शारीरिक शासन से—सज़ा जुर्माना से—क़ाबू में नहीं आ सकते। वे अपने ज्ञानचातुर्य से राजा के दबदबे को ढीला कर देते हैं, इसलिए राज्यशासन उन्हीं मूर्ख और उद्दण्ड मनुष्यों के लिए है, जो अत्याचारी हैं और जिनके पाप कर्मों को सब लोक देख सकते हैं। उन्हीं के दमन करने की आवश्यकता भी है और उन्हीं का दमन हो भी सकता है। किन्तु जो विद्वान् हैं और आप बुद्धिकौशल से पाप कर्म कर रहे हैं, उनका दमन राजा नहीं कर सकता। इसलिए राजा की आवश्यकता केवल उद्दण्ड, मूर्ख और अत्याचारी, राक्षसों पर ही शासन करने के लिए है। इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है कि—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥

अर्थात् जिस राजा के राज्य में चोर, व्यभिचारी, दुष्ट वाक्य बोलनेवाला, साहसी और दण्ड का न माननेवाला नहीं होता, वही राजा इंद्र के समान राज्य करता है। आर्यराज्य की यह काल्पनिक आदर्श नहीं है प्रत्युत राजा अश्वपति कहते हैं कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छांदोग्य उपनिषद्)

अर्थात् मेरे राज्य में न चोर हैं, न कायर हैं, न मद्यपान करनेवाले हैं, न अग्निहोत्र न करनेवाले हैं, न मूर्ख हैं, न व्यभिचारी हैं। और न व्यभिचारिणी हैं। यही यथार्थ शासन का आदर्श है। इसी प्रकार के शासन से दुष्ट मनुष्यों का दमन होता है। शृंगारप्रिय और विलासी मनुष्य ही प्रायः शराबी और व्यभिचारी होते हैं। यही कारण है कि आर्यशासन ने विलास और कामुकता की जड़ नशा और व्यभिचार को ही क़रार दिया है। किंतु आज हम देख रहे हैं कि राजनैतिक संपत्ति बढ़ाने के लिए राज्यशासन के दबदबे से शराब और वेश्याओं की वृद्धि करनेवाले शृंगारिक पदार्थों का प्रचार किया जा रहा है, इसलिए संपत्ति उत्पन्न करनेवाला यह राज्यबलरूपी साधन भी मनुष्यस्वभाव के विरुद्ध ही है। यह मनुष्यजाति को सुख देनेवाला नहीं, प्रत्युत कामी बनाकर अकाल मृत्यु के मुख में ले जानेवाला है।

. . . . .

अब रही बात संपत्ति बढ़ाने में सहायता देनेवाली तीसरी वस्तु जातीयता की। जातीयता को अँगरेजी में नेशनलिटी कहते हैं। यह लोगों को युद्धों में मरने और दूसरों को मारने के लिए तैयार करती है। यह न हो, तो कोई मनुष्य युद्ध में मरने के लिए तैयार ही न किया जाय। जातीयता के भाव से प्रेरित होकर ही एक प्रजा दूसरी प्रजा के साथ युद्ध करने के लिए

तैयार होती है और जो युद्ध इस प्रकार की भावनावाली प्रजा के द्वारा होते हैं, उन युद्धों में प्रायः विजय ही होती है। इसीलिए राजनैतिक व्यापार में युद्ध को सहायक इस जातीयता की आवश्यकता होती है। परन्तु यह जातीयता भी मनुष्यस्वभाव और सृष्टिनियम के विरुद्ध ही है। क्योंकि समस्त संसार के मनुष्य एक ही वंश और एक ही जाति के हैं। इसलिए इस एक जाति को कल्पनाभेद से अनेक जातियों में बाँटकर कलह पैदा करना उचित नहीं है। जातीयतावाले जो कहते हैं कि जिसका एक धर्म, एक भाषा, एक रक्तरूप और एक राजा हो वह जाति है पर यह ठीक नहीं है। इस लक्षण में दोष है। हम देखते हैं कि रूस में कई धर्म कई भाषा और कई रक्तरूप के आदमी हैं, पर वे सब एक ही जाति में संगठित हैं। इसी तरह अन्य जातिओं में भी अनेक प्रकार के विषम भेद मौजूद हैं। इसलिए यह जाति का लक्षण ठीक नहीं है। हाँ, जाति का यह एक लक्षण ठीक प्रतीत होता है कि समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध जनता एक जाति है, किंतु यह लक्षण भी दोषपूर्ण है। भारतवर्ष में हिंदू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाई सभी समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध हैं पर इतना होने पर भी इँगलैंड के शासक कहते हैं कि भारतवर्ष में एक जाति अथवा एक ही जातीयता—नेशनेलिटी—नहीं है। कहने का मतलब यह कि जाति से संबंध रखनेवाले जितने लक्षण किये गये हैं वे सब कृत्रिम और अस्तव्यस्त हैं। जाति का सर्वोत्तम लक्षण तो '**समानप्रसवात्मिका जातिः**' है। जिसका तात्पर्य यही है कि समान प्रसव अर्थात् जिस नर और नारी से संतान उत्पन्न हो वही जाति है। संसार के समस्त नर नारी परस्पर वैवाहिक संबंध से संतान उत्पन्न कर सकते हैं, अतएव संसार के समस्त मनुष्यों की एक ही जाति है।

अतः इस सृष्टिनियम और प्रत्यक्ष लक्षण के होते हुए एक जाति में अनेक जाति की कल्पना करके परस्पर के रागद्वेष से संसार को अशांत करना उचित नहीं है। बड़े बड़े विचारशील विद्वानों का विश्वास है कि संसार की अशांति का कारण जातीयता ही है। इस जातीयता के ही कारण दूसरी जाति के मनुष्य मिट्टी और कंकड़ के बराबर समझे जाते हैं और इस जातीयता के ही कारण खण्ड राज्यों की जड़ जमी हुई है। यदि संसार में जातीयता का झगड़ा मिट जाय, तो खण्ड राज्यों का सिलसिला एक क्षण में मिट जाय और आर्यसभ्यता-वाला आदर्शराज्य—चक्रवर्ती सार्वभौम राज्य—स्थापित हो जाय और स्वजातिअभिमान और परजातिअपमान का बीज संसार से लुप्त हो जाय। क्योंकि जिसमें स्वजातिअभिमान होता है, उसमें विजातिअपमान के अंकुर स्वभावतः होते ही हैं और विजातिअपमान में स्वजातिपक्षपात का होना स्वाभाविक ही है। यही रागद्वेष की जड़ है, यही स्पर्धा—कम्पिटीशन—की जननी है, यही यंत्रों की उत्तेजक है और यही भयङ्कर युद्धों की आग सुलगानेवाली है। इसलिए जहाँ तक हो जातीयता का शीघ्र नाश होना चाहिये। आर्यसभ्यता न जाने कब से '**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**' का पाठ पढ़ाती है और बतलाती है कि उदार पुरुषों के निकट तो समस्त संसार एक ही कुटुम्ब के समान है। यही कारण है कि प्राचीन समय के आर्यों में इस प्रकार की जातीयता न थी। वे भले और बुरों की दो ही जातियाँ मानते थे, जिन्हें आर्य और दस्यु कहते थे। आर्य अच्छों का और दस्यु बुरों का नाम था। किन्तु बुरे सदैव बुरे ही नहीं रहते थे। समय पाकर शिक्षा के द्वारा वे भी आर्य हो जाते थे

और अशिक्षित तथा असंस्कारी रह जाने से आर्य भी दस्यु हो जाते थे। कहने का मतलब यह कि आर्यकाल में कभी जातियों का इस प्रकार पृथक् पृथक् संगठन नहीं हुआ था, क्योंकि आर्य लोग जातीयता की बुराई को जानते थे। वे समझते थे कि जातीयता मनुष्यों में सबसे पहिले अन्याय पैदा कराती है। वह अपनी जाति का अनुचित पक्षपात कराती है और विजाति पर अनुचित अत्याचार करने के लिए तैयार करा देती है। इससे अभिमान की सृष्टि होती है और दूसरों का अपमान करने की सूझती है। इसलिए यह सर्वदा त्याग के ही योग्य है। इसके त्याग का सबसे उत्तम उपाय यह है कि समस्त मनुष्य एक ही राज्यशासन की प्रजा बन जायँ। यद्यपि सादे और समान जीवन से भी परस्पर का द्वेषभाव छूट जाता है, विवाहसम्बन्ध भी पारस्परिक द्वेष को नष्ट कर देता है, एक भाषा और एक धर्म भी इसके हटाने में सहायक होते हैं और इसी प्रकार की प्रायः सभी ऐक्यताओं का प्रचार करने से सारा अनैक्य दूर हो सकता है तथापि समस्त मनुष्यजाति को एक राजा की प्रजा हो जाना सब एकताओं का मूल है। इसी के स्वीकार करने से उपर्युक्त समस्त ऐक्यताएँ आपसे आप उत्पन्न हो जाती हैं। इसीलिए वेदों में चक्रवर्ती राज्य के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। वे प्रार्थनाएँ केवल जगत् में शान्ति स्थापित करने के ही लिए हैं।

क्योंकि मनुष्यसमाज कभी शान्त नहीं रह सकता जब तक कि वह एक ही राजा की प्रजा न हो जाय। जहाँ देशभेद है, जहाँ खानदानभेद है, जहाँ धर्म, भाषा और रङ्ग का भेद है, वहाँ कभी शांति रही नहीं सकती। किन्तु सार्वभौम एक राज्य की स्थापना से ही सारे विरोध दूर हो जाते हैं। प्राचीन काल में जब तक आर्य राजा पृथिवी में सार्वभौम राज्य करते रहे तब तक परस्पर सहानुभूति रही और समस्त मनुष्य एक दूसरे को मित्र समझते रहे, किन्तु आर्यराज्य के नष्ट होते ही समस्त मनुष्यजाति कलहपीड़ित हो गई। इसीलिए वेद में सार्वभौम राज्य से ही सुख बतलाया गया है। यजुर्वेद ५।२४ में लिखा है कि '**स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा**' अर्थात् स्वराज्य शत्रु का नाशक है, सत्र राज्य दुःखों का नाशक है, जनराज्य राजा का नाशक है और सर्वराज्य अमित्र नाशक है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सर्वराज्य से अमित्र—शत्रु—उत्पन्न नहीं होते। जब कोई अमित्र ही नहीं है—सब मित्र ही मित्र हैं—तो दुःखों का कहीं पता नहीं लग सकता। इसलिए खण्ड राज्यों की घृणित जातीयता से उत्पन्न हुआ राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र नितान्त अशुद्ध है।

यहाँ तक हमने वर्तमान राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र के समस्त विभागों और उपविभागों की आलोचना करके देखा। इस आलोचना से स्पष्ट सूचित हो रहा है कि यह सम्पत्तिशास्त्र नहीं किन्तु कामशास्त्र है और अर्थशास्त्र नहीं किन्तु अनर्थशास्त्र है। अर्थ और सम्पत्ति का प्रधान विषय तो भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी ही होना चाहिये जिसका केवल शरीररक्षा से सम्बन्ध है। किंतु इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र का उद्देश्य काम्य पदार्थों का प्रचार करना है जिससे मनुष्य की मानसिक शक्ति दूषित होती है और मनुष्य हर प्रकार से पतित हो जाता है। इसलिए यह कामशास्त्र अर्थशास्त्र कहलाने का पात्र नहीं है।

आज संसार में काम्य पदार्थों की वृद्धि के कारण साधारण मनुष्यों के मन बिलकुल ही निर्बल हो गये हैं और बिना के ही वे अपने को गरीब मानने लगे हैं। उनके घर

खाने को अन्न है, पीने को दूध है, पहिनने को सादी धोती है और रहने के लिए मकान भी है, परन्तु सोडावाटर, सिगरेट, चाह और शराब के अभाव से वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं। विना कलाबत्तूदार साफ़े के और विना काश्मीरी शाल के वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं। विना ट्रङ्क के, विना काच के गिलास और लैम्प के तथा विना अन्य इसी प्रकार की व्यर्थ चीज़ों के वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं।

ऐसी दशा में विना यह कहे रहा नहीं जाता कि अर्थ के नाम से अनर्थ अर्थात् काम्य पदार्थों को सामने लाकर सीधे सादे भद्र मनुष्यों को ग़रीबी और कंगाली के काल्पनिक और मिथ्या संताप का शिकार बना दिया गया है। जहाँ देखो वहाँ लोग शोभा शृंगार और विलास के बढ़ानेवाले पदार्थों के खरीद ने में अपनी गाढ़ी कमाई नष्ट कर रहे हैं और फिर भी अपने को ग़रीब मान रहे हैं। अतः इस पापपरंपरा के सबसे बड़े गुनहगार वे हैं, जो इन को तैयार करके बाज़ारों में बेचते है और उनसे भी बड़े गुनहगार वे हैं, जो इनको खरीद कर उपयोग में लाते हैं और दूसरे लोगों को ललचाते तथा उनको भी यह ज़हर खरीदने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार इन सबमें सबसे बड़ा अपराधी पड़ोसी ही ठहरता है जो दूसरे पड़ोसी पर इस ज़हर का असर डालता है। इसलिए कहना पड़ता है कि मनुष्यों की चिन्ता का अधिकांश भाग काल्पनिक है। वे अपनी मिथ्या कल्पना और मूर्खता से ही दुःखी हो रहे हैं। पड़ोसी का सा हमारे पास मकान नहीं है, उसका सा ज़ेवर और वस्त्र नहीं हैं, उसकी सी सवारी और नोकर नहीं हैं और उसका सा हमारा साज सामान नहीं है, इस प्रकार की कल्पनापूर्ण असमानता से बढ़ी हुई रुचि के मिथ्या स्वप्न से मनुष्य रातदिन बेताब और दुःखी हो रहे हैं। एक मनुष्य चाहे जितना धन प्राप्त कर ले, पर वह अपने से बड़े पड़ोसी का आदर्श सामने लाकर और उसके साथ बाज़ी मारने की धुन में सब आमदनी बनाव चुनाव में ही खर्च कर देता है और फिर भी अपने को ग़रीब ही समझता रहता है। यही काल्पनिक दुःख है।

इस काल्पनिक दुःख के अतिरिक्त रिवाजों का दुःख और है, जो इससे भी अधिक भयंकर है। कल लड़के का मुण्डन है, यज्ञोपवीत है, ब्याह है अथवा श्राद्ध करना है या गया और जगन्नाथ आदि का ब्रह्मभोजन करना है और इस में भी पड़ोसी से आगे दौड़ लगाना है। ये रिवाजी दुःख हैं, जो काल्पनिक दुःखों के साथ मिलकर मनुष्य को ज़िन्दा ही जला डालते हैं। काल्पनिक और रिवाजी दुःखों के अतिरिक्त आदती दुःख और हैं, जो इन दोनों से भी दुःखदायी हैं। रोज़ हलवा और मलाई खाने की आदत है, क्योंकि अफ़ीम खाते हैं। अगर रात का ज़रा सी शराब न पीऊँ तो सुबह दस्त ही साफ़ न हो। बगैर गाना सुने, विना मेला टेला देखे और विना थियेटरसिनेमा की सैर किये दिल ही नहीं मानता— तबीयत ही नहीं लगती ये आदती दुःख हैं। इन प्रकार से ये सभी दुःख बुरी संगत और देखने दिखाने से उत्पन्न होते हैं। इन देखने और दिखलानेवाले फ़िज़ूलखर्चों में ही बेहिसाब दौलत नष्ट होती है और मन का पतन होता है और धन की चिन्ता, मन की गिरावट और तन की बरबादी से मनुष्य तथा मनुष्यसमाज का नाश हो जाता है—उसका लोक परलोक बिगड़ जाता है—इसलिए जहाँ तक हो इस अनर्थकारी और शृङ्गारमयी काम्य सामग्री को कभी आँख से भी न देखना चाहिये। क्योंकि इस कामुकता और शृंगारप्रियता ने बनाव-

सुनार, शोभा–शृङ्गार और ठाट–बाट के काल्पनिक आडम्बर के द्वारा मनुष्यों में असमानता और ईर्षा–द्वेष उत्पन्न करा दिया है, कामजात यंत्रो ने पशुओं को निकम्मा बनाकर उन्हें क़त्लखानों की ओर बढ़ा दिया है और शृङ्गारोत्पादक–रुई, पाट, चाह और तमाकू आदि की खेती ने जंगलों का नाश कर दिया है और खड़ी, आड़ी तथा उलटी सृष्टि के तीनों विभागों में भयङ्कर क्षोभ उत्पन्न कर दिया है। खड़े शरीरवाले मनुष्यों की निम्न श्रेणी ने अनारकिज्म उत्पन्न कर दिया है और चारों ओर साम्यवादजात युद्ध का भीषण हुंकार सुनाई पड़ता है। इसी तरह आड़े शरीरवाले पशुओं की निम्नश्रेणी–कृमियों–ने भी अनारकिज्म उत्पन्न कर दिया है और हैजा, प्लेग, इन्फ्लुएंजा तथा लाखों बीमारियों के जर्म्स बनकर विलासी और नागरिक मनुष्यों का संहार करना शुरू कर दिया है।

जिस प्रकार इन दोनों विभागों ने विलासी मनुष्यों के संहार का आरंभ कर दिया है, उसी प्रकार वृक्षों ने भी भयङ्कर अनारकिज्म आरंभ कर दिया है। हम रोज़ अखबारों में पढ़ते हैं, कि जंगलों में मनुष्यों और पशुओं को पकड़ पकड़कर खा जानेवाले वृक्षों की वृद्धि हो रही है। अतएव अष्ट लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं कि यदि मनुष्यों ने शीघ्र ही विलासमय जीवन का परित्याग करके सादा, तपस्वी और ब्रह्मचारी जीवन बनाना आरंभ न कर दिया, तो वह दिन दूर नहीं है जब यह समस्त कामी जनसमाज साधारण लोगों और साधारण कृमियों के द्वारा नष्ट हो जायगा, सर्वभक्षी वृक्षों के द्वारा जंगलों में कोई जा न सकेगा और एक बार इस वर्तमान उपद्रवी सृष्टि का संहार हो जायगा। इसलिए समस्त मनुष्यों को उचित है कि वे काम्य पदार्थों का मोह छोड़ कर सादे सीधे आर्यजीवन के द्वारा अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाले वैदिक धर्म को स्वीकार करें और आर्य सभ्यता के अनुसार व्यवहार आरंभ करें, जिससे संसार के प्राणिमात्र का कल्याण हो और समस्त दुःखों का नाश हो जाय।

धर्म की प्रधानता।

धर्मबुद्धि अर्थात् विद्या और ज्ञान का विषय है, इसलिए आर्यसभ्यता के चारों महान् स्तम्भों में इसका स्थान बहुत ऊंचा है। जिस प्रकार मोक्ष मर्यादित अर्थ के अधीन है और मर्यादित अर्थ काम के अधीन है, उसी तरह काम को मर्यादित करके उसको अर्थ और मोक्ष के अनुकूल बनाना धर्म के ही अधीन है। धर्म ही ऐसा है जो निरंकुश काम को मर्यादित करके मोक्ष और अर्थकाम के मध्य में सामञ्जस्य उत्पन्न करा सकता है और धर्म ही ऐसा है, जो अच्छी तरह बतला देता है कि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का उपयोग करने से ही मोक्ष सुलभ हो सकता है और धर्मपूर्वक मोक्ष का अनुष्ठान करने से ही अर्थकाम के ग्रहण करने में सुविधा हो सकती है। अर्थात् धर्मानुसार जीवन बनाने से ही लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त हो सकता है। इसीलिए धर्म का लक्षण करते हुए वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि कहते हैं कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अर्थकामसंबंधी लोकसुख की और मोक्षसंबंधी परलोकसुख की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म का यह लक्षण बहुत ही व्यापक है। परंतु इस सूत्र में आये हुए अभ्युदय शब्द से यह न समझ लेना चाहिए कि इस शब्द का तात्पर्य लोक का वर्तमान नागरिक ऐश्वर्य है। यहाँ अभ्युदय से

तात्पर्य केवल उतने ही अर्थ और काम से है कि जितने के ग्रहण करने से शरीरयात्रा और मनुस्तुष्टि का निर्वाह हो जाय और अर्थकाम में आसक्ति उत्पन्न न हो। मनु भगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

अर्थात् जो लोग अर्थ और काम में आसक्त हैं—फँसे नहीं हैं—यह धर्मज्ञान उन्हीं के लिए कहा गया है और इस धर्मज्ञान की इच्छा करनेवालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। यहाँ स्पष्ट हो गया कि अभ्युदय का तात्पर्य लोकनिर्वाहमात्र ही है और लोकनिर्वाहमात्र ही वेदानुकूल धर्म है। इसीलिए धर्म की मीमांसा करते हुए जैमिनि मुनि मीमांसादर्शन में कहते हैं कि 'चोदना लक्षणो अर्थो धर्मः' अर्थात् वेद की आज्ञा ही धर्म है। आर्यों ने अपने धर्म और सभ्यता को वेद की शिक्षा के अनुसार ही स्थिर किया है, इसलिए धर्मपूर्वक अभ्युदय का यही अभिप्राय है कि संसार से उतना ही अर्थ काम लिया जाय, जिससे मोक्ष को सहायता मिले। यही धर्म का लक्षण है। इसी धर्म के लिए वेदव्यास कहते हैं कि—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नहि कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥ (महाभारत)

अर्थात् मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि अर्थ और काम को धर्मपूर्वक ही ग्रहण करने में कल्याण है, पर इसे कोई नहीं सुनता। कहने का मतलब यह कि धर्म वह नियम है, जिसके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और अर्थ, काम और मोक्ष सरलता से मिल जाते हैं। किंतु धर्म का काम सुनकर प्रायः आधुनिक विद्वान् नाक भौंह चढ़ाने लगते हैं। वे कहते हैं कि इस पुराने खूसट (धर्म) को इस नई रोशनी के ज़माने में कहाँ लिए फिरते हो। देखो समस्त वैज्ञानिक जगत् धर्म की सङ्कीर्णता से निकलकर नवीन विचारों की शीतल छाया में आ रहा है, देखो रूसराज्य से सदैव के लिए धर्म का नाम विदा कर दिया गया है और देखो धार्मिक मनुष्यों की कैसी दुर्दशा हो रही है। ऐसी दशा में फिर उसी धर्म का नाम लेकर सुलझे हुए विचारों में उलझन पैदा करना अच्छा नहीं है। हम कहते हैं कि बिलकुल सत्य है। धर्म ऐसी ही रद्दी चीज़ है, अतएव उसका नाम लेना उचित नहीं है। किंतु स्मरण रखना चाहिये कि हम जिस धर्म का ज़िक्र करना चाहते हैं, यह वह धर्म नहीं है, जिस को नवीन मस्तिष्कोंने निकम्मा समझ कर निकाल बाहर कर दिया है, प्रत्युत यह वह धर्म है जिसके विना प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति के विचार एक क़दम भी आगे नहीं चल सकते। हमें दुःख है कि आजकल सम्प्रदायों और मतमतांतरों ने धर्म शब्दकी बहुत बड़ी बदनामी कर रक्खी है, परंतु वास्तव में धर्म शब्द का अर्थ संप्रदाय अथवा मतमतांतर नहीं है। धर्म शब्द का अर्थ तो वे नियम हैं, जिनके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों सुधर जाएँ। लोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि आवश्यकता के अनुसार संसार से इतना ही अर्थ और काम ग्रहण किया जाय, जिससे अपनी आयु के लिए भोग मिल जाँय और किसी प्राणी की आयु और भोगों में कमी उत्पन्न न हो और परलोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि सृष्टि के

कारणों का ज्ञान उत्पन्न हो जाय, जिससे अर्थ और काम का निर्णय हो सके और सृष्टि के कारणों के भी कारण परमात्मा के साक्षात् से जन्ममरण का चक्कर छूट जाय और मोक्ष मिल जाय । आर्यधर्म का यही तात्पर्य है । क्या कोई भी विज्ञानवेत्ता सृष्टि के कारणों के कार्यकारणभाव की जाँच का ही नाम साइंस नहीं है ? साथ ही क्या कोई भी राजनीतिज्ञ एक क्षण के लिए भी अपने पास से इस विचार को जुदा कर सकता है कि किस प्रकार अर्थ और काम का बटवारा किया जाय और किस प्रकार मनुष्य अपनी रहन सहन बनावे ? यदि साइंस राजनीति के अंदर ये दोनों बातें अपना विशेष स्थान रखती हैं, तो आर्यधर्म का मोक्षप्रकरण जिसमें सृष्टि के कारणों का जानना आवश्यक है और आर्यधर्म का अर्थकाम प्रकरण जिसमें प्राणियों के भोगों का बटवारा करना आवश्यक है, कैसे विज्ञान और राजनीति के विपरीत हो सकता है और कैसे कोई भी समझदार व्यक्ति या समाज इससे उदासीन रह सकता है ? वैदिक धर्म वह धर्म है, जिससे समझदार और विद्वान् मनुष्य उदासीन रह नहीं सकते । यही कारण है कि आर्यों ने वेदों की आज्ञानुसार धर्म को बहुत बड़ा महत्व दिया है और अर्थ, काम और मोक्ष को उसी के अधीन रक्खा है । वेदों में मोक्ष और अर्थ काम का सामञ्जस्य करते हुए उपदेश दिया गया है कि—

वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थात् जो अंधकार—अज्ञान—का नाश करनेवाला प्रकाशस्वरूप सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है, उसी के जानने से मोक्ष मिलता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इस समस्त जगत् में वह हर जगह उपस्थित है इसलिए उसने सबको देकर जो तुम्हारे लिए निश्चित किया है, उसी पर बसर करो—दूसरे के हक़ों को मत लो । यदि सारी आयु इसी प्रकार कर्म करते हुए जीने की इच्छा करोगे तो निश्चय ही मोक्ष हो जायगा, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी सूरत नहीं है । उपर्युक्त मंत्रों में दोनों ही बातें बतला दी गई हैं । पहिले मंत्र में बतला दिया गया है कि संसार के कारणरूप परमात्मा के जानने से ही मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं और दूसरे दो मंत्रों में बतला दिया गया है कि अपनी यात्रामात्र ही के हिसाब से अर्थ काम का ग्रहण करो, इसी से मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं है । अर्थात् अर्थ, काम और मोक्ष को धर्मानुसार ही ग्रहण करने मानवजीवन, मानवसमाज और प्राणिसमूह का कल्याण हो सकता, धर्म के विपरीत आचरण से नहीं ।

इस वैदिक आर्यधर्म के दो विभाग हैं—शुद्धधर्म और आपद्धर्म । शुद्धधर्म की इमारत आश्रमव्यवस्था की नींव पर और आपद्धर्म की इमारत वर्णव्यवस्था की नींव पर स्थिर है । जिस समय आश्रमों की सुव्यवस्था होती है—समस्त समाज आश्रमधर्म का पालन करता है, उस समय सर्वत्र शुद्धधर्म का ही व्यवहार होता है, पर जिस समय लोग आश्रमव्यवस्था

से स्वयं विचलित हो जाते हैं या कोई दूसरा उन आश्रमियों को सताकर विचलित करना चाहता, है, तो उस समय आपद्धर्म का व्यवहार होता है और वर्णव्यवस्था की प्रधानता हो जाती है। आश्रमव्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम परिव्राट् है और वर्णव्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम सम्राट् है। परिव्राट् का काम शुद्ध धर्म की व्यवस्था करना है और सम्राट् का काम आपद्धर्म की व्यवस्था करना है। जब शुद्ध धर्म की स्थिरता होती है तब आश्रमों का प्राबल्य हो जाता है और समस्त वर्ण वर्णोचित कामों के न होने से जन्मना स्थिर होकर प्रभाहीन हो जाते हैं। किन्तु जब आपद्धर्म की व्यवस्था होती है तब समस्त आश्रम प्रभाहीन हो जाते हैं और वर्णों का प्राबल्य हो जाता है तथा समस्त वर्ण अपने अपने गुणकर्मस्वभावानुसार अपने अपने काम में लग जाते हैं। शुद्ध धर्म के समय में समाज को न सैनिकों की आवश्यकता होती है, न व्यापारियों की आवश्यकता होती है और न शूद्रों की आवश्यकता होती है। उस समय इन तीनों वर्णों का एक प्रकार से तिरोभाव हो जाता है और तीनों वर्ण ब्राह्मण्य होकर चारों आश्रमों में विभक्त हो जाते हैं और एक ही प्रकार के धार्मिक मनुष्यों का समाज बन जाता है, जो वेदों के आदेशानुसार धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करता हुआ ब्रह्मप्राप्ति में लगा रहता है। इसी ब्रह्मनिष्ठ समाज को ब्राह्मण कहा गया है। भारतवर्ष में इस प्रकार का एक ज़माना रह चुका है जब शुद्ध धर्म का ही व्यवहार होता था और सब लोग ब्राह्मण ही कहलाते थे। महाभारत में लिखा है कि 'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्' अर्थात् एक समय समस्त संसार में ब्राह्मण ही ब्राह्मण थे। उस समय राजन्य आदि वर्णों का तिरोभाव था। महाभारत में ही लिखा है कि—

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

अर्थात् उस समय न कोई राज्य था, न राजा था और न कोई दण्ड था, न दण्ड पानेवाले पापी ही थे। उस समय तो समस्त प्रजा परस्पर धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी। ऐसे धार्मिक समय में मनुष्य अर्थ, काम में आसक्त नहीं होते और मनु के आदेशानुसार 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' अर्थात् शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि उस समय किसी प्रकार का कलह भी नहीं होता और न राजा आदि की आवश्यकता ही होती है। इसीलिए धर्म को राजों का राजा कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१४ में लिखा है कि 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति' अर्थात् धर्म राजा का भी राजा है, इससे बड़ा और कुछ नहीं है। धर्म की इतनी बड़ाई का कारण यही है कि यह बुद्धि का पोषक और विद्या तथा ज्ञान का बढ़ानेवाला है। बुद्धि का पोषक होने ही से यह पापों को उत्पन्न नहीं होने देता। क्योंकि पाप का सूक्ष्म बीज तो पहिले मन में ही उत्पन्न होता है। इसीलिए मनु महाराज कहते हैं कि 'मनः सत्येन शुद्धयति' अर्थात् मन सत्य से ही शुद्ध होता है। सत्यासत्य का निर्णय करना बुद्धि, विद्या और ज्ञानपोषक धर्म का ही काम है। इसीलिए कहा गया है जहाँ धर्म है, वहाँ पाप हो ही नहीं सकता। किन्तु जहाँ धर्म नहीं है केवल राज्यशासन से ही मनुष्यों का सुधार किया जाता है, वहाँ कुछ भी असर नहीं होता। आज राज्यशासनों ने अपराधों के रोकने के लिए जितने उपाय किये हैं, उन सबसे

बदमाशों ने फ़ायदा ही उठाया है। ख़तरे के समय रेलगाड़ी रोकने के लिए जो जंजीर थी उसको खींचकर डाकुओं ने अनेक बार जंगलों में गाड़ियों खड़ा करके लूटा है। जो पुलीस चोरों के पकड़ने के लिए नियुक्त हुई है वह चोरों के साथ मेल जोल रखने के कारण अनेक बार बदनाम हो चुकी है और अनेक पुलीसमैन जेलखाने भेजे जा चुके हैं। कहाँ तक गिनावें आजकल के जेलखानों में क़ैदियों की भीड़ें, मुक़द्दमेबाज़ों की भीड़ें, रण्डीबाज़ी, शराबख़ोरी, जुआ, चोरी ठगाई की अधिकता बता रही है कि धर्महीन राज्यप्रबन्ध किसी काम का नहीं होता। इसका कारण यही है कि राज्यशासन लोगों के मानसिक विचारों को पवित्र नहीं कर सकता। वह तो शरीर से किये गये स्थूल पापों को ही देखता है और शरीर को ही दण्ड देता है, परन्तु पाप पहिले मन में उत्पन्न होते हैं, इसलिए कहा गया है कि धार्मिक समयों में जिस समय लोगों के मन पवित्र होते हैं, राज्यशासनों अथवा राजन्य आदि वर्णों की आवश्यकता नहीं होती। उस समय तो मोक्ष प्रधान और अर्थ काम गौण रहता है, अतएव आश्रमधर्म का ही ज़ोर रहता है और शुद्ध धर्म का ही सब व्यवहार होता है।

शुद्ध धर्म।

शुद्ध धर्म आश्रमव्यवस्था पर स्थिर है। कहने को तो आश्रम चार हैं, पर उनमें दो ही प्रधान हैं और दो सहायक हैं। लोक और परलोक का साधन करनेवाले गृहस्थाश्रम और संन्यस्ताश्रम दो ही हैं। गृहस्थाश्रम लोक का और संन्यास आश्रम परलोक का साधक है। इन दोनों मजबूत करने के लिए दो सहायक आश्रम बनाये गये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम की सहायता के बिना गृहस्थाश्रम सुचारु रूप से नहीं चल सकता और वानप्रस्थाश्रम के बिना कोई भी मनुष्य गृहस्थी से एकदम संन्यास में नहीं जा सकता। अतएव गृहस्थ और संन्यास को सुदृढ़ करने के लिए ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों की योजना हुई है और नियमपूर्वक आश्रमों के व्यवहार का ही नाम शुद्ध धर्म है। इस शुद्ध धर्म का यह सिद्धांत है कि बिना किसी प्राणी की आयुभोग में धक्का पहुँचाये अपनी आयुभोग को प्राप्त करते हुए स्वयं मोक्ष प्राप्त करना और अन्य प्राणियों के लिए ऐसा मार्ग बना देना कि जिससे सब प्राणी अपने कर्मफलों को भोगकर मनुष्यशरीर के द्वारा मोक्ष को चले जायँ। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए मनुष्य को अपने जीवन के दो लक्ष्य बनाने पड़ते हैं एक तो यह कि जहाँ तक हो सके इस सृष्टि से बहुत ही कम भोग्य पदार्थ लिए जायँ और दूसरा यह कि जहाँ तक हो सके तपस्वीजीवन के साथ साथ सृष्टि के कारणों का—आत्मा परमात्मा का—साक्षात् किया जाय। इन दोनों कर्तव्यों को लक्ष्य बनाने से धर्म का सिद्धान्त सुदृढ़ हो जाता है और धर्म की स्थिरता ही से मोक्ष का मार्ग सबके लिए सुलभ हो जाता है। धर्म की स्थिरता का साधारण साधन अर्थ और काम की इयत्ता का निर्धारण है। हम अर्थ और काम का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि आर्यों ने अर्थ की इयत्ता को पाँच जंजीरों से जकड़ा है। वे कहते हैं कि बिना किसी प्राणी को सताये, बिना स्वयं तकलीफ़ उठाये और बिना स्वाध्याय में विघ्न डाले केवल अपनी कमाई से यात्रामात्र के लिए जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से निर्वाह किया जाय और शेष धन दूसरों का समझा जाय। इसी तरह

काम की इयत्ता निर्धारित करते हुए उन्होंने यह नियम बनाया है कि विना ठाट बाव, शोभा-शृङ्गार के अपनी ही विवाहित स्त्री में केवल एक ही सन्तान उत्पन्न की जाय अधिक नहीं। इन नियमों को स्थिर करने के लिए उन्होंने सादा और तपस्वी–जीवन बनाने की योजना की है। इसके साथ ही धर्म की स्थिरता का दूसरा विशेष साधन उन्होंने ईश्वरपरायणता स्थिर किया है। वे जानते थे कि जब तक ईश्वरप्राप्ति का प्रधान लक्ष्य सामने न हो तब तक सादे और तपस्वी–जीवन का कुछ भी अर्थ नहीं है। क्योंकि विना ईश्वरपरायणता के सादे और तपस्वी–जीवन की स्थिरता हो ही नहीं सकती और विना सादे और तपस्वी–जीवन के शुद्ध धर्म का दर्शन भी नहीं हो सकता।

इसी तरह विना शुद्ध धर्म के संसार की स्वाभाविक स्थिति की स्थिरता भी नहीं हो सकती। शुद्ध धर्म के व्यवहार से ही विलास, शृङ्गार और कामुकता की वृद्धि रुक जाती है, पशुओं और वृक्षों का अल्पायु में मरना बंद हो जाता है और मनुष्यों में साम्यभाव पैदा हो जाता है, जिससे परस्पर का द्वेष, स्पर्धा और कलह शांत हो जाता है। इसी तरह शुद्ध धर्म से अवर्षण, दुष्काल, महामारी और युद्धों का भी अन्त हो जाता है और प्राणिमात्र के लिए मोक्षमार्ग सुलभ हो जाता है। कहने का मतलब यह कि अर्थशुद्धि से पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों में बाधा नहीं पड़ती और कामशुद्धि से मनुष्यों में साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है और दोनों का परिणाम यह होता है कि मनुष्य मोक्षसाधना के योग्य बन जाता है। यही शुद्ध धर्म का रहस्य है। परन्तु इस रहस्य में अर्थ और काम का अन्तर समझना बड़े महत्त्व की बात है।

क्योंकि अर्थशुद्धि बिलकुल ही कामशुद्धि पर अवलम्बित है और विना कामशुद्धि के मोक्षसाधन हो नहीं सकता। इसलिए मोक्षसाधन की कुञ्जी कामशुद्धि ही है। मोक्षसाधन में काम की उपेक्षा और ईश्वरप्राप्ति की अपेक्षा रहती है। मोक्षमार्गी सबसे पहिले जन्ममरण करानेवाले मैथुन को बंद कर देता है और ब्रह्मचर्य–व्रत से पहिले अमोघवीर्यत्व प्राप्त करता है और फिर ऊर्ध्वरेता होकर प्राणायाम और प्रणवजप के द्वारा समाधिस्थ होने का यत्न करता है। इस क्रिया से उस के मस्तिष्क में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है और उसके मन और बुद्धि का निवास ब्रह्मरन्ध्र में होने लगता है और मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होते ही मनोज–काम–वीर्य–प्राणायाम की प्रेरणा से ऊर्ध्वगामी हो जाता है, जो ऋतम्भरा प्रज्ञा में भस्म होने लगता है। परिणाम यह होता है कि रति की इच्छा एकदम मन्द हो जाती है और उसके अधिक संतान नहीं होती है। इस विषय की वैज्ञानिक खोज करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने 'प्राणिशास्त्र के तत्त्व' नामी ग्रंथ में लिखा है कि 'जितनी ही मानसिक शक्ति बढ़ती जायगी, उतनी ही प्रजोत्पादक शक्ति न्यून होती जायगी।' यही बात एक नीतिकार ने भी इस प्रकार कही है कि—

अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते।
अल्पायुर्वा दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः॥

अर्थात् अत्यन्त मेधावान् पुरुष निर्धन या अल्पायु अथवा निस्सन्तान होता ही है, इसमें सन्देह नहीं। निर्धन और निस्सन्तान तो उसे होना ही चाहिये, किंतु अल्पायु का होना अपवाद है। यह उनके लिए है जो विना ब्रह्मचर्य के मेधा से अधिक काम लेते हैं। मेधा का ब्रह्मचर्य से घनिष्ठ संबंध है। क्योंकि मस्तिष्क और शिश्न के तंतुओं का लगाव एक

में है। देखा गया है कि जिस प्रकार हस्तमैथुनादि नियमविरुद्ध शिश्न स्पर्श से मस्तिष्क कमज़ोर हो जाता है और लोग पागल हो जाते हैं, उसी तरह अत्यंत मानसिक और मेधा शक्ति के व्यय से शिश्नेन्द्रिय में भी कमज़ोरी आ जाती है और संतति का उत्पन्न होना एकदम बन्द हो जाता है। परन्तु मेधा और शिश्न की उचित रक्षा से दोनों में सामञ्जस्य रहता है। इसलिए संततिनिरोध का सबसे उत्तम तरीक़ा अमोघवीर्यत्व ही है। इसी तरीक़े से ज्ञान में उन्नति होती है, मनुष्य परमात्मा के ढूंढ निकालने में समर्थ होता है और प्रजा की बाढ़ बन्द होकर थोड़ी रह जाती है। प्रजा की बेहद बाढ़ के रुक जाने से और सबके एकाध संतति के होने से किसी को भी अन्नकष्ट नहीं होता। सब प्राणी अपनी पूर्ण आयु जीते हैं तथा सबके लिए मोक्ष का मार्ग सुलभ हो जाता है।

इसीलिए आर्यों ने गायत्रीमंत्र द्वारा मेधा बढ़ाने का आयोजन बचपन से ही—उपनयन संस्कार से ही—कर दिया है। इस प्रकार से इस मोक्षाभिमुखी काम अवरोध के पश्चात् अर्थ-शुद्धि का काम बहुत ही सरल हो जाता है। सभी लोग शृंगारवर्जित और विलासरहित हो जाते हैं। साधारण भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी के अतिरिक्त किसी को व्यर्थ के आडम्बर की आवश्यकता नहीं रहती। तभी चारों आश्रम अपने अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर सकते हैं। आर्यों ने इस प्रकार की शिक्षा और सभ्यता के प्रचार के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—आश्रम के पचत्तर वर्ष पूर्ण तपस्वी, अखण्ड ब्रह्मचारी और मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए नियत किये हैं और उनकी जीविका को दूसरों के आधीन रखकर गायत्रीमंत्र के द्वारा ऋतंभरा प्रज्ञा के बढ़ाने और मोक्ष प्राप्त करने का दरवाजा खोल दिया है और इन्हीं तपस्वी-आश्रमों के बीच में गृहस्थाश्रम को भी लाकर जकड़ दिया है, जिससे ब्रह्मचर्यआश्रम से आया हुआ और वानप्रस्थ तथा संन्यास में जानेवाला गृहस्थ कभी विलासी हो ही नहीं सकता।

चारों आश्रमों की इस जीवनयात्रा से न किसी प्राणी को कष्ट होता है, न संतति बढ़ती है और न सृष्टि में किसी प्रकार की असमानता ही होती है। परन्तु इसी में कामुकता का सञ्चार होते ही—विलास और शृंगार की वृद्धि होते ही—यह सारा कार्यक्रम बदल जाता है और मनुष्य पतित होकर समस्त प्राणियों के दुःख का कारण बन जाता है। इसलिए अर्थ में काम के प्रवेश को बड़ी सावधानी से रोकना चाहिए। अर्थ और काम का अंतर समझने के लिए इतना ही इशारह काफ़ी है कि जितने पदार्थ शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हैं, वे अर्थ हैं और जो केवल मन प्रसन्न करने के लिए हैं, वे काम हैं। उदाहरण के लिए समझना चाहिए कि सर्दी में बिना रज़ाई के शरीररक्षा नहीं हो सकती, परन्तु रज़ाई में लाल, पीली मग़ज़ी बिलकुल ही व्यर्थ है, वह केवल मनोरञ्जन के ही लिए है। इसी तरह कालर, नेकटाई और कोट पतलून अथवा अङ्गा और अबा आदि की बात भी है। ये फ़ैशन से संबंध रखनेवाले सभी पदार्थ केवल शोभाशृंगार के ही लिए हैं—मनोरंजन के लिए हैं, वास्तविक आवश्यकता के लिए नहीं। इन पदार्थों के बिना मनुष्य समस्त आयु सुखी रह सकता है, पर रज़ाई अथवा कंमल के बिना सर्दी से शरीररक्षा नहीं कर सकता। इसलिए सादी रज़ाई या सादी कमली अर्थ है और लखनऊ की मग़ज़ीदार रज़ाई या ऊलन मिल के लाल पीले कंमल काम है। इसी कसौटी से अर्थ और काम का अंतर सर्वत्र समझ लेना चाहिये। आर्यों ने इस सिद्धांत को बहुत ही अच्छी तरह समझा था और कामनाओं को ब्रह्मचर्य-

आश्रम से ही हटाने का उद्योग किया था। मनु भगवान् लिखते हैं कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ (मनु० २।९४-९५)

अर्थात् काम की इच्छा काम भोग से शान्त नहीं होती, प्रत्युत वह उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार घृत पाकर अग्नि बढ़ती है, इसलिए उसका त्याग ही उत्तम है। यह ब्रह्मचारियों के लिए शिक्षा दी गई है। बचपन से इस प्रकार की शिक्षा इसीलिए दी गई है कि गृहस्थाश्रम में पहुँचकर भी मनुष्य कामुक न हो। गृहस्थ के पूर्व ब्रह्मचर्य-आश्रमी को जिन कारणों से काम्य विषयों से दूर रहने के लिए कहा गया है, उन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर गृहस्थाश्रम के पश्चात्वाले वानप्रस्थादि आश्रमों से भी काम्य विषयों के हटाने का विधान किया गया है। गृहस्थ के पूर्व और पश्चात् काम्य भावों के विरुद्ध घनघोर तपश्चर्या का जीवन विद्यमान है। इससे सहज ही अनुमान कर लेना चाहिये कि गृहस्थ को भी काम्य भावों से दूर ही रहना चाहिये। गृहस्थ को काम के नाम से केवल एक ही संतति उत्पन्न करने की आज्ञा है।

इसी एक संतान के लिए उसे दाम्पत्य स्नेह में बँधना पड़ता है। यह दाम्पत्यस्नेह और एक दो संतान की उत्पत्ति कामुकता की परिचायक नहीं है, प्रत्युत सृष्टि की आज्ञा का विनयपूर्वक पालन करना है। क्योंकि सृष्टि ने स्त्रीपुरुषों को समान संख्या में उत्पन्न करके यह सूचित कर दिया है कि जिस प्रकार प्राणीमात्र में काम का समान बटवारा है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी समान ही बटवारा होना चाहिये। जुलाई सन् १९०७ की प्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका में लिखा है कि 'एक विद्वान् ने प्राकृतिक उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया है कि प्रत्येक पुरुष को एक ही विवाह करने—एक ही स्त्री रखने—की ईश्वराज्ञा है। उसने सारे संसार की नरनारियों की संख्या पर से यह हिसाब लगाया है कि जगत् में जितने पुरुष हैं, प्रायः उतनी ही स्त्रियाँ भी हैं। मर्द और औरतों की संख्या प्रायः बराबर है, इस हिसाब में लड़के और लड़कियाँ भी बराबर ही हैं। योरोप और अमरीका आदि जितने सफ़ेद चमड़े के आदमी हैं, उनमें प्रति १०० आदमियों के मुक़ाबिले में १०१ स्त्रियाँ हैं अमरीका के हबशियों में भी नर और नारियों की यही संख्या है। जापानियों मे प्रति १०२ आदमियों के मुक़ाबिले में १०० स्त्रियाँ हैं। भारतवर्ष में कुछ विशेषता है वह विशेषता ऐसी है, जो ध्यान में रखने लायक़ है। यहाँ १०४ आदमियों और लड़कों के मुक़ाबिले में १०० स्त्रियाँ और लड़कियाँ है। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ कम हैं। अतएव एक पुरुष को एक से अधिक स्त्री से संबंध करना अन्याय है, ईश्वर की आज्ञा उलङ्घन है और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है' इतना ही नहीं किन्तु विद्वानों ने पता लगाया है कि अन्य प्राणियों में भी नर और मादा की संख्या समान ही है। वे कहते हैं कि सृष्टि इस समानता को बड़े यत्न से पूरा करती है।

यदि किसी योनि की नर या मादा की कुछ संख्या नष्ट कर दी जाय, तो शीघ्र ही वह संख्या पूरी हो जायगी। डॉक्टर ट्राल कहते हैं कि 'सृष्टि का यही एक नियम है कि यदि

स्वाभाविक समानता में किसी प्रकार का अंतर डाला जाता है, तो शीघ्र ही उतनी संख्या उत्पन्न होकर वह अंतर पूरा हो जाता है। पशुपक्षियों में ही नहीं प्रत्युत मनुष्यों में भी यह नियम काम कर रहा है। प्रायः देखा गया है कि युद्धों में पुरुष मारे जाते हैं, अतः युद्ध के पश्चात् प्रायः लड़के ही अधिक उत्पन्न होते हैं और जब शान्ति हो जाती है तब लड़कियों की वृद्धि शुरू होती है'। इन नियमों से पाया जाता है कि नरनारी का जोड़ा क़ायम रखना सृष्टि को मंजूर है। इसलिए गृहस्थ को उचित है कि वह एक स्त्री से विवाह करके अपने (स्त्रीपुरुष के) दो प्रतिनिधि अवश्य उत्पन्न करे। इतने तक वह धार्मिक ही रहेगा—कामी नहीं कहला सकता। जिस प्रकार बिना मग़ज़ी की रज़ाई अर्थ है अनर्थ नहीं उसी तरह एक दो संतान का उत्पन्न करना भी कामुकता का परिचायक नहीं है। यही अर्थ काम का धार्मिक रहस्य है। इसलिए एक धार्मिक मनुष्य को चाहिये कि वह सृष्टि के स्वाभाविक बटवारे को ध्यान में रखकर और एक पुरुष के लिए स्त्री का काम संबंधी समान नियम देखकर जिस प्रकार समानता से एक स्त्री एक पुरुष को या एक पुरुष एक स्त्री को ले सकता है, उसी प्रकार भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी से संबंध रखनेवाला समस्त अर्थ भी समस्त मनुष्यों को ध्यान में रखकर समानता ही से ले सकता है। जिस प्रकार स्त्रीपुरुष का कामसंबंधी असमान बटवारा समाज में विप्लव उत्पन्न करता है। इसीलिए उसी प्रकार अर्थसंबंधी असमान बटवारा भी समाज में क्षोभ उत्पन्न करता है। इसीलिए आर्यों ने एक स्त्री के लिए ही पुरुष का और एक पुरुष के लिए एक ही स्त्री का नियम बनाया है तथा समस्त मनुष्यों को समानता से अर्थ के उपयोग करने की आज्ञा दी है। वेद में लिखा है कि दो धुरों के बीच में दबा हुआ घोड़ा जिस प्रकार चिल्लाता है उसी प्रकार दो स्त्रीवाले पुरुष की भी दुर्गति होती है ×, इसलिए एक ही स्त्री करना चाहिये और इसी तरह सबको समानता से अर्थ का भी उपयोग करना चाहिये। सबको समान अर्थ के लेने की आज्ञा देते हुए वेद में परमात्मा उपदेश करते हैं कि—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ (अथर्व० ३।३०।६)
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
येषा श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः । (यजु० १९।४६)
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ (अथर्व० ३।३०।१)
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋ० १०।१९१।४)
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। (ऋ० १०।१९१।३)

अर्थात् तुम्हारे दुग्धादि पेय पदार्थ समान हों और अन्न का विभाग साथ साथ हो। जिस प्रकार रथनाभि के चारों ओर आरे एक समान होते हैं, उसी प्रकार तुम सब लोग एक

× उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः। (ऋग्वेद)

समान होकर यज्ञ करो। समस्त जीवों में जो मन से साम्य भाववाले हैं, वही मुझको प्रिय हैं और उन्हीं की सम्पत्ति सैकड़ों वर्ष तक क़ायम रहती है। इसलिए मैं तुम सबको समान हृदय और समान मनवाला करके द्वेषरहित करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्यार करो, जैसे गौ अपने सद्यःजात बछड़े से प्यार करती है। तुम अपने विचार, हृदय और मन को एक समान करो तथा अपनी गुप्त सलाहों, सभाओं और हार्दिक विचारों को एक समान करने का यत्न करो। ये अर्थसंबंधी वेदों के उपदेश हैं। इनमें समान अर्थ ग्रहण का उपदेश है। इन्हीं वैदिक उपदेशों को ध्यान में रखकर मनु भगवान् कहते हैं कि—

वयसः कर्मणोऽस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह॥ (मनु० ४।१८)

अर्थात् गृहस्थ अपनी उम्र, कर्म, वेद और समस्त मनुष्यों के अनुरूप ही अपने वेष, वाणी और बुद्धि से आचरण करता हुआ संसार में रहे। यहाँ सबके समान ही अपना वैदिक वेष रखने के लिए ज़ोर दिया गया है। इसका कारण यही है कि प्रायः वेषभूषा ही असमानता को प्रकट करती है—शोभा शृंगार और ठाट बाट ही से असमानता का आरम्भ होता है—इसलिए उसकी रोक की गई है। आर्यसभ्यता में इस साम्यभाव की बड़ी ही महिमा है। उनकी सभ्यता में परमेश्वर समदर्शी कहलाता है। इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है कि '**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**' अर्थात् वही पण्डित है—बुद्धिमान् है जो चांडाल और कुत्ते के साथ भी साम्यभाव से व्यवहार करता है। आर्यसभ्यता का यही आदर्श है। किंतु यह न समझ लेना चाहिये कि यह साम्यवाद योरोप के रूस आदि देशों का सा साम्यवाद है रूस का साम्यवाद में और वैदिक साम्यवाद में ज़मीन आसमान का अंतर है। रूस का साम्यवाद शृंगारिक साम्यवाद है। वह सबमें आमोद प्रमोद और विलास की समता का प्रचार करता है, त्याग और तपस्वीजीवन का नहीं। यही कारण है कि वह भी मशीनों के द्वारा शृंगार बढ़ानेवाले पदार्थों को तैयार करके संसार का धन लेना चाहता है और बदले में विलास बढ़ानेवाले पदार्थ देना चाहता है। उसकी स्कीम में पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों पर विचार करने के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है और न कर्मफलों तथा कर्मफलों के दाता परमेश्वर के ही लिए कोई स्थान है।

इसलिए वह साम्यवाद विलासियों का ही है, उससे संसार की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकती। क्योंकि संसार में इतना शृंगारिक सामान ही नहीं है, जिससे संसार के सभी मनुष्य समानता से विलास और शृंगार का उपभोग कर सकें। सोना, चाँदी, हीरा, मोती, रेशम, हाथी दाँत और सवारी तथा फ़रनीचर आदि जितने विलास से संबंध रखनेवाले पदार्थ हैं, वे बहुत ही थोड़े हैं। उनसे बहुत ही थोड़े लोगों का शृंगार बढ़ाया जा सकता है। एक एक तोले वजन के हीरा और मोती संसार में कितने हैं? क्या वे इतने हैं कि उनकी एक एक माला संसार के समस्त मनुष्यों को दी जा सके और क्या संसार में इतना सोना है कि सब मनुष्यों को सोने के बर्तन एक समान बनवाकर दिये जा सकें? नहीं। संसार में ऐसे अमूल्य पदार्थ बहुत ही थोड़े हैं। इसलिए रूस आदि योरोपीय देशों के शृंगारिक साम्यवाद का सिद्धांत बिलकुल ही ग़लत है। परंतु आर्यों के वैदिक साम्यवाद की इमारत त्यागवाद की पवित्र बुनियाद पर रक्खी गई है और उसमें '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' और

'यात्रामात्र प्रसिध्यर्थ' का सिद्धांत काम कर रहा है, जिसका मतलब यही है कि जो कुछ दूसरे प्राणियों के भोग से बच जाय, उसमें से केवल अपनी जीवनयात्रा के निर्वाहमात्र के लिए ही लेना चाहिए अधिक नहीं। आर्यों के इस त्यागवाद में समस्त मनुष्य, समस्त पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव की पूर्ण आयु और पूर्ण भोगों की सुविधा का मूल मंत्र काम कर रहा है और तपस्वीजीवन के साथ साथ स्वयं पूर्ण आयु जीकर मोक्ष प्राप्त करने तथा अन्य प्राणियों के लिए भी मोक्षप्राप्ति का मार्ग विस्तृत करने का महान् ध्येय विद्यमान है, इसलिए वैदिक साम्यवाद के साथ योरोपियन साम्यवाद की तुलना नहीं हो सकती। शुद्ध त्यागवादी आर्यों ने अच्छी तरह समझ लिया है कि मनुष्य की तृप्ति शृंगार, विलास और कामुकता से नहीं हो सकती। यही कारण है कि आर्यसभ्यता के प्रचारकों ने बड़े ज़ोर से कहा है कि—

यः पृथिव्यां व्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत्सर्वं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥

अर्थात् इस पृथिवी का समस्त अन्न, सोना और स्त्रियाँ एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है, इसलिए इन सबका त्याग ही उत्तम है। ऐसी दशा में रूस का संग्रहवाद आर्यों के त्यागवाद के साथ कुछ भी समता नहीं कर सकता। आर्यों ने अपने इस त्यागवाद को ब्रह्मचर्य-आश्रम से आरंभ किया है और वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रम में ख़तम किया है। आर्यों की आयु का $\frac{3}{4}$ भाग त्यागी, तपस्वी और ईश्वरपरायण है। बीच की आयु का $\frac{1}{4}$ भाग जो आदि-अंत में तपस्वीजीवन से जकड़ा हुआ गृहस्थाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी उक्त समाज के $\frac{3}{4}$ भाग को अन्न पहुँचाने में ही लगाया गया है। इसलिए उसके पास भी विलासी जीवन बनाने के लिए न तो कुछ बच ही सकता है और न उसको इस पाखण्ड की फ़ुरसत ही है। इसके अतिरिक्त वह भी पच्चीस, छत्तीस अथवा अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत करके आया है और शीघ्र ही वनस्थ होनेवाला है, इसलिए भी वह तपस्वीजीवन के अभ्यास को छोड़ नहीं सकता। वह किसी प्रकार यात्रामात्र से निर्वाह करके और एक दो संतान को उत्पन्न करके मोक्षसाधन के लिए अरण्यवासी होनेवाला है, इसलिए आर्यों का गृहस्थाश्रम भी तपस्वियों का ही आश्रम है। अर्थात् सारा आर्यसमाज ही त्यागी और तपस्वियों का समाज है। आर्यों के ऐसे त्यागी और तपस्वी आदर्श गृहस्थों का वर्णन आर्यों के इतिहास में बहुतायत से पाया जाता है। समस्त ऋषि मुनि गृहस्थ ही थे। उनके भी स्त्री और बच्चे थे। किंतु उनकी रहनसहन बिलकुल ही सादी और तपस्वियों की सी थी। अनसूया और शकुन्तला आदि ऋषिपत्नियाँ और ऋषिकन्याएँ अरण्यवासिनी ही थीं रामचंद्र और पाण्डवों ने गृहस्थाश्रम के साथ ही चौदह चौदह वर्ष का वनवास आसानी से काट दिया था। वाल्मीकि के आश्रम में भी सीता के पहुँच जाने पर और लवकुश के उत्पन्न हो जाने पर ख़ासा कुटुंब एकत्रित हो गया था और पूरा गृहस्थ का नमूना था। किंतु उनकी संपत्ति की क्या दशा थी, यह उस वर्णन से अच्छी प्रकार प्रकट होता है, जो लवकुश के पुरस्कार से संबंध रखता है। एक बार लवकुश ने ऋषियों को रामायण का गाना सुनाया। गाना सुनकर समस्त ऋषिमण्डली अत्यन्त प्रसन्न हुई और लवकुश को अनेकों पदार्थ उपहार में दिए। उपहारसामग्री का वर्णन करते हुए वाल्मीकि मुनि कहते हैं कि—

संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम्।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महायशाः।
अन्यः कृष्णाजिनमादाद्यज्ञसूत्रं तथापरः ॥
कश्चित्कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः।
बृसीमन्यस्तदा प्रादात्कौपीनमपरो मुनिः।
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ॥
कषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः ॥
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित्काष्ठभारं तथापरः ॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित्तदावदन्।
आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः ॥ (वाल्मीकि रामायण—बालकाण्ड)

अर्थात् लवकुश के काव्यसंगीत से मुग्ध होकर किसी ऋषि ने वल्कल, किसी ने कृष्णाजिन (मृगचर्म), किसी ने कमण्डलु, किसी ने मौंजी, किसी ने कुशासन, किसी ने कौपीन किसी ने कुठार, किसी ने काषाय वस्त्र, किसी ने जटा बाँधने का चीर, किसी ने काष्ठ बांधने की रस्सी, किसी ने यज्ञ का भांड, किसी ने समिधाभार और किसी ने चौकी दी और किसी ने आयुष्मान् हो, ऐसा आशीर्वाद ही दिया। इन वर्णित सामग्री से उस समय के जीवन का और उस समय की गृहस्थी का पता अच्छी प्रकार लग जाता है। ये ऋषि भी गृहस्थ थे। इनके भी ऋषिपत्नियाँ थीं, बालबच्चे थे और शादी विवाह होते थे। ये मूर्ख न थे, किन्तु इतने विद्याप्रेमी और ज्ञानपटु थे कि आज संसार उनकी जूठन खाकर विद्वान् होता है। पर उनकी गृहस्थी का यह कैसा सौम्य चित्र है ! इससे सहज ही समझ में आ जाता है कि आर्य गृहस्थ भी कितनी सादी और सहज गृहस्थी के साथ रहते थे और आर्यसभ्यता को कितना अल्प संग्रह की ओर अग्रसर किये हुए थे। यही त्यागवाद है। इस प्रकार के त्यागवाद की समानता से संसार से तीन बातें उठ जाती हैं। सबसे पहिले तो चोरी का अभाव हो जाता है। जहाँ सभी लोग सादे तपस्वी और समान अर्थवाले होते है वहाँ अधिक पदार्थों के संग्रह करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। चोरी तो तभी होती है जब किसी के पास अधिक और किसी के पास कम पदार्थ होते हैं। किन्तु जहाँ समानता है—जहाँ मोह उत्पन्न करानेवाला कोई पदार्थ ही नहीं है—वहाँ कोई किसी का पदार्थ ले ही नहीं सकता। दूसरी बात जो उठ जाती है वह व्यभिचार है। जहाँ लोग तपस्वी और समान अर्थवाले होते हैं, वहाँ यह बात नहीं होती कि किसी के तो धन के कारण दो दो विवाह हो जायँ और किसी का विवाह ही न हो। उस समय तो सबको स्त्री प्राप्त हो जाती है और व्यभिचार में कमी हो जाती है। साथ ही जब शृङ्गार का एकदम बहिष्कार हो जाता है तब शोभा शृङ्गार के कारण जो व्यभिचार होता है, वह भी बन्द हो जाता है। इन दो बुराइयों के बन्द होते ही तीसरी बुराई लड़ाई, झगड़ा, मारपीट, पंचायत और अदालत आदि कलह के समस्त अङ्ग एकदम उठ जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर आदि मानसिक विकार भी दूर हो जाते हैं। क्योंकि संसार में अर्थ काम—धन और स्त्री—का

ही तो झगड़ा है । जब सबको समान सम्पत्ति और समान स्त्री प्राप्त है, तो वैमनस्य किस बात का । इसीलिए आर्यसभ्यता कहती है कि—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थात् जो पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को काठ के समान और समस्त प्राणियों अपने समान देखता है वही देखता है । यही कारण है, कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में अत्यन्त सादगी, तपस्या और ईश्वरपरायणता को स्थान दिया है । अतएव वैदिक ऋषिगृहस्थों का उपर्युक्त सामान देखकर यह न समझ लेना चाहिये कि यह संन्यासियों की गृहस्थी है । हमने गृहस्थों को भी फलाहारी, वल्कलधारी और मिट्टी तथा अलाबुपात्र से जो निर्वाह करना लिखा है, वह उपयुक्त ही है । आज भी लाखों जंगलनिवासी गृहस्थ इसी प्रकार की रहन सहन से रहते हैं । उनके पास से यदि एक स्त्री को निकाल दें, तो उनका समस्त जीवन संन्यासियों का ही हो जाय । यही कारण है कि उनके यहाँ परस्पर चोरी, व्यभिचार और लड़ाई झगड़ा बहुत ही कम होता है । आज यदि उनमें अहिंसा, सृष्टिज्ञान और ईश्वरपरायणता होती तो हम उन्हें ऋषि ही कहते । किन्तु ऋषित्व प्राप्त करने के लिए आर्यसभ्यता का अनुकरण करना पड़ता है—ब्रह्मचर्य आश्रम से ही गायत्री, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, सृष्टि के कारणों का ज्ञान और साम्यवाद का अभ्यास करना पड़ता है—इसलिए जंगली सभ्यता और आर्यसभ्यता में अन्तर हो जाता है ।

इसका कारण यही है कि आर्यसभ्यता विचारपूर्वक स्थिर की गई है और जंगली सभ्यता अज्ञान के कारण आप ही आप बन गई है । आर्यसभ्यता को बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी के मन में बैठालने का आयोजन किया गया है, इसीलिए ब्रह्मचारी गायत्रीमन्त्र से ऋतम्भरा प्रज्ञा के बढ़ानेवाली वेदविद्या को पढ़ता है, ब्रह्मचर्यसे उत्पन्न वीर्य को प्राणायामके द्वारा ऊर्ध्वगामी करता है और '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' के नित्य पाठ से सृष्टि के महान् कारण परमेश्वर को पहिचानता है । यह मन्त्र उसे नित्य शिक्षा देता है कि परमेश्वर ने यह सृष्टि उसी तरह बनाया है जैसे पूर्वकल्प में बनाया था । इन वैदिक क्रियाओं से वह सादा, तपस्वी और ईश्वरपरायण बनता है तथा सदैव सहपाठियों के साथ समान भाव से रहने के कारण उस में त्यागभाव की समानता का भाव पुष्ट हो जाता है अतएव आर्यों का साम्यवाद अपनी निराली छटा के साथ सामने आता है; संन्यासीपन, जंगलीपन या बोलशेविकपन के साथ नहीं । आर्यों के प्राचीन वैदिक साम्यवाद की पुनः प्रतिष्ठार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचारियों के लिए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि 'सबको तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दिए जाएँ, चाहे वह राजकुमार हों, चाहे राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये ।' यहाँ साम्यवाद के साथ तपस्वीजीवन की बात कही गई है जो बड़े ही मार्के की है । इसी प्रकार साम्यवाद का ज़िक्र करते हुए गीतारहस्य पृ० ४०४ और ३९८ में लोकमान्य तिलक महाराज कहते हैं कि 'साम्यबुद्धि को बढ़ाते रहने का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करते रहना चाहिये और इस क्रम से संसार भर के मनुष्यों की बुद्धि जब पूर्ण साम्य अवस्था में पहुँच जावेगी तभी सत्ययुग की प्राप्ति होगी तथा मनुष्यजाति का परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्ण अवस्था सबको प्राप्त हो जावेगी । कार्य अकार्यशास्त्र की

प्रवृत्ति भी इसीलिए हुई है और कारण उसकी इमारत को भी साम्यबुद्धि की ही नींव पर खड़ा करना चाहिये।

अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिः आशीःकर्मविवर्जिता॥

आत्मज्ञानी, अहिंसक, एकान्त धर्म के ज्ञानी और प्राणिमात्र की भलाई करनेवाले पुरुषों से यदि यह जगत् भर जावे, तो आशीःकर्म अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थबुद्धि से किये हुए सारे कर्म इस जगत् से दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावे (महा० शा० ३४८, ६३) क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी पुरुषों के ज्ञानवान् रहने से कोई किसी का नुकसान तो करेगा ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सबके कल्याण पर ध्यान देकर तदनुसार ही शुद्ध अन्तःकरण और निष्कामबुद्धि से अपना अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि बहुत पुराने समय में समाज की ऐसी ही स्थिति थी और वह फिर भी कभी न कभी प्राप्त होगी ही। इस वर्णन में लोकमान्य ने स्पष्ट रूप से बतला दिया है कि सब प्राणियों के सुख का ध्यान रखकर जो साम्यवाद होगा, वही सतयुग लाभवाला होगा। इसी प्रकार महात्मा गांधी ता. २८ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में विद्यार्थियों के एक आर्थिक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'इस देश और सारे संसार की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिये कि एक भी प्राणी अन्नवस्त्र के अभाव से पीड़ित न हो अर्थात् सबको अपने निर्वाहयोग्य उद्यम मिल जाय। सारे संसार के लिए अगर हम ऐसी इच्छा करते हों तो अन्न वस्त्र पैदा करनेवाले साधन प्रत्येक मनुष्य के पास रहना चाहिये। किसी को भी दूसरे की कमाई से सम्पत्तिवान् होने का लोभ बिलकुल न होना चाहिये। जिस प्रकार हवा और पानी पर सबका समान स्वत्व है अथवा होना चाहिये, उसी प्रकार अन्नवस्त्र पर भी होना चाहिये। इसका इजारा किसी एक देश, जाति अथवा गद्दी पर होना न्याय नहीं, अन्याय है। इस महान् सिद्धान्त का अमल और बहुधा विचार भी नहीं किया जाता। इसी से देश और संसार के अन्य देशों में भूख का दुःख बना रहता है।'

ये आर्यसभ्यता के साम्यवाद के नमूने। इन सब नमूनों में समस्त संसार के मनुष्यों और प्राणियों को ध्यान में रखकर साम्यवाद की चरचा की गई है और सबमें सादगी तथा तपस्वी जीवन की झलक विद्यमान है। इसीलिए हम कहते हैं कि योरप के साम्यवाद में और आर्यों के साम्यवाद में महान् अंतर है। आर्यों का साम्यवाद अर्थात् त्यागवाद आस्तिकता से उत्पन्न होकर और सब प्राणियों को सुखी बनाकर परमात्मा का दर्शन कराता है और योरप का साम्यवाद घृणित और अपवित्र कामुकता को बढ़ाकर मनुष्यों को पतित करता है। आर्यों का तपस्वी और त्यागी जीवन समस्त मनुष्यों, समस्त पशुओं और समस्त वृक्षों के मूलकारणों पर गंभीरता से विचार करके और उस विचार को धार्मिक तुला से तोलकर सबको सबसे लाभ पहुँचाते हुए सबको मोक्षाभिमुखी बनाता है और समस्त प्राणिसमूह को इस प्राकृतिक तङ्ग पृथ्वी से हटा कर आकाशस्वरूप अनंत परमात्मा की आनंदमयी गोद में स्वतंत्रता से विचरण करने की प्रेरणा करता है, पर योरप के साम्यवादी इन सब के मूल परमात्मा ही को हटा

रहे हैं। इसलिए आर्यों के शुद्ध धर्म की तुलना योरप की किसी भी नीति के साथ नहीं हो सकती।

आर्यों में जब तक इस शुद्ध धर्म का आचार और प्रचार रहा तब तक उनमें हर प्रकार से शान्ति रही, किन्तु जैसा कि हम तृतीय खण्ड में लिख आये हैं कि कारणवश आर्यों में जब प्रमाद बढ़ा और वे शुद्ध वैदिक धर्म की जड़ ब्रह्मचर्य आश्रम के कठिन तप से जी चुराने लगे तब यह फल हुआ कि उनका एक बहुत बड़ा दल व्रात्य करके पृथक् कर दिया गया, जो देशदेशांतरों में फैल गया और अपना रूप, भाषा और आचार व्यवहार आर्यों के विपरीत बनाकर यहाँ फिर आया और बस गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके संसर्ग से बचे हुए शुद्ध आर्य भी विलासी हो गये और अपने विलासोत्पादक पदार्थों को बेचने के लिए भिन्न भिन्न देशों में भेजने लगे। एक दीर्घकाल तक उनका यह विलासप्रचार जारी रहा, पर कुछ दिन से पृथ्वी के समस्त देशों ने उनकी नक़ल करना आरंभ कर दी है और स्पर्धा में उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। इस स्पर्धावृद्धि का जो कुछ दुःखद परिणाम हुआ है, वह आज सबके सामने है।

आर्यों का यह धार्मिक इतिहास बतलाता है कि चाहे जैसा बंदोबस्त किया जाय, चाहे जितना धर्म का नियंत्रण हो और चाहे जितना लोग साधु, तपस्वी तथा ईश्वरपरायण रहें, पर कुछ दिन या बहुत दिन के बाद समाज में ऐसे लोग भी अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं, जो धार्मिक बंधनों को तोड़ देते हैं और पापाचरण में रत हो जाते हैं। इसका कारण जीवों की स्वतंत्रता है। यद्यपि जीव कर्मफलों के भोगने में परतंत्र हैं, पर कर्म करने में स्वतंत्र भी हैं। इसीलिए उनकी इस स्वतंत्र कर्मण्यता के कारण प्रबंध करनेवालों को हार जाना पड़ता है। मनुष्यों की इस स्वतंत्र कर्मपरायणता से बड़े बड़े धर्मगुरुओं को बीसों बार हारना पड़ा है। यहाँ तक कि मनुष्यों को कर्मानुसार दण्ड देकर संसार को आदर्श रूप रखने में परमात्मा को भी हारना पड़ा है। परमात्मा ने असंख्यों बार मनुष्यों को उनके कुकर्मों के कारण बड़ी बड़ी पापयोनियों में डालकर शिक्षा दी है, पर आज तक मनुष्यों ने मनमाना पापकर्म करना बंद नहीं किया। अर्थात् मनुष्यों ने मनुष्यों और अन्य प्राणियों का सताना बंद नहीं किया। आज भी दुराचारी और अत्याचारी मनुष्य मनुष्यों और अन्य प्राणियों को इतना कष्ट देते हैं कि कभी कभी उस कष्ट, पीड़ा और यातना से लाखों प्राणियों को अकाल में ही मरना पड़ता है। इसलिए अत्याचारियों के द्वारा पहुँचाये जानेवाले कष्ट और मृत्यु से बचने के लिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में शुद्ध धर्म के साथ साथ आपद्धर्म को भी स्थान दिया है और आपद्धर्म के समय शुद्ध धर्म के नियमों के सुधारने अथवा बिलकुल ही उलट देने की भी व्यवस्था की है।

आपद्धर्म

इस सृष्टि में जीव असंख्य हैं। शायद वे अत्यंत छोटे छोटे पार्थिवकणों से भी अधिक हैं। इन्हीं जीवों में मनुष्य भी हैं। मनुष्य की जैसी शक्ति है, वह सब पर विदित ही है, इसलिए यह कहने में ज़रा भी संदेह नहीं है कि जीवों की भी संसार में एक विशेष शक्ति है। ये जीव मनुष्यशरीरों में आकर जब अपनी सामूहिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, तो वह

शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि ईश्वरद्वारा निर्मित बड़े बड़े प्राकृतिक नियमों में भी विप्लव उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि सृष्टिनियमों में कहीं न कहीं थोड़ा बहुत अपवाद भी बना रहता है और यह जानना कठिन हो जाता है कि मनुष्यों की सामुदायिक शक्ति का कब कहाँ प्रयोग हुआ और उससे कब कहाँ कौनसा अपवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि यह अज्ञान है तथापि यह निश्चित है कि मनुष्यों के नियमविरुद्ध कर्मजन्य अपवादों के कारण नाना प्रकार के अस्वाभाविक उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं और वे शुद्ध धर्म के द्वारा रोके नहीं जा सकते। प्रत्युत जिस प्रकार वे अनियमित रीति से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनका प्रतिकार भी अनियमित सिद्धान्तों के ही द्वारा होता है। अनियमित सिद्धान्तों का ही नाम आपद्धर्म है।

आपद्धर्म और अपवाद का साथ है। जहाँ अपवाद है वहीं आपद्धर्म है। इसका कारण यही है कि जब अपवाद से अनियमितता उत्पन्न होती है और उस अनियमितता के कारण दुःख और मृत्यु का भय अधिक उत्पन्न होता है सामने आती हुई भयङ्कर हिंसा दिखलाई पड़ती है तब अनियमित आपद्धर्म ही के द्वारा उस आनेवाली भयङ्कर हिंसा का मूल नष्ट किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो अपवादों की वृध्दि हो जाय और समस्त संसार अनियमित दुःखों के कारण समूल नष्ट हो जाय। परन्तु आर्यसभ्यता में प्राणियों को दुःखी देखना अनुचित समझा गया है, इसलिए आर्यों ने आनेवाली हिंसा की हिंसा ही को उचित समझा है और उसी को आपध्धर्म कहा है। क्योंकि संसार में हिंसा का समुद्र उमड़ रहा है और चार प्रकार की हिंसा से प्राणिसंहार हो रहा है। (१) आँधी, तूफ़ान और वर्षा आदि के कारण असंख्य जीव अकाल में ही मर जाते हैं (२) सिंह, चीता, सर्प और अन्य प्राणियों के द्वारा करोड़ों जीव मारे जाते हैं (३) मनुष्यों के द्वारा लाखों पशुपक्षी आदि प्राणी मारे जाते हैं और (४) मनुष्यों के द्वारा मनुष्यों का भी संहार होता है। हिंसा की इन चार श्रेणियों को दो विभागों में बाँट सकते हैं। पहिले विभाग में प्रथम और द्वितीय श्रेणी का समावेश हो सकता है और दूसरे विभाग में तृतीय और चतुर्थ श्रेणी का। पहिले विभाग में अमानुषी हिंसा है और दूसरे में मानुषी, पर पहिले विभाग की हिंसा का कारण दूसरा ही विभाग है। क्योंकि जितने प्राणी प्राकृकिक दुर्घटनाओं और सिंहादि प्राणियों के द्वारा अकाल में मारे जाते हैं, उनमें बहुत से उसी पाप के फल के कारण मारे जाते हैं, जो उन्होंने कभी मनुष्यशरीर में रहकर किया है।

यदि उन्होंने अपने मानवशरीरों से पाप न किया होता, तो यहाँ इन भोग शरीरों में पीड़ा न होती। किन्तु उन्होंने मनुष्यशरीर में नाना प्रकार के दुष्कर्म किये हैं, इसीलिए प्राकृतिक विप्लवों और अन्य प्राणियों के द्वारा उनकी यहाँ दुर्गति होती है। कीड़े को सर्प खाये जाता है, सर्प को मोर खाये जाता और मोर को कुत्ता खाये जाता है। इसी तरह घास को गाय और गाय को बाघ खा रहा है। यही नरकयातनाएँ हैं और इन्हीं को अमानुषी हिंसा कहते हैं। परन्तु मानुषी हिंसा इससे विलक्षण है। उसके दो विभाग हैं—एक अज्ञात हिंसा और दूसरी ज्ञात हिंसा है। अज्ञात हिंसा वह है जो विना इरादे के, केवल शरीर की हलचल से हो जाती है और ज्ञात हिंसा वह है, जो जान—बूझकर की जाती है। मनुष्य चाहे जितना बचे—चाहे जितनी अच्छी व्यवस्था करे—परन्तु यह अज्ञात हिंसा से बच नहीं

सकता। चलते फिरते, काम, करते और खातेपीते कुछ न कुछ प्राणियों का नाश हो ही जाता है। इसे हिंसा मानकर ही आर्यों ने पञ्चमहायज्ञों को नित्य करने की आज्ञा दी है।

परन्तु इस हिंसास्वीकार का यह अर्थ नहीं है कि जब अज्ञात दशा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो जाती है, तो लाइये गाय, भैंस, बकरी और मुर्गी को भी मारकर खा जावें। अपने स्वार्थ के लिए प्राणियों की हिंसा करना एक बात है और अज्ञात दशा में कृमियों का मारना अथवा अपने प्राण बचाने के लिए सिंहसर्पादि का मारना दूसरी बात है। यहाँ तो 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्' अर्थात् फूँक फूँककर पैर रखने और छान छानकर पानी पीने पर भी जो हिंसा हो जाती है, उसी की गणना अज्ञात हिंसा में है और इस अज्ञात हिंसा से किसी प्रकार बचाव नहीं है।

वर्तमान समय के सबसे बड़े अहिंसावादी महात्मा गांधी तारीख २८ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में लिखते हैं कि 'मुझ कबूल करना चाहिये कि मैं प्रतिक्षण हिंसा करके ही शरीर का भी निर्वाह करता हूँ। इसीसे शरीरविषयक राग क्षीण होता जाता है। आश्रम की रक्षा करने में भी हिंसा कर रहा हूँ। प्रत्येक श्वास में सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा करता हूँ, पर यह जानते हुए भी कभी श्वास को नहीं रोकता। वनस्पति आहार करने में भी हिंसा करता हूँ, तो भी आहार का त्याग नहीं करता। मच्छरादिक के क्लेश से बचने के लिए मिट्टी के तेल आदि का भी उपयोग करता हूँ जिससे उनका नाश हो जाता है, पर यह जानते हुए भी इन नाशक पदार्थों का उपयोग नहीं छोड़ता। सर्पों के उपद्रव से आश्रमवासियों के बचाने के लिए जब देखता हूँ कि विना मारे ये दूर नहीं हो सकते तब मारने देता हूँ। बैलों को चलाने के लिए आश्रमवाले उन्हें मारते हैं, यह भी सहन कर लेता हूँ। इस तरह मेरी हिंसा का अन्त ही नहीं है।' ठीक है, मनुष्य इस प्रकार की अज्ञात और प्राणरक्षिणी हिंसा से बच ही नहीं सकता।

अब रही बात ज्ञात हिंसा की। ज्ञात हिंसा के दो विभाग हैं—पहिला विभाग मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की हिंसा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा विभाग मनुष्यों की हिंसा से सम्बन्ध रखता है। इन दोनों प्रकार की हिंसाओं को मनुष्य कर्मयोनि होने से जान-बूझकर करता है, इसलिए वह हिंसा का फल पाता है और दूसरी योनियों में जाकर नाना प्रकार की उपर्युक्त नरकयातनाएँ भोगता है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में पाप होता है, पर इनमें मनुष्यों के नाश से सम्बन्ध रखनेवाली हिंसा तो अत्यन्त ही घोर है। मनुष्य का मारना तो दूर की बात है। आर्यों ने तो मनुष्य को कटु वाक्य कहने में भी हिंसा ही मानी है। यहाँ तक कि उसके प्रति मन में दुष्ट विचार लाने को भी हिंसा ही कहा है। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य को इस ज्ञात हिंसा से सदैव बचना चाहिये। किन्तु जैसा कि ऊपर चार श्रेणी की हिंसा का वर्णन किया गया है। उससे यही प्रतीत होता है कि संसार में हिंसा का एक प्रचण्ड प्रवाह वह रहा है, जो निर्मूल नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह हिंसा-प्रवाह ही संसार का मूल कारण है। जिस दिन हिंसा का उन्मूलन हो जायगा, उस दिन सृष्टि ही का अन्त हो जायगा। क्योंकि कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसा से ही लोगों को दुःख होता है और दूसरों को दुःख देना ही पाप है और पापों का भोग ही संसार का कारण है। इसलिए संसार की इस मूलकारण हिंसा का अत्यन्ताभाव हो ही नहीं सकता।

चाहे जितना धार्मिक बंदोबस्त किया जाय, हिंसा करनेवाले मनुष्यों की उत्पत्ति हो ही जायगी और शुद्ध व्यवस्था में अपवाद हो ही जायगा। परिणाम चाहे जितना सदाचार का प्रचार करे, अर्थ और काम में—लोभ और मोह में—वृद्धि हो ही जायगी और हिंसा अर्थात् पापजन्य पीड़ा से मनुष्यों को दुःख हो ही जायगा। जितने प्रकार के दुःख हैं—वेदनाएँ हैं—सब मृत्यु की छोटी बड़ी सड़कें हैं, सबका अंत मृत्यु में ही होता है और सब किसी न किसी प्रकार मृत्यु के निकट ही ले जाती हैं, इसीलिए अपवादों से उत्पन्न हुई मृत्यु से बचने के लिए आपद्धर्म की योजना हुई है। मनु भगवान् कहते हैं कि—

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥

अर्थात् सब देवों, साध्यों, ब्राह्मणों और ऋषियों ने आपत्काल के समय मृत्यु से बचने के लिए धर्म के प्रतिनिधि इस आपधर्म की रचना की है। इसी को नीति भी कहते हे। यह नीति शुद्ध सत्य के आस ही पास रहती है। इसी को वेदों में ऋत कहा गया है। वेदों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' की भाँति यह ऋत प्रायः सत्य के साथ ही आता है, क्योंकि सत्य शुद्ध धर्म है और ऋत आपद्धर्म है। यह आपद्धर्म धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक तीन प्रकार का होता है। अथर्ववेद ८।९।१३ में लिखा है कि—

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥

अर्थात् ऋत के तीन मार्ग चलते हैं और तीनों अनुधर्मा कलहाते हैं— एक प्रजा (समाज) के बल की रक्षा करता है, दूसरा राष्ट्र (राजनीति) की रक्षा करता है और तीसरा व्यक्ति (धर्म) की रक्षा करता है। अर्थात् सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में अनुधर्म अर्थात् ऋत के तीनों मार्ग दौड़ता है। जब जहाँ जैसी आवश्यकता हो तब तहाँ तैसा व्यवहार करना चाहिये। भगवत ११।१९।३८ में ऋत की व्याख्या करते हुए 'ऋतं च सूनृता वाणी' कहा गया है। सूनृता शब्द का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि 'सत्यप्रिया वाक् सूनृता' अर्थात् प्रिय सत्य वाणी को सूनृता कहते हैं। प्रिय सत्य में और शुद्ध सत्य में जो अन्तर होता है, वही अन्तर ऋत और सत्य में है। प्रिय सदैव शुद्ध सत्य नहीं रह सकता। वह कभी कभी प्रियता के कारण शुद्ध सत्य से हट जाता है। इसीलिए ऋत आपद्धर्म का और सत्य शुद्ध धर्म का प्रतिनिधि माना गया है। शुद्ध धर्म और आपद्धर्म सदैव सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक व्यवहारों में साथ साथ रहते हैं अतः जब जिसकी आवश्यकता होती है तब वही आगे हो जाता है। ऋ० ६।४७।७ में बहुत ही स्पष्ट रीति से कह दिया है कि 'भवा सुनीतिरुत वामनीतिः' अर्थात् सुनीति—धर्म से अथवा वामनीति-आपद्धर्म से ही सदैव कार्य सिद्ध करना चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है कि जब दुष्ट मनुष्यों से साबिका पड़ता है और दुःखों से त्रास उत्पन्न होता है—मृत्यु का भयंकर रूप सामने देखने लगता है—तब आपद्धर्म के द्वारा ही अपनी रक्षा की जा सकती है। कहते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों की लड़ाइयों में बहुधा मुसलमान सेनाध्यक्ष अपनी सेना के आगे बहुत सी गौवों को कर लिया करते थे। इसका फल यह होता था कि हिंदू सैनिक गोवध के डर से गोली चलाना बन्द कर देते थे और मुसलमान

सैनिक उन पर गोली चलाकर विजय प्राप्त कर लेते थे। किंतु यदि हिंदू सेनापति आपद्धर्म के अनुसार उस समय के गोवध को पाप न समझते और गोली बाद करने की आज्ञा दे देते तो आज देश में हिंदुओं के सामने इतना बड़ा गोसंहार न होता। इस पर आपद्धर्म के ज्ञाता किसी नीतिनिपुण ने सत्य ही कहा है कि '**व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः**' अर्थात् जो मायावियों की माया को नहीं समझ पाते, वे मूढबुद्धि अवश्य ही पराजित होते हैं। इसीलिए कहा है कि '**यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः**' अर्थात् जो जिससे जिस प्रकार का व्यवहार करे, उससे उसी प्रकार व्यवहार करना धर्म है। क्योंकि '**शठस्य शाठ्यं शठ एव वेत्ति**' अर्थात् शठ को शठ ही शिक्षा दे सकता है। इसका कारण यह है कि आपत्ति के समय कर्तव्य अकर्तव्य और अकर्तव्य कर्तव्य हो जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं कि—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थात् जो कर्म अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। इसलिए जब जहाँ जैसा मौका हो तब तहाँ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। यही आपध्धर्म का रहस्य है और यही उसका तात्पर्य है।

आर्यशास्त्रों में वेदों के अतिरिक्त जो स्मृतियाँ देखने में आती हैं, वे भी एक प्रकार से आपद्धर्म की ही गठरी हैं। श्रुति के सामने स्मृति की कोई गणना नहीं है, पर कभी कभी स्मृति से ही काम लिया जाता है। इसका कारण आपद्धर्म ही है। यह मानी हुई बात है कि मनुष्य का वही समाज उन्नत रह सकता है कि जिसमें ऋत और सत्य के तत्त्व समझे गये हों और दोनों के व्यवहार की कुञ्जी बतलाई गई हो। आपध्धर्म वा नीतिधर्म में कहाँ तक पाप है और कहाँ तक धर्म है इस बात का निर्णय करना सहज है। शुध्ध धर्म पर आई हुई बाधाओं को निवारण करने के लिए जिस वामनीति से काम लिया गया हो, यदि वह धर्मोध्धार के बाद ही छोड़ दी जाय तब तो वह मर्यादित आपध्धर्म अर्थात् ऋत नाम की नीति ही कहलायेगी, किंतु यदि धर्मोध्धार के बाद भी वही नीति व्यवहार में रख ली जाय तो वह ऋत नहीं प्रत्युत पाप ही कही जायगी। ऋत में—आपद्धर्म में—वामनीति में—पापांश है, पर वह धर्मोध्धार का कारण होने से पाप नहीं कहा जा सकता। पर वही यदि अपने मनोरञ्जन के लिए, दूसरों की हानि के लिए और सदैव व्यवहार में लाने के लिए नियुक्त कर दिया जाय तो अवश्य पाप हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। मनुस्मृति ११।२९–३० में लिखा है कि—

> प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
> न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥३०॥
> आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुते नापदि द्विजः।
> स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥२८॥ (मनुस्मृति ११)

अर्थात् धर्मपालन की शक्ति रखता हुआ जो आपद्धर्म का सेवन करता है, उसको परलोक में फल नहीं मिलता। इसी तरह आपत्काल के धर्म को जो धर्म के समय में करता है उसका भी कर्म परलोक में निष्फल हो जाता है। अर्थात् वे दोनों पापी समझे जाते हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया कि धर्म और आपद्धर्म का व्यवहार अपने अपने समयों में ही करना चाहिये। आपद्धर्म का उत्तम उपयोग यही है कि वह धर्मोद्धार के ही लिए व्यवहार में लाया जाय। धर्मोद्धार हो जाने पर, धर्मसंकट टल जाने पर और मृत्युभय हट जाने पर वाममीति अथवा आपद्धर्म का व्यवहार छोड़ देना चाहिये।

यही धर्म और आपद्धर्म की व्यवस्था है। इसका एक उत्तम उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् ३०।१ १० में दिया हुआ है। वहाँ लिखा हुआ है कि कुरुदेश में ओलों के पड़ने से दुष्काल पड़ गया। दुष्काल के कारण उषस्ति ऋषि अपनी स्त्री के सहित हाथीवानों के गाँव में गये और हाथीवानों को कुल्मास (कुलथी या उड़द) खाते हुए देखकर खुद भी याचना की। हाथीवानों ने कहा कि हमारे पास दूसरे उड़द नहीं हैं, इस बर्तन में हैं, जिसमें हम खा रहे हैं। उषस्ति ने कहा कि इन्हीं में से हमको भी दीजिए। हाथीवानों ने उषस्ति को उसी बर्तन में सेउड़द और पानी दिया। उषस्ति ने कहा कि यह पानी जूठा है। इस पर हाथीवानों ने कहा कि ' न स्विद् एते अपि उच्छिष्टा इति ' अर्थात् क्या ये कुल्माष जूठे नहीं हैं ? इस पर उषस्ति ने कहा कि ' न वै अजीविष्याम इमान् अखादन्, कामो मे अनुपानम् इति ' अर्थात् इन उड़दों के बिना हम जी नहीं सकते थे, परन्तु पानी तो सर्वत्र भरा हुआ है।

इस कथा में धर्म और आपद्धर्म का चित्र खिंचा हुआ है। जिन उड़दों के बिना मृत्यु का भय था वे आपद्धर्म के द्वारा लिये गये, परन्तु जिस पानी के बिना मरने का भय नहीं था, उसके लिए शुद्ध धर्म का व्यवहार किया गया और जूठा पानी नहीं लिया गया। यही आपद्धर्म की सच्ची कसौटी है।

इसी प्रकार की एक दूसरी कथा आधुनिक काल में भी पाई जाती है। ता० २८ अक्तूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में आत्मकथा लिखते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं कि " डॉक्टर दलाल ने कहा कि आप यदि लोह और सखिया की पिचकारी लें और दूध पियें, तो मैं गैरंटी देता हूँ कि आपका शरीर फिर दुरुस्त कर दूँ। मैंने कहा कि पिचकारी दीजिये, पर दूध तो मैं नहीं लूँगा। डॉक्टर ने पूछा कि आपकी दूध की प्रतिज्ञा क्या है ? मैंने कहा कि गाय भैंस दुहने के लिए दूधवाले बाँस की नली से उनके गुप्तस्थानों में फूँक मारते हैं, यह जानने के बाद मुझे दूध पर तिरस्कार हुआ है।

" दूध मनुष्य की खूराक नहीं है यह तो मैं हमेशा से ही मानता रहता हूँ, इसीलिए मैंने दूध का त्याग किया है। इस पर कस्तूरी बाई ने कहा कि तब तो बकरी का दूध लिया जा सकता है। इस पर डॉक्टर दलाल ने कहा कि यदि आप बकरी का दूध लें, तो मेरा काम निकल जायगा। इस पर मैं गिरा। सत्याग्रह की लड़ाई ने मुझमें जीने का लोभ पैदा किया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरों के पालन से संतुष्ट होकर उसकी आत्मा का हनन किया।

" यद्यपि दूध की प्रतिज्ञा के समय मेरी दृष्टि में गाय और भैंस ही थी तथापि मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्र के लिए समझना चाहिये। जहाँ तक मैं पशुमात्र के दूध को मनुष्य की निषिद्ध खुराक मानता हूँ, वहाँ तक मुझे दूध पीने का अधिकार नहीं है। यह जानता हुआ भी मैं बकरी का दूध पीने के लिए तैयार हुआ। सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीने की इच्छा से अपने सत्य में परदा डाला "। यह कथा आपद्धर्म के मर्म को और भी स्पष्ट कर देती है। प्राचीन ऋषियों ने इस प्रकार के आपद्धर्म को हर मौक़े के लिए बड़े यत्न से क़ायम रक्खा है। इसीलिए संस्कारों का समय निश्चित करने तक में उन्हों ने ' सर्वकालमित्येके ' का सिद्धांत स्थिर रक्खा है। यही धर्म और आपद्धर्म का रहस्य है। इस प्रकार के आपद्धर्म अथवा ऋतधर्म या वामनीति का काम प्रायः पड़ा ही करता है। पर जब तक ऐसा मौक़ा न आ जाय कि अब धर्म ही जाता है, मृत्यु ही निकट आ रही है अथवा जाति या राष्ट्र का ही नाश हो रहा है तब तक उसका अनुष्ठान न करना चाहिये। अथर्ववेद की आज्ञानुसार प्रजा के दुःखी होने पर, राष्ट्र के दुःखी होने पर और अपने धर्म पर संकट आने पर ही ऋतु का व्यवहार करना चाहिए। यही नीति है। हमने गत पृष्ठों में वैदिक अर्थ के चारों विभागों को जिन प्रमाणों के साथ लिखा है, उन्हीं प्रमाणों के साथ साथ उन्हीं ग्रंथों में परस्पर विरोधी प्रमाण भी मिलते हैं। उन सबको इन आपद् कोटि में ही समझना चाहिये।

उदाहरणार्थ मनुष्य फलाहारी है, किन्तु मौक़ा आने पर वह अन्न भी खा सकता है। वेदों में जो अपूप, सक्तु और हवि आदि अन्न मिश्रित पदार्थों का वर्णन है, वह या तो यज्ञों में हवन करने के लिए है या आपत्काल में मनुष्यों के खाने के है। इसी तरह मनुष्यों को बहुत ही कम वस्त्रों के साथ रहना चाहिये—अधोवस्त्र और उपवस्त्र ही पहिनना चाहिये—किंतु वेदों में जो अनेक वस्त्रों का वर्णन है, वह सर्द देशों में या दर्बारों में या किसी अन्य आवश्यक मौक़े पर पहिनने के ही लिए हैं। मौक़ा पड़ने पर अपवाद के समय मनुष्य क़ीमती भड़कदार और अधिक कपड़े भी पहन सकता है। इसी तरह मकान मिट्टी और तृण का ही होना चाहिए, पर पुस्तकों के रखने के लिए, राज्यसामग्री तथा किसी दरबार के लिए यज्ञमण्डप और क़िलों के लिए बड़े बड़े ईंट पत्थर के भी महल बनवाये जा सकते हैं, और दुष्ट तथा बर्बर शत्रुओं से बचने के लिए नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र, रसद, सामान, कल, कारखाने और यंत्रों का भी संग्रह और उपयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार से वैदिक अर्थ में कहे हुए इन चारों विभागों में आपद्धर्म के समय फेरफार हो सकता है। इसी तरह आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक संतान भी उत्पन्न की जा सकती है और आपत्ति के समय अहिंसा के स्थान में दुष्ट शत्रुओं का नाश भी किया जा सकता है। इस प्रकार के आपद्धर्म का पालन करने से मनुष्य को मोक्ष के सीधे मार्ग से यद्यपि ज़रा सा हट जाना पड़ता है, थोड़ा पाप भी होता है और हिंसा भी होती है पर कार्य हो चुकने पर—अड़चनों के हट जाने पर—सुकाल होने पर—फिर शुद्ध धर्म का अनुष्ठान होता है और फिर मोक्ष मार्ग सीधा हो जाता है। क्योंकि आपत्तिकाल दीर्घ काल तक नहीं रहता और न आपत्ति के समय उपभोग किये पदार्थों का संस्कार ही दृढ होता है, इसलिए आपद्धर्म के समय में उपयोग किये हुए व्यवहार शुद्ध

धर्म के समय कुछ भी अड़चन पैदा नहीं करते। यही सुनीति और वामनीति का निर्णय है और यही वेदादि शास्त्रों में आये हुए विरोधी वचनों की संगति है।

सुकाल और आपत्काल का फेरा आया ही करता है, इसलिए शुद्ध धर्म और आपद्धर्म का भी फेरा आया करता है। कहा नहीं जा सकता कि कब कौन सी आपत्ति आ जाय और उससे बचने का क्या उपाय करना पड़े। यही समझकर आर्यों ने अपनी सभ्यता में आपद्धर्म को विशेष स्थान दिया है। हम कह आये हैं कि जिस प्रकार शुद्ध धर्म आश्रमव्यवस्था की भूमिका पर स्थिर किया गया है, उसी प्रकार आपद्धर्म वर्णव्यवस्था की भूमिका पर निर्मित किया गया है। आश्रमव्यवस्था जब तक स्थिर रहती है तब तक शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और मनुष्यसमाज पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती। किन्तु आश्रमव्यवस्था के तिरोभाव के साथ ही साथ संसार में आपत्तियों का दौरा शुरू हो जाता है, अतएव आपत्तियों का मुक़ाबला करने के लिए वर्णव्यवस्था की दरकार होती है।

कहने को तो वर्ण चार हैं, पर वे भी आश्रमों की तरह दो ही हैं। दो वर्ण तो दो प्रधान वर्णों के सहायक हैं। प्रधान वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्री वर्णों की गणना है। जिस समय शुद्ध धर्म का ज़माना रहता है, उस समय सब वर्ण ब्राह्मण ही रहते हैं, परन्तु आपत्तियों के आते ही क्षत्रिय वर्ण का आविर्भाव होता है और चारों वर्णों के अपने अपने व्यवहार आरम्भ हो जाते हैं और जो जिस काम के योग्य होता है, उसको उसी काम में लगा दिया जाता है और आपत्तियों को दूर कर दिया जाता है। इसीलिए वर्णव्यवस्था की तुलना शरीर के साथ की गई है और शिर ब्राह्मण, बाहु क्षत्री, पेट वैश्य और पैर शूद्र माना गया है। आपत्तिरहित अवस्था में जिस प्रकार विना हाथ और पैर का मनुष्य जी सकता है—जिस प्रकार विना हाथ पैर का सर्प अपनी पूर्ण आयु जी लेता है—उसी प्रकार शुद्ध धर्म के समय ब्रह्मपरायण लोग भी जी सकते हैं, किन्तु आपत्ति के समय विना हाथ पैर के मनुष्य कोई काम नहीं कर सकता। उस समय केवल मस्तिष्क के द्वारा सम्पन्न होनेवाले ज्ञानविज्ञान और योग समाधि से समाज का काम नहीं चलता। इसलिए आपद्धर्म का संरक्षक क्षत्री ही माना गया है और आपद्धर्म के समय समस्त प्रजा को क्षात्रधर्म दीक्षित होकर राजा की आज्ञानुसार राष्ट्र के काम का बटवारा करके गुणकर्म स्वाभावानुसार अपने अपने कामों में नियुक्त होना ही धर्म ठहराया गया है। ऐसे समय में समस्त समाज राजन्य प्रधान हो जाता है भारतवर्ष में इस प्रकार समय आ चुके हैं। महाभारत में लिखा है कि महाभारत के समय द्रोणाचार्यादि ब्राह्मण भी क्षात्रधर्म में ही दीक्षित हुए थे। इसका कारण यही है कि विना इस प्रकार की सङ्गठित शक्ति के—विना प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग के—आपत्ति टल ही नहीं सकती। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शुद्ध धर्मकाल में समस्त समाज ब्राह्मण्य रहता है, ब्राह्मण रीति—नीति का ही व्यवहार होता है और परिव्राट् के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य आश्रमों में ही स्थिर रहते हैं और मोक्ष साधन में ही लगे रहते हैं, उसी प्रकार आपत्काल में समस्त समाज राजन्य हो जाता है, सर्वत्र राजनीति का ही व्यवहार होने लगता है और सम्राट् के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य चार वर्णों में विभक्त हो जाते हैं और आपत्ति के हटाने में लग जाते हैं। परंतु इससे यह न समझना चाहिये कि शुद्ध धर्म के समय वर्णों का अभाव हो जाता है और आपद्धर्म के समय आश्रमों का लोप हो जाता है। प्रत्युत यह समझना चाहिये कि दोनों

समयों में वर्णाश्रमव्यवस्था के कुछ न कुछ बीजांकुर बने रहते हैं। क्योंकि सुकाल और आपत्काल का फेरा सदैव होता ही रहता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में वर्णव्यवस्था के दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। जिस समय शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार आश्रम-व्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं उस समय सब लोग ब्राह्मणस्वभाववाले और आश्रमों के रंग में रँगे और मोक्षमार्ग के पथिक ही रहते हैं। उस समय सब काम धर्मानुसार ही चलता है, कोई आपत्ति नहीं होती इसलिए किसी वर्ण का वास्तविक स्वरूप भी प्रकाशित नहीं होता, प्रत्युत सब वर्ण लुप्त हो जाते हैं। किन्तु जिस समय आपद्धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार वर्णव्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं, उस समय वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभावानुसार मानी जाती है और जो काम के योग्य होता है, वह उस काम में लगा दिया जाता है। उस समय मनु भगवान् के आदेशानुसार आवश्यकता पड़ने पर भूतपूर्व आपत्काल के समय में ब्राह्मण कहलानेवाले मनुष्य शूद्र और भूतपूर्व आपत्काल के समय में शूद्र कहलानेवाले लोग ब्राह्मण हो जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्री और वैश्यों के वर्णों में भी अदलाबदली हो जाती है। इसका यही है कि आपत्ति के समय वर्णधर्म का पालन ठीक ठीक किया जाता है। इसलिए जो जिस काम को अच्छी तरह कर सकता है, वह उसी काम में लगा दिया जाता है, जिससे काम में त्रुटि न हो और आफ़त टल जाय। उस समय आपत्तिनिवारण ही उद्देश्य होता है, इसलिए सब लोग अपना अपना काम भी अलग अलग करने लगते हैं और आफ़त टालने के लिए समस्त समाज वर्णों में विभक्त होता हुआ क्षात्रधर्म प्रधान हो जाता है। कहने का मतलब यह कि ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति हर समय क़ायम रहती है और आवश्यकतानुसार आपत्काल में स्पष्ट रूप से आविर्भूत हो जाती है। यही आर्यों की नीति का रहस्य है और यही उनकी वर्णव्यवस्था का आदर्श है। इस आदर्श का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना॥ (यजु० २०।२५)

अर्थात् जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ साथ रहती है और जहाँ पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान क़ायम रहता है, वही देश पुण्य देश कहलाता है। इन दोनों शक्तियों के सामञ्जस्य से ही देश में—जनसमाज में—शान्ति स्थिर रह सकती है। अर्थात् दोनों शक्तियाँ जब एक दूसरे को सहायता देती हैं तभी लोक परलोक के कार्य सम्पन्न होते हैं। मनु भगवान् कहते हैं कि—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ (मनु० ९।३२२)

अर्थात् न विना ब्रह्मशक्ति के क्षात्रशक्ति बढ़ सकती है और न विना क्षात्रशक्ति के ब्रह्मशक्ति बढ़ सकती है, प्रत्युत दोनों के मेल से ही लोक परलोक की उन्नति होती है। यही आर्यों की नीति है और यही वर्णव्यवस्था की उपयोगिता है। किन्तु इस प्राचीन वर्णव्यवस्था की वर्तमान दुर्दशा को जानते हुए भी लोग कहते हैं कि आर्यों की वर्णव्यवस्था किसी काम की नहीं है। वे इसमें तीन दोष बतलाते हैं। वे कहते हैं कि एक तो वर्णव्यवस्था से सुसंगठित मानव

समाज के चार विभाग हो जाते हैं और ऐक्यता नष्ट हो जाती है तथा युद्ध करनेवाले थोड़े से क्षत्री ही रह जाते हैं, शेष वर्ण युद्धकलाहीन हो जाते हैं। दूसरे केवल लड़नेवाली जाति ही का प्रभुत्व हो जाता है और उसी जाति के विशेष व्यक्ति के हाथ से ही मनमाना शासन होता है। तीसरे प्राचीन क्षत्रियों की रणकला न तो आजकल के विज्ञानजात रणकौशलों के साथ मुक़ाबिला ही करने की योग्यता रखती है और न उनके पास वर्तमान योरप की भाँति कला-युक्त शस्त्रास्त्र, यान और युद्धोपकरण ही उपस्थित हैं। इसलिए राष्ट्रनिर्माण का वह प्राचीन वर्णव्यवस्था का आदर्श इस समय के लिए उपयुक्त नहीं है। यद्यपि सुनने में ये शङ्काएँ बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं, पर वर्णव्यवस्था के यथार्थ स्वरूप पर विचार करने से तीनों शङ्काएँ बेदम हो जाती हैं। जो लोग कहते है कि वर्णव्यवस्था अनैक्यता उत्पन्न करती है—एक जाति को चार विभागों में बाँट देती है—वे ग़लती पर है। उनकी यह बात यथार्थ नहीं है।

यह शङ्का तो वर्तमान अस्तव्यस्त वर्णव्यवस्था को देखकर उत्पन्न हुई है। पर वास्तविक वर्णव्यवस्था में इस प्रकार की शङ्का की गुंजायश नहीं है। क्योंकि वास्तविक वर्णव्यवस्था का प्रादुर्भाव तो आपत्ति से, संकट से, मृत्यु से और दुःख से बचने के लिए ही होता है और सारे राष्ट्र की सम्मति से राष्ट्र का काम चलाने के लिए स्थिर किया जाता है। और जिसकी जैसी योग्यता होती है, वह उसी काम मे नियुक्त किया जाता है। अर्थात् वह नियुक्ति गुण, कर्म और स्वाभावानुसार होती है। कर्म से आर्यों और दस्युओं का विभाग होता है, गुण से द्विजों और शूद्रों का विभाग होता है और स्वभाव से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का विभाग होता है। दुष्ट कर्म करनेवाले अनार्य कहलाते हैं। वे चाहे भले विद्वान् हों और गुण-वान् हों, परन्तु यदि उनका व्यवहार अच्छा नहीं है, यदि वे पापी हैं और दुष्ट हैं, तो वे आर्यसमाज में नहीं रह सकते। कर्म की इस कसौटी से दुष्टों को पृथक् करके शुद्ध आर्यों को गुण की कसौटी से दो भागों मे बाँटा जाता है। इन विभागों का नाम द्विज और शूद्र है,

जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या, सभ्यता और सदाचाररूपी गुणों को धारण किया है, वे द्विजविभाग में समझे जाते हैं और जिन्होंने इन गुणों को धारण नहीं किया, वे शूद्र कहलाते हैं। विद्वान्, गुणवान्, ब्रह्मचारी और सदाचारी ही राष्ट्र का काम चला सकता है, इसलिए द्विजों को ही राष्ट्र के काम में नियुक्त किया जाता है। क्योंकि आपत्ति के समय राष्ट्र को प्रायः तीन प्रकार की ज़िम्मेदारियों की दरकार रहती है। राष्ट्र चाहता है कि चाहे जितनी आपत्ति आवे, पर बच्चों की शिक्षा का काम बन्द न हो इसी तरह चाहे जितना संकट उपस्थित हो, पर शत्रु से देश और धर्म की रक्षा की जाय और चाहे जैसा भयङ्कर समय हो, जीविका का प्रबन्ध शिथिल न होने पावे। इन तीनों प्रकार के प्रबन्धों के लिए समस्त द्विजों को तीन भागों में बाँटकर तीनों प्रकार के कार्यों में लगा दिया जाता है। यह कार्यविभिन्नता द्विजों के स्वाभावानुसार की जाती है। जिसकी तबीयत का जैसा झुकाव देखा जाता है, उसको उसी काम में नियुक्त किया जाता है। जो पढ़ाने की ओर विशेष रुचि रखते हैं उनको शिक्षा का काम, जो शूरवीर और निर्भय होते हैं, उनको रक्षा का काम और जो पशुपालन तथा कृषि की ओर रुचि रखते हैं, उनको जीविका का काम दिया जाता है।

इसी तरह जो अशिक्षित (शूद्र) हैं, उनको सेवा का काम दिया जाता है। आपत्ति के समय यदि इस प्रकार से कामों का बटवारा न कर दिया जाय और सारी प्रजा एक ही काम

में लगा दी जाय तो कभी स्वप्न में भी रक्षा नहीं हो सकती । सबके सब लड़ने ही लगें तो सेना के लिए युद्धोपकरण—शस्त्र, यान और खाद्य—कौन तैयार करे और भविष्य युवकों को योग्य बनाने के लिए शिक्षा कौन दे ? इसलिए आपत्ति के समय कामों का बटवारा करके राष्ट्र का काम चलाने के लिए एक जाति को चार भागों में बाँटना ही पड़ता है । परन्तु इस बटवारे का यह अर्थ नहीं है कि एक विभाग का दूसरे विभाग से कुछ वास्ता ही नहीं रहता । आपत्ति के समय सभी विभाग एकमत होकर आपत्ति को हटाने में जुट जाते हैं । जैसे कि आवश्यकता पड़ने पर द्रोणाचार्य शिक्षा का काम छोड़कर युद्ध करने लग गये थे । कहने का मतलब यह कि आपत्ति के समय समस्त जनसमाज राजा के अधीन रहकर अपनी योग्यता के अनुसार आवश्यक विभाग का काम करता है, इसलिए इस वर्णव्यवस्था में अनैक्यता और सैनिकों की कमी की अड़चन नहीं आती ।

दूसरी शङ्का जिसमें राजा के एकहथे राज्य की बात कही जाती है, पर उसमें भी ग़लती है । आर्यों का राजा कभी अकेला जो कुछ चाहता था, वह नहीं कर सकता था । उसके साथ सदैव विचार करने के लिए एक वेदज्ञ पंडितों की सभा रहा करती थी, जिसकी सलाह से राजा शासन करता था । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि राजा की तरह यह सभा भी मनमाना क़ानून नहीं बना सकती थी । यहाँ नवीन क़ानून बनाने का रिवाज ही नहीं था । यहाँ तो भगवान् का बनाया हुआ क़ानून—वेद—बिना किसी दलील और प्रमाण के चलता था । राजा और राजसभा तो केवल वेदानुकूल व्यवहार चलाने के लिए ही थी, नये क़ानून बनाने के लिए नहीं । अतएव चाहे राजा अकेला हो अथवा दश हज़ार सभ्यों की सभा हो, किसी को नया धर्म, नया क़ायदा और नया विधान जारी करने का अधिकार नहीं था । उस समय ऐरेग़ैरों का बहुमत नहीं लिया जाता था । उस समय तो यह क़ायदा था कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ (मनु० १२।११३)

अर्थात् एक भी वेदज्ञ जिस बात को कहे वही धर्म माना जाय और वेदहीन दश हज़ार मनुष्यों की भी बात न मानी जाय । इसका कारण वेदों की अपौरुषेयता ही था । आर्यों के विश्वासानुसार वेद ही ऐसा क़ानून है, जो ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण सबको समान रूप से लाभ पहुँचानेवाला है । इसीलिए उन्होंने नये क़ानूनों को कभी नहीं बनाया । आजकल संसार में जिस प्रकार के बहुमत का रिवाज चल रहा है, वह बहुत ही हानिकारक है । क्योंकि संसार में सभी मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते । विशेषकर आपत्ति के समय तो बहुत ही थोड़े आदमी धर्मात्मा और विद्वान् होते हैं । यदि सभी धर्मात्मा और विद्वान् हों, तो बहुमत की—राजसभा की—आवश्यकता ही न हो । क़ानून के पालन कराने की आवश्यकता तो तभी होती है, जब जनसमाज अशिक्षित अधर्मी और कर्महीन होता है । पर अशिक्षित और अधर्मी समाज का बहुमत भी वैसा ही होता है, जैसी उसकी रुचि होती है । शराब पीनेवाले कभी शराब के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते । विलासी, कामलोलुप, स्वार्थी और परोपभोगी कभी अपने स्वार्थ के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते । इसलिए सभा के मत से क़ानून के बनाने की प्रथा ठीक नहीं है । प्रथा तो वही उत्तम है कि जो प्राचीन वैदिक आर्यों की सभ्यता के अनुसार चलाई जाय ।

अब रही तीसरी शङ्का, उसके उत्तर मे निवेदन है कि जिस प्रकार के लोगों के साथ युद्ध करना उचित था, उन लोगों को दमन करने के योग्य प्राचीन आर्यों के पास युद्धोपकरण थे, किन्तु जिस प्रकार के लोगों के साथ युद्ध करना उचित नहीं था, उनके साथ युद्ध करने योग्य उपकरण भी नहीं थे। आर्यसभ्यता में युद्ध के लिए स्थान तो है, पर युद्ध की मर्यादा भी है। कब किसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये, ये बातें आर्यों की सभ्यता में विशेष स्थान रखती हैं। क्योंकि आर्य लोग युद्ध का यह मतलब नहीं मानते थे कि बिना सोचे समझे जहाँ देखो वहीं लड़ मरो। इसलिए युद्ध के विषय में मनु भगवान् लिखते हैं कि—

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्धयमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ (मनु० ७।१९९)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ (मनु० ७।१०७–१०८)

अर्थात् संग्राम में लड़नेवालों के जय और पराजय अनित्य हैं, इसलिए युद्ध न करना चाहिये। सबसे पहिले तो विरोधियों को सामादि उपायों से ही वश में करना चाहिये, पर यदि सामादि तीनों उपायों से शत्रु न मानें तो दण्ड (युद्ध) से ही वश में करना चाहिये। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि युद्ध कोई बहुत आवश्यक वस्तु नहीं है। वह तो उन मूर्खों, जंगली बर्बरों और अत्याचारियों को वश में करने के लिए है, जो न ज्ञान जानते हैं न विज्ञान, न नीति जानते हैं न धर्म और न हानि जानते हैं न लाभ, प्रत्युत लोगों को सताना ही जिनका उद्देश्य है। परंतु युद्ध उनके लिए नहीं है जो हर बात को अच्छी तरह समझते हैं। यही कारण है कि आर्यों ने सदैव बर्बरों के ही साथ युद्ध किया है और उनको ही परास्त किया है। रावण से लेकर सिकंदर, ग़ोरी, ग़ज़नी और औरंगज़ेब तक के साथ आर्य लोग युद्ध करते रहे हैं और सबको परास्त किया है। यद्यपि मुसलमानों को परास्त करने में उनको चार सौ वर्ष लगे हैं, तथापि अंत में उन्होंने उनको भी परास्त ही कर दिया है। रहे योरपवासी, सो ये आरंभ में व्यापारिक रूप से यहाँ आये और धीरे धीरे देश के स्वामी बन गये, अतः इनके साथ युद्ध करने का अच्छी तरह मौक़ा ही नहीं आया।

इन्होंने आरंभ से ही अपनी सभ्यता, प्रबंध, ज्ञान, विज्ञान और कलाकौशल का हम पर ऐसा सिक्का जमाया कि हमने कभी इनको अपना शत्रु ही नहीं समझा। शत्रु न समझने का कारण यह था, कि ये बर्बर नहीं, किन्तु सभ्य और उदात्त विचारवाले थे। आर्यों का विश्वास था, कि ऐसे लोगों से अधिक खतरा नहीं है। आर्यों का यह अनुमान ग़लत नहीं था। उनके अनुमान के प्रमाण समय समय पर मिलते रहे हैं और विशेष रूप से इस समय मिल रहे हैं। आज समस्त संसार में जो साम्यवाद की चरचा फैल रही है, जर्मनयुद्ध के समय से जो अब कोई देश किसी अन्य देश पर अधिकार करने के लिए प्रयास नहीं करता, इंगलैण्ड के अनेक मातहत देश जो धीरे धीरे स्वतंत्र हो रहे हैं और

भारतवर्ष में भी जो स्वतंत्रता का शङ्खनाद चारों तरफ़ बज रहा है, इस समस्त संसार-व्यापिनी स्वतंत्रता के जन्मदाता और विस्तारकर्ता कौन हैं ? हम हैं, या चीनवाले हैं, या अमरीकावाले हैं, या अफ़गानिस्तान के पठान हैं ? हमारी समझ में तो इनमें से कोई नहीं हैं। इसका यदि किसी को श्रेय है, तो वह केवल योरपनिवासिनी जातियों को ही है। उन्होंने ही इस सार्वभौम स्वतंत्रता का सिंहनाद किया है।

अतएव इस प्रकार की स्वतंत्रताप्रिय, विद्याव्यसनी और उच्च विचारवाली जातियों के साथ युद्ध करने के लिए आर्य लोग कैसे तैयारी करते ? जिन जातियों ने आरंभ से ही अपनी उर्वराशक्ति के द्वारा हर्बर्ट स्पेंसर, टालस्टाय, लेनिन और ऐसे ही अनेकों महान् पुरुषों को जन्म दिया है, जिन जातियों के लाखों आदमी आज विश्वस्वातंत्र्य का प्रयत्न कर रहे हैं और जिन जातियों ने संसार को अमित विद्याभंडार का दान दिया है, उन जातियों के साथ युद्ध की तैयारी करना आर्यस्वभाव के विपरीत है। वे तो धीरे धीरे उन्हीं बातों की ओर आ रही हैं, जो बिलकुल ही आर्य सभ्यता के अनुकूल हैं। इसलिए योरपवासियों के साथ अथवा इसी प्रकार की उन्नत सभ्यता प्राप्त किसी भी जाति के साथ आर्य लोग युद्ध नहीं करते। यही कारण है कि यहाँ कलायुक्त यन्त्रों का भी आविष्कार नहीं किया गया। यहाँ वालों को विश्वास था कि जो जातियाँ ज्ञानविज्ञान में इतनी उच्च और उन्नत होंगी, उनसे हमें अधिक हानि न होगी। आर्यों की ऐसी समझ और धारणा को राजनीतिक ग़लती नहीं कही जा सकती। आर्यों की सी उच्च सभ्यता में पहुँचकर कोई भी मनुष्य जाति, चाहे वह पहिले कितनी ही बर्बर रही हो, इसी परिणाम पर पहुँचती है। योरप के विकसित मस्तिष्क भी आज इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। वहाँ भी युद्धों को बंद कराने और संसार से कुटिलता की जड़ खोद बहानेवाले लाखों आदमी पैदा हो गये हैं।

तारीख़ २३ मई सन् १९२५ के वर्तमानपत्र में छपा था कि 'अपनी मृत्यु से पहिले १० दिसंबर सन् १९१० ई० में महात्मा टालस्टाय ने एक पत्र लिखा था कि अंधकार की वह दशा जिसमें मानवजाति डूबी जा रही है और भी भयंकर हो जाती, यदि सैकड़ों मनुष्य अपने जीवन को खतरे में डालकर उसके रोकने का प्रयत्न न करते। अधिकारियों की ओर से उनको हर प्रकार के दण्ड दिये जाने का भय दिखलाया गया, परंतु वे तिल भर नहीं डिगे। वे स्वतंत्र रहने के इच्छुक हैं, इसलिए वे अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, बरन् वे अपनी आत्मा की आवाज़ पर अमल करते हैं। मैं मरने के निकट हूँ, परंतु मैं यह देखकर प्रसन्न हूँ कि उन मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो अधिकारियों की ओर से मानवजाति के संहारक पद दिये जाने पर भी शान्ति के साथ इन्कार कर देते हैं और अवज्ञा करने का दण्ड स्वयं भोग लेते हैं। रूस में ऐसे युवक बहुत हैं, जो जल की भयङ्कर यातनायें भोग रहे हैं। उन्होंने अपने पत्रों में लिखा है तथा मिलनेवालों से बतलाया है कि वे जेल में बड़ी शान्ति से हैं।

'केवल रूस में ही नहीं बरन् महायुद्ध के समय सन् १९१५ में हालैंड में भी एक संस्था युद्ध रोकने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। उसने एक घोषणापत्र भी निकाला था। उस समय उसके सञ्चालक गिरफ़्तार कर लिये थे, परन्तु अब हालैंड सरकार ने उसके

प्रकाशन तथा उसकी एक लाख प्रतियाँ वितरण करने की आज्ञा दे दी है। घोषणापत्र का आशय इस प्रकार है—'हम युद्धनीति के विरोधी स्त्री पुरुष देख रहे हैं कि लोगों में शांति की भावना बढ़ रही है, और जो लोग सोल्जर नहीं बनना चाहते, उनकी संख्या शनैः शनैः निरन्तर वृद्धि करती जा रही है। अतः दृढ़ता के साथ घोषित कर हैं कि हमने निश्चय कर लिया है कि हम हर प्रकार की फ़ौजी नौकरी करने से इनकार करते हैं। केवल बारक-रूमों, टैङ्कों, युद्धसैनिकों, और हवाई-जहाज़ों की सर्विस से ही हम इनकार नहीं करते, बरन् युद्धसामग्री बनानेवाले समस्त कारखानों और ट्रांसपोर्ट के डीपुओं से भी अपनी पृथक्ता प्रकट करते हैं। सारांश यह कि कोई भी ऐसा कार्य जो युद्ध की तयारी के संबंध में होगा, हम लोग उसमें भाग न लेंगे। हम यथासम्भव युद्ध के लिये एकत्र होनेवाली सेनाओं को भी इकट्ठे होने से रोकेंगे। जो बंधु युद्ध बंद करने के पक्षपाती हों, वे हममें सम्मिलित हों और जब युद्धप्रारम्भ हो, तो उसके बंद कराने का प्रयत्न करें। इस संस्था की ओर से एक पत्र भी निकलता है, जो सदैव युद्ध के विरुद्ध प्रचार किया करता है। अमेरिकन महिलाओं ने भी अपने देश में इसी उद्देश्य से एक संस्था खोली है।

इतना ही नहीं किन्तु योरपवासियों की सभ्यता इतनी उच्चता को पहुँचती जाती है कि अब उनके वैज्ञानिक खुद ही वैज्ञानिक युध्धोपकरणों को तैयार करने के लिए रज़ामन्द नहीं हैं। तारीख १० डिसम्बर सन् १९२१ के आदर्श पत्र में लिखा है कि 'इटन नगर के प्रसिध्द अध्यापक डॉक्टर लिटिल्स्टन ने कहा था कि साल भर पूर्व युद्धविभाग (War Office) ने दो बड़े वैज्ञानिकों लिखा था कि वे एक ऐसी ज़हरीली गैस तैयार करें जो आधे मिनट में एक पूरे नगर को नष्ट कर दे। परन्तु दोनों विद्वानों ने यह जवाब दिया कि हम ऐसी विद्या का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं कर सकते'। योरप के वैज्ञानिकों में अब अधिकांश ऐसे विद्वान् हैं जो युद्धों को पसंद नहीं करते। वे नहीं चाहते कि विज्ञान के द्वारा विज्ञान-वादियों का नाश किया जाय। इस बात का प्रमाण उस पत्र से मिलता है जो जर्मन युद्ध के बाद इँगलैंड की ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसरों, डॉक्टरों और अन्य विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को लिखा था। सन् १९२० में हिन्दोस्तान पत्र में छपा था कि 'ब्रिटिश विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को पत्र लिखा है कि 'हे जर्मनी और आस्ट्रिया के वैज्ञानिको! रासायनिको! और अन्य विद्वानो! गत युद्ध के कारण थोड़े समय के लिये हम लोगों की मैत्री भङ्ग हो गई थी जिसके लिये हमें खेद है और हम जानते हैं कि आप लोगों को भी खेद हुए बिना न रहा होगा।

'हम आशा करते हैं कि पुरानी मैत्री को फिर से जोड़ने का प्रबंध दोनों ओर के विद्वान् करेंगे। युद्ध के समय स्वदेशाभिमान के कारण जो कुछ वैरबुद्धि उत्पन्न हो गई है, उसको जल्दी ही परित्याग करने की आवश्यकता है। युध्ध के समय हम लोगों का ध्यान एक दूसरे की विरुद्ध दिशाओं में था, पर अब दोनों पक्षों के बीच विद्वानों का मान एक ही समान होने से सुलह असंभव नहीं है। आध्यात्मिक शक्तियों को ध्यान में रखकर एक अथवा एक से अधिक जातियों की उचित पहिचान करने में हम लोगों को देर न करना चाहिये। राजनैतिक मत-भेद संसार की पृथक् पृथक् जातियों के बीच में विक्षेप कर रहा है, ऐसी दशा में हमको जिस संस्कृति की आवश्यकता है, उस मैत्रीभाव की संस्कृति की स्थापना के लिए जो

कुछ बन पड़े वह शीघ्र करना चाहिये'। इस पत्र से स्पष्ट हो रहा है कि युद्ध से विद्वानों को कष्ट हुआ था, अतः वे मैत्री की संस्कृति को अब मज़बूत करना चाहते हैं, जिससे भविष्य में फिर युध्द न हो। यह पत्र इँगलेण्ड के निवासियों का है। इँगलेण्डनिवासियों को लोग संसार भर से अधिक पतित समझते हैं, किंतु यहाँ के विद्वान् भी वैज्ञानिक युध्दों को अच्छा नहीं समझते। इतना ही नहीं प्रत्युत इँगलैंड में तो इतने अच्छे आदमी उत्पन्न हो गये हैं कि वे अपनी जाति के दुष्ट मनुष्यों से बचने के लिए दूसरे देश के निवासियों को सचेत करने में भी नहीं चूकते।

एक बार जापान के मारकुइस इटो ने हर्बर्ट स्पेंसर से जापान की रक्षा के लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। स्पेंसर ने रक्षा के अनेक उपाय बतलाते हुए यह भी लिखा था कि 'जापान में अँगरेज़ अथवा किसी भी विदेशी को बसने का अधिकार न देना'। कितना स्पष्ट सत्य है। इसीलिए हम कहते हैं कि जिन जातियों की सभ्यता का विकास इस प्रकार हो चुकता है वे युध्दों से, वैज्ञानिक युध्दोपकरणों से और हर प्रकार की कुटिलता से धीरे धीरे पृथक् हो जाती हैं। अतएव विज्ञानकुशल जातियों से साथ वैज्ञानिक युध्दों की तैयारी करना राजनैतिक भूल है और आर्यों के पास कलायुक्त युद्धोपकरणों के अभाव के कारण वर्णव्यवस्था को निकम्मी बतलाना उससे भी अधिक भूल है। क्योंकि सभ्य जातियों के साथ आर्यों ने सदैव वैदिक विचारों और आर्यआचारों के ही द्वारा युद्ध किया है और वैदिक विचारों तथा आर्यआचारों से ही उन्हें परास्त किया है। इस प्रकार के युद्ध पूर्व समय में हुए हैं। पूर्वकाल में यहाँ के ऋषियों ने अमेरिका, आस्ट्रेलिया, पेलिस्टाइन, मिश्र और ईरान में अपनी सभ्यता और आचार का प्रचार करके वहाँ की प्रजा को पराजित किया है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता के आदिम राजनीतिज्ञ मनु भगवान् कहते हैं कि—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनुस्मृति २।२०)

अर्थात ब्रह्मावर्त के ब्राह्मणों से समस्त संसार के मनुष्य सदाचार की शिक्षा प्राप्त करें। प्राचीन आर्य ऋषि अपनी इसी वैदिक शिक्षा—सदाचार—से संसार की समस्त जातियों को अपना शिष्य बनाकर उन पर अपना प्रभाव जमाते थे। आज भी वैदिक विचारों को प्रचारों के द्वारा और आर्यआचारों को अपने सादे और तपस्वी व्यवहारों के द्वारा हम दूसरी सभ्य जातियों तक पहुँचा सकते हैं और उन्हे प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा करना हमारी सभ्यता का एक विशेष अङ्ग है। आज यदि हम आर्यभोजन, आर्यवस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्थी के साथ अपना निर्वाह करने लगें और शृंगार, विलास तथा कामुकता को छोड़कर तपस्वी बन जायँ और देशदेशान्तरों में जाकर अपने आचार का नमूना दिखलाते हुए वैदिक विज्ञान का प्रचार करें, तो सभ्य जातियाँ हमारी सभ्यता को स्वीकार कर लें और अनायास ही परास्त हो जायँ और परतन्त्रता नष्ट हो, जाय, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। क्योंकि विदेशियों ने हमको हमारी असली सभ्यता से हटाकर ही—हमें शौक़ीन, विलासी और लोलुप बनाकर ही—गुलाम बनाया है। इसलिए यदि हम अपनी वैदिक रहन सहन में आ जायँ, तो अनायास ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। इस बात को हम अपनी एक ऐतिहासिक आख्यायिका से अच्छी तरह समझा देते हैं।

रामायण में लिखा है कि लंका जाते समय हनूमान को रास्ते में सुरसा मिली। सुरसा ने हनूमान को खा डालने के लिए मुँह फैलाया। हनूमान ने भी अपना शरीर अधिक फुला दिया। इस पर उसने अपना मुँह और भी अधिक फैलाया। तब हनूमान ने आर्यनीति का स्मरण किया और झट छोटे हो गये। इतने छोटे हो गये कि उसके मुँह में बिला गए। अत्यंत छोटा होने के कारण न तो वह उन्हें दाँतों से ही दबा सकती थी और न जिह्वा से ही टटोल सकती थी। अंत में वह लाचार हो गई और हनूमान उसके फेर से बच गये। यह आर्यनीति की आख्यायिका है। इसमें बतलाया गया है कि यदि सभ्य शत्रु अपनी विद्या, सभ्यता, धन, ऐश्वर्य, यन्त्र, शस्त्र और नीति का स्वरूप बेहद बढ़ा खा डालने के इरादे में हो तो आर्यों को चाहिए कि वे अपने अत्यंत सादे, धार्मिक और तपस्वी जीवन द्वारा हर प्रकार से उसकी महत्ता को निरर्थक कर दें। सभ्य शत्रुओं के प्रति आर्यों की सदैव यही नीति रही है। उन्होंने सदैव बर्बरों को दण्ड से और सभ्यों को उपदेश और तप से—सादगी और धार्मिकता से—ही वश में करने का आयोजन किया है। इसीलिए उन्होंने शुद्ध धर्म का केन्द्र परिव्राट् और आपद्धर्म का केन्द्र सम्राट् को माना है और बर्बरों को सम्राट् के द्वारा तथा सभ्यों को परिव्राट् के द्वारा परास्त किया है और सदैव स्वतंत्रता का ध्येय अपने सामने रक्खा है। उन्होंने स्वतंत्रता को अपनी सभ्यता का मूल माना है और सोते जागते इस बात को कभी नहीं भूले कि '**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्**' अर्थात् परवशता ही महान् दुःख है और स्वतंत्रता ही महान् सुख है। यही कारण है कि आर्यों की इस मनोवृत्ति को सफल बनाने के लिए मनु भगवान् उपदेश करते हैं कि—

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।
तस्मात् स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् आत्मबल और राजबल में अपना आत्मबल ही महान् है, इसलिए आर्यों को चाहिये कि वे अपने सभ्य शत्रु को अपने आत्मिक बल से ही निवारण करें। यही धर्म और आपद्धर्म का सारांश है। इस धर्म और आपद्धर्म के मिश्रित बल को वर्णाश्रमव्यवस्था कहते हैं। यह वर्णाश्रमव्यवस्था भारतीय वैदिक आर्यों के अतिरिक्त संसार में और कहीं नहीं पाई जाती। आर्यों का धर्म इसी में ओतप्रोत है और यही अपने शुद्ध धर्म और आपद्धर्म की विशाल नीति से लोक तथा परलोक से संबंध रखनेवाले अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करके केवल मनुष्यजाति को ही नहीं प्रत्युत समस्त प्राणि-समूह को सुखी, शांत और मोक्षाभिमुखी बनाती है। यही आर्यधर्म का आदर्श है और यही धर्म की प्रधानता का रहस्य है।

यहाँ तक हमने आर्यसभ्यता का संक्षेप से वर्णन करके दिखलाया और बतलाया कि आर्यों ने वेदों के उपदेशों से किस प्रकार अपनी सभ्यता की रचना की और किस प्रकार उस सभ्यता को संसार के लिए उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध किया। आर्यों की सभ्यता के इस प्रकार उपयोगी होने का कारण उसकी स्वाभाविकता है और स्वाभाविकता का कारण उसकी अपौरुषेयता ही है। यह अपौरुषेय आर्यसभ्यता मनुष्यकृत नहीं है, प्रत्युत वह परमात्मा की सुझाई हुई है। जिस प्रकार परमात्मा ने सृष्टि के आदि में आर्यों को उत्पन्न किया है,

उसी प्रकार परमात्मा ने ही उनकी सभ्यता को भी वैदिक ज्ञान के द्वारा निर्माण करने की सूचना दी है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता संसार के समस्त मनुष्यों, पशु पक्षियों, कीट-पतङ्गों और तृण-पल्लवों को एक ही समान लाभदायक तथा सबको लोक परलोक के सुखोंकी देनेवाली सिद्ध हुई है। हमने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि यह सभ्यता वेदमंत्रों के आधार पर रची गई है और पर्याप्त वेदमंत्रों को लिखाकर तथा आर्यसभ्यता की रचना को दिखलाकर स्पष्ट कर दिया है कि दोनों अंग एक दूसरे में ओतप्रोत हैं। यही वेदों की शिक्षा का रहस्य है और इस चतुर्थ खण्ड का सारांश है।

इस चतुर्थ खण्ड ही में इस पुस्तक के प्रधान प्रतिपाद्य विषय का वर्णन है। हमने उपक्रम में जिस आधुनिक योरपीय नेचरवाद से संबंध रखनेवाली विचारमाला को लिखकर और उसमें कई एक त्रुटियों की सूचना देकर इस पुस्तक का उपक्रम किया है, उसी भाव को इस चतुर्थ खण्ड में विस्तार से दिखलाया दिया है और उन त्रुटियों की पूर्ति का उपाय भी इस चतुर्थ खण्ड ही में बतला दिया है। हमने इस 'वैदिक सम्पत्ति' के चारों खण्ड लिखकर क्रम से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वेद ही ईश्वरीय ज्ञान हैं, इसलिए उनमें बतलाई हुई वर्णाश्रमव्यवस्था के द्वारा शुद्ध धर्म और आपद्धर्म के प्रतिनिधि परिव्राट् और सम्राट् की सहायता से समस्त मनुष्यसमाज को ईश्वरप्राप्ति की ओर लगाकर ही संसार को सुखी बनाया जा सकता है और इसी व्यवस्था के द्वारा सबको लोक तथा परलोक से संबंध रखनेवाले अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यही इस वैदिक सम्पत्ति का तात्पर्य है और यही संसार के सुख शांति का उपाय है।

ओश्म्

वैदिक सम्पत्ति

उपसंहार ।

वेदों के पाठ से, वैदिक साहित्य के अवलोकन से, वेदानुकूल अन्य समस्त लौकिक वाङ्मय के अनुशीलन से और आर्यों के रहन-सहन, रीत-रिवाज, तिथित्योहार, संस्कार और समस्त व्यवहारों पर एक गम्भीर दृष्टि डालने से सारी वैदिक सम्पत्ति का यही तात्पर्य निष्पन्न होता है कि मनुष्य मोक्ष को अपने जीवन का लक्ष्य मानकर ऐसा व्यवहार करें कि जिससे स्वयं दीर्घजीवन प्राप्त कर सके और किसी भी प्राणी की आयु तथा भोगों में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न न हो, प्रत्युत वर्णाश्रम के द्वारा समाज का ऐसा संगठन हो कि सरलता से सबकी रक्षा होती रहे और शिक्षा तथा दीक्षा से समस्त प्राणिसमुदाय मोक्षाभिमुखी बना रहे। आर्यों की शिक्षा और सभ्यता के किसी अङ्ग की आलोचना की जाय, तो उसकी अंतर्भावना से इसी उद्देश्य की पूर्ति की आवाज़ सुनाई पड़ेगी। आर्यों के प्राचीन किसी राजा, रानी, ऋषि, ब्राह्मण और वैश्यशूद्र आदि के जीवनचरित्र को बारीकी से पढ़ा जाय, तो उससे यही ध्वनि निकलेगी। अर्थात् आर्यों की शिक्षा और सभ्यता उपर्युक्त उद्देश्य में ओतप्रोत है। यही कारण है कि आर्यों की यह शिक्षा और सभ्यता अत्यन्त प्राचीन होने पर और अनेक प्रकार के संकटों और विपत्तियों का सामना करते हुए भी आज जीवित है। संसार में अनेकों सभ्यताओं का जन्म हुआ और विस्तार हुआ, पर आज उनका कहीं नामोनिशान भी बाकी नहीं है। किंतु आर्यों का आहार-विहार, वेश भूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, यज्ञ-याग, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, धर्म-कर्म, दया-प्रेम, दर्शन-विज्ञान, योग-समाधि, कर्म-फल, बंधमोक्ष, ब्रह्मचर्य, पातिव्रत, गोभक्ति, वाटिकाभक्ति और क्रिमी कीट आदि समस्त प्राणियों के साथ सहानुभूति आदि जितने आदिमकालीन मंतव्य और कर्तव्य हैं, वे आज भी ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। इससे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि आर्यों की सभ्यता में अपनी रक्षा कर लेने की पूरी योग्यता है और उसको चिरजीवी रखने की पूर्ण शक्ति है। इसीलिए हमने उचित समय पर उसको संसार के सामने फिर उपस्थित करने का आयोजन किया है।

योरप में इस समय एक ऐसी व्यवस्था की खोज हो रही है, जो सबको एक समान लाभदायक हो और स्वयं स्थिर रह सकने की शक्ति रखती हो। इस उद्देश्य को लेकर

योरपवासियों ने कई प्रकार की विधियाँ और व्यवस्थाएँ उपस्थित की हैं और उनकी ओर संसार की समस्त जातियाँ आकर्षित भी हुई हैं। क्योंकि संसार का यह एक प्रबल नियम है कि मनुष्य जिससे प्रभावित होता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। आज समस्त संसार में योरप प्रभावशाली है, इसलिए सभी देश इसका अनुकरण करते हैं। जब वह भौतिक उन्नति के द्वारा शृङ्गारिक अमीरत का स्वाँग भरकर धनी और निर्धन के—मालिक और नौकर के—रूप में दिखलाई पड़ा तो संसार के सभी देशों ने उसी प्रकार की नक़ल करना आरम्भ कर दिया और जब वह कामरेड संस्था के द्वारा साम्यवाद का रूप भरकर सामने आया, तो सारे संसार में साम्यवाद का प्रचार होने लगा। जिस प्रकार उसने अपनी जंगली अवस्था से निकलकर आज तक भाँति भाँति के अनेक रूप धारण करके अनेक प्रकार के नमूने दिखलाये हैं और संसार को प्रभावित किया है, उसी तरह अब वह समस्त स्वाँगों से हताश होकर और थककर खुद ही कुदरती जीवन की ओर आने का इरादा कर रहा है। इरादा ही नहीं कर रहा है, किन्तु कुदरती जीवन के अनुकूल व्यवहार भी करना आरम्भ कर दिया है। योरप के हज़ारों आदमी सैकड़ों संस्थाओं, सैकड़ों पुस्तकों और सैकड़ों पत्रों के द्वारा वर्तमान भौतिक सभ्यता का खण्डन कर रहे हैं, वर्तमान यान्त्रिक उन्नति के द्वारा उत्पन्न हुई कला और विलास तथा कामुकता का घोर विरोध कर रहे हैं और भौतिकवाद के अनिवार्य परिणाम रूप युद्धों का तिरस्कार कर रहे हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत हज़ारों मनुष्यों ने वर्तमान नागरिक जीवन का परित्याग करके जंगलों में सादा जीवन (Natural life) बिताना भी आरम्भ कर दिया है!

जिस प्रकार अब तक योरप देश की अन्य रीति-नीतियों का प्रभाव दूसरों पर पड़ा है, उसी प्रकार उसके इस कुदरती जीवन का भी प्रभाव दूसरों पर पड़ रहा है और संसार के समस्त देशों में इस प्रकार की रहन सहन की उपयोगिता की बड़ाई हो रही है। इतना ही नहीं किन्तु थोड़े बहुत मनुष्यों ने संसार के समस्त देशों में इस कुदरती जीवन के अनुकूल अपना जीवन बनाना भी आरम्भ कर दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भौतिक उन्नति का नतीजा अच्छी तरह सब पर विदित हो गया है, इसलिए अब निश्चय ही उस का अन्त होनेवाला है। क्योंकि कुदरती जीवनवादियों की सरल और सीधी बातें सबके हृदय में घर कर जाती हैं, उनकी बातें हृदय में जम जाती हैं और इस बात की उमङ्ग पैदा कर देती हैं कि वर्तमान नागरिक जीवन से हटाकर आरंभिक रहन सहन के साथ ही रहना चाहिये। लोगों को स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है कि बिना कुदरती जीवन बनाये और बिना शृङ्गारिक जीवन से हटे जनसंख्या की वृद्धि का, समता की प्रवृत्ति का, दीर्घजीवन की अभिलाषा का और ईश्वर, जीव, कर्मफल और मोक्ष आदि पारलौकिक समस्याओं का कोई अच्छा हल निकल ही नहीं सकता। ठीक है, कुदरती जीवन से उक्त समस्याओं का हल हो सकता है। सम्भव है कि सादे सीधे जीवन से ब्रह्मचर्य के लिए सहारा मिले और सादे सीधे जीवन से साम्यवाद की भी उलझन सुलझ जाय और दीर्घजीवन भी प्राप्त हो सके। पर इस योरपीय कुदरती जीवन में जो त्रुटि है जब तक वह न निकाल दी जाय तब तक यह सभ्यता चिरस्थायी नहीं हो सकती और न अधिक दिन तक मनुष्यजाति का कल्याण ही कर सकती है।

इस कुदरती सभ्यता में जो सबसे बड़ी त्रुटि है, वह यह है कि इस सभ्यता के प्रचार करनेवाले विद्वान् मनुष्य को भी कुदरत के अनुसार चलनेवाला एक प्रकार का पशु ही समझते हैं। वे सदैव मनुष्य की रहन सहन के दृष्टान्त पशुओं से ही दिया करते हैं। वे कहते हैं कि आदि में पशुओं की भाँति मनुष्य भी कुदरत की आज्ञानुसार ही चलता था, तभी सुखी था और यदि वह फिर कुदरती आज्ञाओं का पालन करने लगे तो फिर सुखी हो जाय। पर यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि मनुष्य में हम आहारविहार सम्बन्धी जो नियम देखते हैं, वे पशुओं की भाँति कुदरत की आज्ञाओं पर अवलम्बित दिखलाई नहीं पड़ते। जिस प्रकार पशु अपनी ख़ूराक को पहिचानता है और अपनी ही ख़ूराक को खाता है, उस प्रकार मनुष्य की कोई ख़ूराक नियत नहीं देखी जाती। मनुष्य सभी कुछ खा जाता है और सभी कुछ पी जाता है, पर कुदरत उस आहार का कुछ भी निर्णय नहीं करती। यही हाल उसके विहार का भी है। न उसके मैथुन का कोई समय मुक़र्रर है और न वह ऋतुमती स्त्री की गन्ध आदि से कोई सूचना ही अनुभव कर सकता है। इसलिए यह बात बिलकुल ग़लत है कि आरम्भ में मनुष्य को पशुओं की भाँति कुदरत की ओर से सूचनाएँ मिलती थीं। ऐसी दशा में इस प्रकार के विचारों और तदनुसार व्यवहारों से भविष्य में बहुत बड़ी हानि की आशङ्का है। क्योंकि जब तक इस प्रकार के विचार और आचार पढ़े लिखे लोगों के द्वारा व्यवहार में आ रहे हैं तभी तक ख़ैरियत है। परन्तु ज्यों ही कुदरत की धुन में पढ़ना लिखना छोड़ा गया त्यों ही—थोड़े दिनों में ही—लोगों की हालत जंगली हो जायगी और कुदरती जीवन छूटकर जंगली जीवन हो जायगा।

जंगली जीवन कुदरती जीवन नहीं है। क्योंकि कुदरती जीवन के अनुसार मनुष्य को केवल फल ही खाना चाहिए, पर देखा जाता है कि जंगली लोग प्रायः मांस ही अधिक खाते हैं। इसी तरह कुदरती जीवन की शिक्षा के अनुसार शृङ्गारवर्जित जीवन ही बिताना चाहिए और सन्तान कम पैदा करना चाहिए, पर जंगली लोग बड़े ही शृङ्गारप्रिय होते हैं, ख़ूब शराब पीते हैं और अमर्यादित सन्तान उत्पन्न करते हैं। सबसे बड़ा दोष तो उनमें यह है कि वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। विद्वान् जातियाँ सदैव उनको गुलाम बनाकर अपना काम कराती हैं और उनकी जंगली रहन सहन को बदलकर अपनी जैसी बना देती हैं। इसलिए जंगली जीवन में कुदरती जीवन के समाजाने की अनिवार्य आशङ्का है। यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध है। इस समय संसार में जितनी असभ्य और जंगली जातियाँ हैं, वे सब पहिले की सभ्य, उन्नत और पढ़ी लिखी ही हैं, पर कारणवश शिक्षा के छूट जाने से आज इस दशा को प्राप्त हैं। ऐसी दशा में यह कभी आशा नहीं की जा सकती कि कुदरती जीवन को स्वीकार कर लेने से—पढ़ना लिखना छोड़कर एक प्रकार का पशु हो जाने से—मनुष्य उस आदर्श कुदरती जीवन का पालन करता रहेगा जो पढ़े लिखे नेचरपरस्त पाश्चात्यों के मस्तिष्कों में घूम रहा है। वह जीवन तो तभी तक टिक सकता है जब तक शिक्षा के द्वारा भले, बुरे और हानि, लाभ का ज्ञान है। शिक्षा के बिदा होते ही कुदरती जीवनवाले लोग जंगली हो जायँगे और दूसरी शिक्षित जातियों के द्वारा गुलाम बनाये जायँगे और खुशी से दूसरों की सभ्यता को स्वीकार कर लेंगे। इसलिए विद्या और शिक्षा से

उपेक्षा करानेवाली और भोले मनुष्यों को जंगली बनाकर दूसरों का गुलाम बनानेवाली कुदरती रीति नीति और रहन सहन एकदम ही त्रुटिपूर्ण है ।

इस सभ्यता में सादगी, सदाचार, फलाहार, ब्रह्मचर्य, शान्ति और विशाल भावनाओं का जो चित्र दिखलाई पड़ता है वह नेचर का उत्पन्न किया हुआ नहीं है, प्रत्युत वह उच्च शिक्षा से ही उत्पन्न हुआ है और उच्च सभ्यता का ही फल है । मूर्ख, असभ्य और जंगली मनुष्यों के मस्तिष्क में इस प्रकार की भावनाओं का उदय हो ही नहीं सकता । ऐसी भावनाएँ तो तब उदय होती हैं । जब कई पीढ़ियों तक उच्च शिक्षा का प्रचार रहता है और शिक्षित नेत्रों को कई प्रकार के सामाजिक उतार चढ़ाव देखने को मिलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों को जो कुदरती जीवन से संबंध रखनेवाले विचार सूझे हैं उनकी सूझका भी यही कारण है । उनको उच्च शिक्षा के साथ साथ कई एक सामाजिक क्रान्तियों के भी भूत इतिहास पढ़ने को मिले हैं और कई एक क्रान्तियाँ स्वयं देखने, सुनने और अनुभव करने को भी मिली हैं । इतना ही नहीं किंतु वैज्ञानिक खोजों के द्वारा उनको यह भी निश्चय हो गया है कि मनुष्य सृष्ट्युत्पत्ति के समय हर प्रकार के रोग दोष और दुःख दरिद्रों से मुक्त था + । इसीलिए वे कहते हैं कि मनुष्य को उसी आहार–विहार और उसी रहन सहन के साथ रहना चाहिये जो आदिम काल में थी । हम भी कहते हैं कि ठीक है आरम्भिक रीति–नीति, रहन–सहन और आहार–विहार उत्तम था, इसलिए उसी प्रकार से मनुष्य मात्र को रहना चाहिये, किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वह रहन–सहन ऐसी ही थी जैसी कि नेचरवादी बतलाते हैं, क्या आदिम-कालीन मनुष्यों के सुख–शान्ति का कारण नेचर था और क्या मनुष्य की आदिमकालीन स्थिति पशुओं की सी थी ? यदि ऐसी ही थी, तो आज मनुष्यों की वह पशुता कहाँ चली गई और उसके आहार–विहार, रहन–सहन और रीति–नीति की प्रेरणा आज भी नेचर की ओर से क्यों नहीं होती ? जब आज नेचर की ओर से मनुष्य को किसी प्रकार की सूचना नहीं मिलती, तो सहज ही अनुमान कर लेना चाहिये कि आरम्भिक अवस्था में भी मनुष्य को नेचर की ओर से कोई प्रेरणा नहीं होती थी और न उस समय के सुख–शांति का कारण नेचर अथवा पशुदशा ही थी । प्रत्युत वर्तमान काल की ही भाँति उस समय की सुख-शांति का कारण भी ज्ञान, समझ और सोचने विचारने की शक्ति ही थी । जिस प्रकार आज ज्ञान, समझ और विचार करने की शक्ति शिक्षा और गुरुपरम्परा से प्राप्त होती है, उसी तरह आदिम ज्ञान परमात्मा से प्राप्त हुआ था, इसीलिए उस आरम्भिक ज्ञान, समझ और विचारशक्ति को आर्यों ने अपौरुषेय कहा है और उसी को वेद अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के नाम से सूचित किया है । इस आरम्भिक वैदिक ज्ञान में मनुष्योपयोगी वे समस्त बातें तो ज्यों की त्यों हैं ही जिनको नेचरवादी लोग उपस्थित करते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ बातें और भी हैं जिनके द्वारा वैदिक सभ्यता स्थिर रह सकती है और दूसरों के प्रभाव से अपनी रक्षा भी कर सकती है । यह बात हमारी कल्पना नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्ष है और

× Man, the pure image of God, was in the beginning witbout sin and sickness, tronble and misery–Retnrn to Nature.

सब लोगों के अनुभव योग्य है । भारतीय आर्यों की वैदिक सभ्यता लाखों वर्ष से सैकड़ों विघ्नबाधाओं का सामना करती हुई भी आज तक सुरक्षित है । इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इस सभ्यता में नेचरवादियों की सभ्यता के गुण है ही प्रत्युत कुछ विद्या और रक्षासंबंधी ऐसे भी गुण हैं जो नेचरवादियों की सभ्यता में नहीं हैं । यही कारण है कि नेचरवादी सभ्यता को किसी देश या जाति या राष्ट्र के कुछ थोड़े से व्यक्ति ही स्वीकार कर सकते हैं, सारा देश और सारा समाज नहीं । क्योंकि समस्त समाज के स्वीकार कर लेने से थोड़ी ही पीढ़ियों के बाद समस्त समाज के जंगली हो जाने का डर है और दूसरी सभ्य जातियों से अपनी और अपनी सभ्यता की रक्षा कर लेना कठिन है । पर वैदिक आर्यसभ्यता में इस प्रकार के भय की आशङ्का नहीं है, इसलिए मनुष्यजाति के लिए वैदिक आर्यसभ्यता ही उपयोगी है, अन्य कोई नहीं ।

वैदिक आर्यसभ्यता वैदिक होने से ही अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय कहलाती है । क्योंकि सनातन से आर्यों का यही विश्वास रहा है कि वेद अपौरुषेय ही—ईश्वरीय हैं । किन्तु आर्यों में अनेकों अनार्य जातियों के सम्मिश्रण के कारण वैदिक और लौकिक साहित्य में नवीन विचारों और नवीन आचारों का प्रक्षेप हो गया है, जिससे वेदों की अपौरुषेयता में लोगों को शंका होने लगी है । लोग कहते है कि वेदों में हिंसा, असभ्यता, इतिहास और ज्योतिष-संबंधी वर्णनों से ज्ञात होता है कि वे ईश्वरीय नहीं हैं, प्रत्युत बहुत ही अर्वाचीन हैं और बहुत ही साधारण ज्ञानवालों की रचना हैं । इसके सिवा पाश्चात्य विज्ञान का सहारा लेकर लोग यह भी कहते हैं कि जब मनुष्य अपने उत्पत्तिकालसे ही विकास के द्वारा क्रम क्रम उन्नति करता हुआ आगे बढ़ रहा है तब उसको अपौरुषेय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है ? यद्यपि सुनने में ये बातें ठीक प्रतीत होती हैं, पर इनमें कुछ भी सार नहीं है । क्योंकि जो वेद कहते हैं कि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो और 'सभ्य सभां मे पाहि' अर्थात् हे सभ्य इस मेरी सभा की रक्षा कर, उन वेदों में हिंसा और असभ्यता की आशंका करना नितान्त ही अनुचित है । इसी तरह इतिहास में आये हुए पुरूरवा, नहुष, ययाति, पुरु, अत्रि, जमदग्नि, व्रज, अर्व, अयोध्या, गंगा और सरस्वती आदि नामों को वेदों में देखकर इतिहास की आशंका करना भी उचित नहीं है ।

क्योंकि वेदों में ये नाम सूर्य, नक्षत्र, विद्युत्, किरण, नेत्र, गौगोष्ठ, शरीर और वाणी आदि के लिए आये हैं । किसी खास व्यक्ति, जाति और समाज अथवा देश नगर के लिए नहीं । हाँ, इतिहासों और पुराणों में ये नाम व्यक्तियों के लिए अवश्य आये हैं, परन्तु उन व्यक्तियों का नामकरण करने के पूर्व भी ये नाम उपस्थित थे और अपना कुछ अर्थ रखते थे । अर्थात् पुरूरवा, अत्रि, व्रज, अयोध्या और गंगा आदि का नाम रखते समय ये शब्द कल्पित नहीं कर लिये गए थे, प्रत्युत ये शब्द इन व्यक्तियों के पहिले भी मोजूद थे और अन्य पदार्थों के नामों के लिए काम में आते थे । यह बात हम आज भी अनुभव करते हैं । आज भी हमको जब किसी पदार्थ के नामकरण की आवश्यकता पड़ती है, तो नामवाले शब्द हमारे पास पहिले ही से सुरक्षित मिलते हैं और उन्हीं में से चुनकर हम अभीष्ट पदार्थ का नाम रख देते हैं ।

इसी तरह पुरूरवा आदि राजाओं के भी जब नाम रक्खे गये थे तब भी पुरूरवा आदि

नाम उनके पिता के पास पूर्व से ही उपस्थित थे । इसलिए वेद में आये हुए शब्द व्यक्तियों के बाद के नहीं हैं प्रत्युत व्यक्तियों से बहुत काल पूर्व के हैं । रहा वेदों में कहीं कहीं पुरूरवा आदि शब्दों के साथ साथ युद्ध, विवाह और ऐसी ही अनेक् सामाजिक बातों का वर्णन, वह मनुष्यों का नहीं प्रत्युत आकाशीय पदार्थों का है । क्योंकि वेदों में अनेक आकाशीय जगत् का भी वर्णन है. जिसमें इस लोक की ही भाँति समस्त पदार्थों की चरचा की गई है ।

इसी अलौकिक चरचा के साथ लौकिक व्यक्तियों के चरित्रों का सम्मिश्रण करके पुराणकारों ने वेद के आकाशीय वर्णनों और अलङ्कारा के भावों का विस्फोट किया है । भागवत १।४ २८ में स्पष्ट लिखा है कि 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः' अर्थात् भारतीय इतिहास के मिष से वेद का अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है । इसीलिए महाभारतकार* कहते हैं कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' अर्थात् इतिहास और पुराणों से ही वेदों का मर्म जाना जाता है । कहने का तात्पर्य यह कि वेदों में इतिहास से संबंध रखनेवाला कुछ भी वर्णन नहीं है । इसी तरह वेदों में ज्योतिषसंबंधी भी किसी ऐसी घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का समय निकाला जा सके । यदि वेदों में काल सूचित करानेवाले ज्योतिषसंबंधी वर्णन होते, तो उनमें वधू को ध्रुवतारा दिखलाने का वर्णन अवश्य होता । क्योंकि सभी जानते हैं कि विवाह के समय वधू को ध्रुवतारा का अवलोकन करना आर्यों का बहुत प्राचीन रिवाज है । इस क्रिया का वर्णन सूत्रग्रंथों में भी आया है, परन्तु वेदों में इसका वर्णन नहीं है । यदि वेदों में ध्रुवतारे के अवलोकन का वर्णन होता, तो इस घटना से निस्सन्देह ज्योतिष की गणना के द्वारा वेदों का समय निकाला जा सकता । क्योंकि ध्रुवतारा हमेशा से इस स्थानपर नहीं है । वह दो हज़ार वर्षों से ही इस स्थान में आया है । इसके पूर्व अर्थात् सन् ईस्वी के २८२७० वर्ष पूर्व इस ध्रुव के स्थान में दूसरा ही तारा था, परन्तु उसका भी वर्णन वेद में नहीं है + ।

इस घटना से बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में ज्योतिषसंबंधी किसी भी ऐसी घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का समय निकाला जा सके । क्योंकि जब वेदों में आर्यों के विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक संस्कार की अत्यंत आवश्यक क्रिया का भी वर्णन नहीं है, अर्थात् जब ज्योतिषसंबंधी ध्रुव अवलोकन

+ In the Hindu marriage ceremony according to the Grihya Sutra the polar star is pointed to the bride as an ideal of steadiness and faithfulness. The custom is observed all over India. The present polar star on the northern hemisphere is Alpha of the Little Bear. But alreaby 2,000 years ago this star was so far distant from the celestial pole that in the Vedic antiquity could not possibly have been considered as the polar star. Its place was at that time, accnrately in 28,270 B C., occupied by Alpha Draconis, this being the only star bright enough to serve the purpose of the polar star. Since in Rigveda hymns themselves this custom of pointing out the polar star is not (yet) mentioned.

–Hymns from Rigveda, Appendix, by. R. Zimmerman.

का भी वर्णन नहीं है, तब ज्योतिषसंबंधी दूसरी ऐसी घटनाओं के वर्णन की आशा रखना, जिनसे वेदों का समय निकल सके, नितान्त भ्रम है। इसलिए वेदों का समय न तो ऐतिहासिक शब्दों से निकाला जा सकता है और न ज्योतिषसंबंधी किसी घटना से ही। इसका कारण यही है कि वेदों का प्रादुर्भाव किसी ऐतिहासिक काल में नहीं हुआ, प्रत्युत उस समय हुआ है, जिस समय मनुष्यों की उत्पत्ति का प्रारम्भ था, इसलिए वेदों की आदिमकालीनता पर कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

वेदों की इस आदिमकालीनता के प्रबल प्रमाण आर्यों के आदिमकालिक इतिहास में सुरक्षित हैं। आर्यों की ऐतिहासिक खोज को पूर्वकाल की ओर बढ़ाने से वेदों का समय आदिसृष्टि तक जा पहुँचता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के सरकारी दफ्तर से मेगस्थनीज़ ने जो राजवंशावलि प्राप्त की थी, उसकी पीढ़ियों और उन पीढ़ियों के लिए दिये हुए वर्षों को आज तक जोड़ने से ८७०१ वर्ष होते हैं। यह नौ हज़ार वर्ष का समय संसार की समस्त सभ्यताओं से अधिक प्राचीन है। मिश्र, बेबिलन और सीरिया आदि देशों की प्राचीन से भी प्राचीन सभ्यताएँ इसके बाद ही की सिद्ध होती हैं। परन्तु आर्यों के इतिहास में इस काल के पूर्व का ऐतिहासिक प्रमाण भी शतपथ ब्राह्मण में विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।१८ में लिखा है कि 'एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पूर्णमासी' अर्थात् निश्चय ही यह फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर की प्रथम रात्रि है। यह उस समय का वाक्य है, जिस समय फाल्गुनी पूर्णमासी से संवत्सर का प्रारम्भ होता था। ज्योतिषियों ने हिसाब लगाया है कि उस समय वसन्तसम्पात उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में होता था। परन्तु इस समय वसन्तसम्पात पूर्वाभाद्रपद में होता है। अर्थात् सम्पात की एक पूर्ण प्रदक्षिणा हो चुकी है और अब दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा में २१००० वर्ष लगते हैं, अतः इक्कीस हज़ार वर्ष की प्रदक्षिणा को पूर्ण करके एक हज़ार वर्ष से दूसरी प्रदक्षिणा आरम्भ हो गई है, अतएव शतपथ ब्राह्मण का उक्त वाक्य २२००० वर्ष का प्राचीन है। उक्त वाक्य में आँखों देखा वर्णन है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि शतपथ ब्राह्मण का यह भाव बाईस हज़ार वर्ष का पुराना है।

जिन ब्राह्मणग्रंथों की प्राचीनता इतनी पुरानी है, उन्हीं ब्राह्मणों के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इन ब्राह्मणों के पूर्व भी एक पूर्ण साहित्य और भी उपलब्ध था, जिसमें छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और अन्य अनेकों विद्याओं के ग्रन्थ उपस्थित थे। उपनिषदों में जहाँ तहाँ 'तदेष श्लोकः' लिखकर जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं, वे उसी लुप्त साहित्य के हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रंथों में वेदों के नवीन और प्राचीन ऋषियों का भी वर्णन आता है। ऐसे ऋषियों का वर्णन आता है, जो इस समय वेदों के ऋषि नहीं माने जाते, किन्तु किसी समय माने जाते थे। इतना ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणग्रंथों में वेदों के खैलिक (प्रक्षिप्त) भागों और वेदों की अनेकों शाखाओं का भी वर्णन आता है, जिससे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान ब्राह्मणसाहित्य के पूर्व भी एक विस्तृत साहित्य उपस्थित था, जो अब अप्राप्य है।

इस साहित्य को भी यदि हम पच्चीस हज़ार वर्ष से भी आगे पच्चीस हज़ार वर्ष पूर्व तक ले जायँ, तो कोई आपत्ति की बात नहीं दिखलाई पड़ती। क्योंकि वर्णमान सूर्य-

सिद्धांत जिस प्राचीन सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बनाया गया है, उसका समय त्रेता के आदि तक जा पहुंचता है, जिसके लिए लाखों वर्ष का समय आवश्यक है ।

इस साहित्य के पूर्व वेद के उन ऋषियों का समय आता है, जो इस समय वेद के मन्त्रों पर लिखे हुए हैं । इनका समय उपर्युक्त साहित्य भी प्राचीन है । इन ऋषियों के साथ ही साथ वेदों के सूक्तों पर अब तक अत्यंत प्राचीन अर्थात् आदिमकालीन ऋषियों के भी नाम लिखे हुए मिलते हैं । इन आदिमकालीन ऋषियों में सबसे प्रधान ऋषि मनुष्यजाति के आदि पितामह भगवान् वैवस्वत मनु हैं । मनुष्यजाति का प्रारम्भ इन्हीं वैवस्वत मनु के शासनकाल में हुआ है, इसीलिए मनुसम्बन्धी होने से मनुष्य मनुष्य कहलाते हैं । इन आदिम मनु का नाम ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के साथ ऋषियों में लिखा हुआ है । इतना ही नहीं प्रत्युत ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में लिखा है कि वैवस्वत मनु ने अपने छोटे पुत्र नाभानेदिष्ठ को दो सूक्त भी दिये थे । यही कारण है कि ऋग्वेद मण्डल दश के ६१ वें और ६२ वें सूक्त का ऋषि मनुष्य नाभानेदिष्ठ ही आज तक लिखा हुआ आ रहा है । ऐसी दशा में वेदों की प्राचीनता मनुष्य की आदिमकालीनता तक जा पहुँचती है, इसमें सन्देह नहीं ।

अब रही बात वेदों की अपौरुषेयता की । इस पर लोग कहते हैं कि जब विकासक्रम से मनुष्य अपनी उन्नति करता हुआ आज तक आ रहा है, तब उसके लिए अपौरुषेय ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है । वह तो अनुभव के द्वारा धीरे धीरे वंशानुक्रम से आप ही आप ज्ञानवृद्धि कर सकता है, इसलिए अपौरुषेय ज्ञान का पचड़ा लगाना ठीक नहीं है । सुनने में यह बात ठीक मालूम होती है, परन्तु जब हम अनुभव और वंशपरम्परा पर ध्यान देते हैं, तो ज्ञात होता है कि मनुष्य का ज्ञान वंशपरम्परा के अनुभव का फल नहीं है । हम रोज देखते हैं कि पतंगा चिराग़ के पास आता है और आँच लगने पर भागता है, पर फिर आता है और अन्त में जल मरता है । उसका अनुभव उसकी ज्ञानवृद्धि में कुछ भी सहायता नहीं करता और न यह अनुभव पतिङ्ग के वंशजों में कुछ भी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है । जिस तरह लाखों वर्ष पूर्व पतिङ्गे चिराग़ में जलते थे, उसी तरह उनके वंशज आज भी जलते हैं । पतिङ्गों को जाने दीजिये, हम तो देखते हैं कि इस ज्ञानवान् प्राणी मनुष्य के वंशजों में भी अनुभव के संस्कार नहीं उतरते ।

यह कहीं नहीं देखा गया कि अमुक खानदान में दश पीढ़ी से पण्डिताई हो रही है, इसलिए अब उस खानदान में जो लड़के पैदा होते हैं, उनको पढ़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत वे पढ़े पढ़ाये ही पैदा होते हैं । जब यह बात देखने में नहीं आती तब कैसे मान लें कि पिता का अनुभव पुत्र को मिलता है ? संसार में तो इससे उलटा देखा जाता है । संसार में तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि भारतवर्ष के प्राचीन ऋषि मुनि जितने उन्नत थे, जितने ज्ञानपटु थे और जितने योद्धा थे, उनके वंशज वैसे नहीं हैं । ऋषिवंशजों से तो उनकी पुरानी पूँजी भी जाती रही है । ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अनुभव से बढ़ता है और आप ही आप वंशजों को मिलता है । ज्ञान यदि स्वयं उपार्जित होता, तो अनुभव से बढ़ता और पैतृक संस्कारों के द्वारा आप ही आप वंशजों को मिलता । किंतु ज्ञान तो नैमित्तिक है—दूसरे के निमित्त से मिलता है—इसलिए वह आप ही आप वंशजों में संक्रमित नहीं हो सकता ।

आज जब इतनी ज्ञानोन्नति हो जाने पर भी मनुष्य अपने अनुभव से ज्ञान की उन्नति नहीं कर सकता—कोई जंगली मनुष्य अपने आप बिना पढ़े पढ़ाये ही रेखागणित का आचार्य नहीं हो जाता तो— उस समय जब मनुष्य आदिम दशा में था—नवजात था—कैसे कहा जा सकता है कि उसने अपने अनुभव से ज्ञान में उन्नति कर ली और वह ज्ञान उसके वंशजों में संक्रमित हो गया ? ऐसी दशा में वही कहा जा सकता है कि नैमित्तिक होता है और आदिसृष्टि में वह ज्ञान मनुष्यों को परमात्मा के ही निमित्त से मिला है।

परमात्मा के निमित्त से जो ज्ञान आदि में मनुष्यों को मिला है, उसी को अपौरुषेय ज्ञान—वेद—कहते हैं। यह वेदज्ञान जिस भाषा के द्वारा दिया गया है, उस भाषा की उत्पत्ति संसार की किसी भाषा से नहीं हुई और न वह भाषा संसार की किसी आवाज़ की नक़ल से या मनुष्य के स्वाभाविक उच्चारणों से आप ही आप उद्भुत हुई है। क्योंकि हम संसार में देखते हैं कि जिस प्रकार की वर्णात्मक ध्वनि मनुष्य के मुख से निकलती है, उस प्रकार की स्पष्ट ध्वनि संसार में और किसी स्थान से नहीं निकलती। इसलिए मनुष्य अपने वर्गों को दूसरी ध्वनियों से नक़ल नहीं कर सकता। यदि बाहरी ध्वनियों से मनुष्य वर्णों की नक़ल कर सकता तो आज संसार में किसी भी जाति की वर्णमाला अपूर्ण न होती। सब लोग बाहरी ध्वनियों से वर्णमाला बढ़ा लेते। पर बात यह नहीं है। जिनकी भाषाओं में टवर्ग नहीं है, वे टवर्ग को बिना मनुष्य के मुख से सुने और किसी सूरत से भी उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए भाषा बाह्य ध्वनियों से नहीं बन सकती। इसी तरह भाषा आप ही आप मनुष्य के मुख से भी नहीं निकल सकती। क्योंकि मनुष्य वही वर्ण बोलता है, जो सुनता है। जो वर्ण नहीं सुनता उसको बोल भी नहीं सकता।

इसलिए भाषा न तो बाह्य ध्वनियों से नक़ल की जा सकती है और न आप ही आप मनुष्य के मुख से ही निकल सकती है, प्रत्युत वह केवल परमात्मा की ही प्रेरणा से उत्पन्न हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं। दूसरा उपाय अपभ्रष्टता का है। दूसरी भाषाओं से अपभ्रष्ट होकर नवीन भाषाएँ बन सकती हैं, परन्तु वेदभाषा किसी दूसरी भाषाओं का अपभ्रंश भी नहीं है। क्योंकि अपभ्रंश सदैव क्लिष्ट उच्चारणों से सरल उच्चारणों की ओर और विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर जाता है। हम देखते हैं कि वेदों की वर्णमाला संसार भर की वर्णमाला से विस्तृत और क्लिष्ट है। इसमें ऋ, ऌ, ष, क्ष, ज्ञ, घ, छ, ढ, ध, भ, ङ, ण, ञ और ᳵ आदि ऐसे उच्चारण हैं, जो इसकी क्लिष्टता और विशालता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, इसलिए वह दूसरी भाषाओं का अपभ्रंश नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह कि जो वैदिक भाषा किसी भाषा का अपभ्रंश नहीं है, मौलिक है, वह न तो आप ही आप उच्चरित हो सकती है और न वह संसार की आवाज़ों से नक़ल ही की जा सकती है। इसलिए वह अपौरुषेय है और उस भाषा को मनुष्य तक पहुँचानेवाला सिवा परमात्मा के और कोई नहीं है। वैदिक भाषा की प्रेरणा परमात्मा ने ही की है, पर स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा ने इस भाषा को निष्प्रयोजन नहीं दिया। उसने मनुष्य को उन्नति करने के लिए इसे दिया है, इसलिए वेदभाषा सार्थक है और उसी अर्थसहित भाषा को वेद अर्थात् वेदज्ञान कहते हैं।

संसार में जितनी भाषाएँ फैली हैं, सब उसी वैदिक भाषा का ही अपभ्रंश है। इसी तरह संसार में गणित, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन और धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान फैला है, वह भी वेदों के ही ज्ञान से फैला है। जिन वैदिक ऋषियों ने संसार में भाषा, ज्ञान, धर्म और सभ्यता का विस्तार किया है, वे कहते हैं कि इस ज्ञान का प्रचार करनेवाला 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः' अर्थात् पूर्वजों का भी गुरु परमात्मा ही है। उसी के श्वासभूत वेदों के द्वारा आदिसृष्टि में यह ज्ञान प्राप्त है। इसलिए नेचरवादी जो कहते हैं कि आरम्भ में मनुष्य हर प्रकार से सुखी था, इसका यही कारण है कि वह परमेश्वर के दिये हुए वैदिक ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न हुआ था और उसी के अनुसार व्यवहार करता था और हर प्रकार से—सुखी भी था। इस वर्णन से सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि मनुष्य की सुख शांति का वही मार्ग उत्तम हो सकता है जो आदिमकाली है और ईश्वरप्रदत्त वेदानुकूल है।

यद्यपि यह सत्य है कि वेदज्ञान ईश्वरीय है और उसी के अनुसार मनुष्य का व्यवहार होना चाहिये, किन्तु हम देखते हैं कि आज संसार में नाना प्रकार की मनमानी सभ्यताओं को स्थिर करने के लिए प्रत्येक जाति के लोग अपने अपने बच्चों को नाना प्रकार की प्रवृत्तिवाली शिक्षा दे रहे हैं। यदि उनसे कोई उन शिक्षाओं के विषय में यह पूछे कि आप लोग किस अधिकार से अपने बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा देते हैं तो वे सिवा इसके की बच्चों को हमने पैदा किया है और पालन किया है, इसलिए हमको अधिकार है कि हम उनको अपनी रुचि के अनुसार अमुक रीतिनीति की शिक्षा दें और कोई दूसरा उत्तर नहीं है। परन्तु यदि कोई फिर प्रश्न करे कि क्या बच्चों ने आपके पास कोई दरख्वास्त भेजी थी कि आप हम पैदा कीजिये, पालिये और मनमाने ढंग की शिक्षा देकर अपनी रुचि का बना डालिये ? तो सिवा इधर उधर की बातें बनाने के और कोई उत्तर नहीं बन सकता। इसलिए संसार की किसी जाति या मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह शिक्षा के नाम से, सभ्यता के नाम से और धर्म के नाम से अपने बच्चों को या संसार के किसी भी मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार अमुक रीतिनीतिवाला बनाये। क्योंकि शिक्षा की मनमानी नीति स्वीकार करने से—भविष्य सन्तान को केवल अपने मनोरञ्जन का खिलौना बनाने से—संसार में कभी सुख और शांति स्थापित नहीं हो सकती, अतएव शिक्षा और धर्मप्रचार की नीति ऐसी होनी चाहिये, जो संसार में किसी प्राणी के प्रतिकूल न हो। ऐसी शिक्षा वैदिक शिक्षा ही है, जो आदिसृष्टि में परमात्मा की ओर से प्राणिमात्र के सुखशान्ति के लिए दी गई है, अतः वही शिक्षा मनुष्य और अन्य प्राणिसमुदाय की स्वाभाविक इच्छाओं के अनुकूल है।

हम संसार में देखते हैं कि सभी मनुष्य दीर्घजीवन, ज्ञान, मान, काम, न्याय और मोक्ष की इच्छा रखते हैं और अन्य सभी प्राणी ज्ञान, मान और न्याय आदि बातों का ज्ञान न रखते हुए भी दीर्घ जीवन की कामना एक समान ही करते हैं। इसलिए समस्त मनुष्यों को दीर्घजीवन, ज्ञान, मान, काम, न्याय और मोक्ष प्राप्ति का समान स्वत्व दिलानेवाली और समस्त प्राणिसमूह को पूर्ण आयु जीने की सुविधा दिलानेवाली केवल वेदों की ही शिक्षा है, अन्य कोई नहीं। वैदिक शिक्षा ही ऐसी है जो प्राणिमात्र के दीर्घजीवन की सुविधा का ध्यान रखते हुए समस्त

मनुष्यों को उनकी इच्छाओं में विवेक उत्पन्न कराकर और समान स्वत्व दिलाकर सब को मोक्ष की ओर अग्रसर करती है।

मनुष्य भी ये इच्छाएँ दो श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं। पहिली श्रेणी में काम, अर्थ और मान है और दूसरी श्रेणी में ज्ञान, न्याय और दीर्घजीवन है। काम का दूसरा नाम पुत्रैषणा है, अर्थ का दूसरा नाम वित्तैषणा है और मान का दूसरा नाम लोकैषणा है। वैदिक शिक्षा के अनुसार ये तीनों ऐषणाएँ त्याज्य हैं। काम के लिए गीता में स्पष्ट लिखा है कि 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणः' अर्थात् काम ज्ञानियों का नित्य वैरी है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि 'किं प्रजया करिष्यामः' अर्थात् संतति से क्या लाभ है? इसी तरह अर्थ (धन) के लिए भी लिखा है कि—

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

अर्थात् अधम मनुष्य धन की इच्छा करते हैं, मध्यम मनुष्य धन और मान की इच्छा करते हैं और उत्तम मनुष्य केवल मान ही की इच्छा करते हैं। यहाँ धन को निकृष्ट दर्जा दिया गया है और मान को उत्तम कहा गया है परन्तु मनुस्मृति में ब्राह्मण के लिए मान की इच्छा भी विष के तुल्य ही हानिकारक बतलाई गई है। मनु भगवान् कहते हैं कि—

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ (मनु० २।१६२)

अर्थात् ब्राह्मण मान से सदैव विष की तरह डरे और अपमान की सदैव अमृत के समान इच्छा करे। वैदिक शिक्षा के इन आदर्शों से ज्ञात होता है कि आर्यसभ्यता में काम, अर्थ और मान के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है। वैदिक आर्यसभ्यता के मूलप्रचारक भगवान् मनु कहते हैं कि—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥ (मनु० १२।३८)

अर्थात् तमोगुण का लक्षण काम है, रजोगुण का अर्थ है और सतोगुण का धर्म है। ये तीनों उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आर्यसभ्यता में अर्थ, काम और मान अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की बेहद भरमार का महत्त्व नहीं है, किंतु उतने ही अर्थ, काम और मान का महत्त्व है, धर्मपूर्वक प्राप्त होता हो। क्योंकि धर्मपूर्वक ही अर्थ, काम और मान के संग्रह से मनुष्यों और अन्य प्राणियों को एक-समान सुख मिल सकता है और सब प्राणी अपने भोगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण आयु जी सकते हैं। यह बात मरने के समय ठीक ठीक समझाई पड़ती है। उस समय समस्त ऐषणाएँ बिदा हो जाती हैं और यह भावना उदय हो जाती है कि समस्त अर्थ, काम और मान को लेकर भी यदि कोई दो दिन और जीने का उपाय कर दे तो हम अर्थ, काम और मान की व्यर्थ ममता का प्रायश्चित्त कर लें। इसीलिए आर्यसभ्यता में उपर्युक्त तीनों ऐषणाओं का त्याग आवश्यक

बतलाया गया है और मनुष्य की स्वाभाविक इच्छाओं की दूसरी श्रेणी को जिसमें ज्ञान, न्याय और दीर्घजीवन सम्मिलित हैं, बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है।

इस दूसरी श्रेणी में ज्ञान का दर्जा बहुत ही बड़ा है। क्योंकि ज्ञान ही से न्याय और दीर्घजीवन की महत्ता समझ में आती है। ज्ञान ही से बुद्धि अर्थात् सत्त्व जाग्रत होता है। और 'सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः' के अनुसार सत्त्व अर्थात् बुद्धि का जो उत्तम परिणाम धर्म है, उसकी प्रवृत्ति होती है। धर्म की प्रवृत्ति से समस्त प्राणियों के प्रति न्यायबुद्धि और अपने प्रति दीर्घजीवन की अभिलाषा उत्पन्न होती है। समस्त प्राणियों के प्रति न्याय का भी यही अभिप्राय है कि किसी की आयु और भोगों में विघ्न न हो अर्थात् किसी प्राणी की स्वाभाविक आयु में बाधा न पड़े। इस प्रकार से धार्मिक बुद्धि की विस्तृत और सूक्ष्म अवलोकनशक्ति के कारण अन्तिम और प्रधान ध्येय यही स्थिर हो जाता है कि कोई कभी न मरे। इस कभी न मरने के उद्देश्य के सामने अर्थ, काम, मान, ज्ञान, और न्याय सब फीके पड़ जाते हैं और सारी उलझन सुलझकर यह तत्वज्ञान उपलब्ध होता है कि संसार में कभी न मरने की इच्छा-धारा अविच्छिन्न रूप से वह रही है। कभी न मरने की इस अविच्छिन्न अभिलाषा का स्पष्ट अर्थ यही है कि कोई कभी पैदा न हो और कभी पैदा न होने का अर्थ भी यही है कि एक बार मरकर फिर न मरना पड़े। इसीलिए कहा गया है कि '**को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः**' अर्थात् वही मरा है जिसको फिर न मरना पड़े। इसी को अतिमृत्यु कहते हैं। यही दीर्घजीवन की अभिलाषा का रहस्य है। इसी अभिलाषा की प्रेरणा से प्रत्येक प्राणी चाहता है कि मैं कभी न मरूँ।

लोक की अभिलाषा रखनेवाले समस्त प्राणियों की अन्तिम सम्मति यही है कि कोई कभी न मरे और परलोक की अभिलाषा रखनेवालों की यही सम्मति है कि एक बार मरकर फिर न पैदा होना न पड़े। अर्थात् वर्तमान ज़िन्दगी से लेकर मरने की ज़िंदगी के बाद तक दीर्घजीवन की—कभी न मरने की—अविच्छिन्न जीवनेच्छा समस्त प्राणिसमुदाय में एकसमान विद्यमान है और सब इसी इच्छा की पूर्ति में लग रहते हैं कि हम कभी न मरें। अतएव इस सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धांत के अनुसार समस्त संसार की शिक्षाओं में केवल वेदों की ही शिक्षा उपयोगी ठहरती है। क्योंकि वही शिक्षा इस लोक में सबको दीर्घजीवन प्राप्त करने का उपाय बतलाती है और वही शिक्षा परलोक में भी सबको अनन्त जीवन प्राप्त करने का उपाय बतलाती है। इसलिए अब देखना चाहिये कि दोनों लोकों में दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिए वह शिक्षा क्या उपाय बतलाती है। दोनों लोकों में अनन्त जीवन प्राप्त करने के लिए वैदिक आर्य सभ्यता सात्त्विक आहार, उत्तम जल, वायु और उचित श्रम का सेवन, ब्रह्मचर्य का पालन, चिंता का त्याग, सदाचरण, सङ्गीत और प्राणायाम आदि सात उपायों की शिक्षा देती है, जो सर्वमान्य हैं। इसलिए हम यहाँ केवल इनका थोड़ा थोड़ा वर्णन करके बतला देना चाहते हैं कि ये सातों उपाय किस प्रकार सबको समान रूप से दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाले हैं।

सबसे पहिला उपाय सात्त्विक आहार है। सात्त्विक आहार में दूध, दधि, घृत, फल, फूल और हविष्यान्न की गणना है। अब देशी और विदेशी सभी वैद्यों और डॉक्टरों ने मान लिया है कि इन पदार्थों के आहार से मनुष्य बीमार नहीं होता, सदैव तरोताज़ा रहता है और

दीर्घजीवी होता है। इसके सिवा इन सात्त्विक आहारों से बल, कांति, मेधा, रूप, स्मृति और धारणा आदि अनेक दैवी शक्तियों की भी प्राप्ति होती है। इसलिए दीर्घजीवन प्राप्त करनेवालों के लिए सदैव दूध और फलों का ही सेवन करना चाहिये।

भोजन के बाद दीर्घजीवन से संबंध रखनेवाली दूसरी चीज़ हवा, पानी और मेहनत है। हवा पानी शहरों का अच्छा नहीं है। इसलिए शहरों से बाहर जंगल में साद और साफ़ घरों में रहना चाहिये और फल तथा दूध उत्पन्न करनेवाले श्रम को मर्यादा के साथ करना चाहिये। ये पदार्थ वाटिकाओं और चरागाहों के द्वारा गौवों से प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए वाटिकाओं के लगाने और चरागाहों के ही बनाने में श्रम करना चाहिये, दण्ड बैठक और हॉकी क्रिकेट आदि में नहीं।

दीर्घजीवन की सहायक तीसरी बात चिन्ता की निवृत्ति है। जो मनुष्य सदा चिंताग्रस्त रहते हैं, उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी कवि ने सत्य ही कहा है कि—

> चिता चिंता द्वयोर्मध्ये चिंता याति गरीयसी।
> चिता दहति निर्जीवं चिंता दहति जीवितम्॥

अर्थात् चिता और चिंता ही बड़ी है, क्योंकि चिता केवल मुर्दों को ही जलाती है, पर चिंता तो ज़िन्दा मनुष्यों को जलाकर भस्म कर देती है। इसलिए दीर्घजीवन की इच्छा रखनेवालों को सदैव चिंता का त्याग ही करना चाहिये। जब खाने के लिए बग़ीचों से फल और गौवों से दूध मिलता है, तब चिंता किस बात की? चिंता तो केवल आहार की है पर 'का चिंता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते' अर्थात् जो परमात्मा जंगल और पशुओं को प्रदान करके सारे विश्व का भरण पोषण करता है, उसके राज्य में अपने जीवन की क्या चिंता? चिन्ता तो कामी, लोभी और ईर्षा द्वेष रखनेवाले नीचों को होती है पर जिसने अर्थ, काम और मान के व्यर्थ पाखण्ड को छोड़ दिया है, उसके लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि चिंता से शोक और शोक से दौर्बल्य प्राप्त होता है और अंत में जीवन नष्ट हो जाता है, इसलिए दीर्घजीवन की इच्छा करनेवालों को कभी चिंता न करना चाहिये।

दीर्घजीवन का चौथा उपाय ब्रह्मचर्य है। योगशास्त्र में लिखा है '**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**' अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य प्राप्त होता है और '**वीर्य बाहुबलम्**' अर्थात् वीर्य से बल प्राप्त होता है। बलवान् मनुष्य ही वाटिकाओं के लगाने और पशुओं के लिए चरागाह बनाने में श्रम कर सकता है और वीर्यवान् ही सदैव चिंता से मुक्त रह सकता है। क्योंकि वीर्य में सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मनुष्य को सदैव आनन्दित रखता है। वीर्य में एक खास प्रकार की मस्ती होती है, जो मनुष्य को सदैव प्रसन्न रखती है और चिन्तित नहीं होने देती। इसके सिवा ब्रह्मचारी ही बहुसंतान के दुःखों से भी बच सकता है और वही अमोघवीर्य होकर आवश्यक और उत्तम संतान को उत्पन्न कर सकता है, तथा वही दीर्घातिदीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। वेद में लिखा है कि '**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' अर्थात् विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को हटा सकते हैं। इसलिए दीर्घजीवन का अनुष्ठान करनेवालों को अखण्ड ब्रह्मचर्य की अत्यंत आवश्यकता है।

दीर्घजीवन का पाँचवाँ उपाय सदाचार है। जो मनुष्य चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण, मद्य मांस का सेवन, कलह, लड़ाई और अन्य अनेकों प्रकार की असभ्यता, अशिष्टता तथा ईर्षा

द्वेष आदि अनाचारों को करता है और संयम, व्रत, इन्द्रियनिग्रह आदि नहीं करता, उसकी भी आयु क्षीण हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य सदाचाररत हैं—आचरणशील हैं—चरित्रवान् हैं, वे दीर्घायु होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। मनु भगवान् कहते हैं कि '**सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति**' अर्थात् सदाचार से मनुष्य सौ वर्ष जीता है। इसका कारण यही है कि जो सदाचार के नियमों में बँधे होते हैं वे मर्यादित और व्रतयुक्त होते हैं। अतः वे अवश्य ही दीर्घजीवी होते हैं। इसलिए दीर्घजीवन चाहनेवालों को सदैव सदाचारी होना चाहिये।

दीर्घजीवन का छठा उपाय सङ्गीत है। सङ्गीत के सदृश चित्त को प्रसन्न करनेवाली और कोई वस्तु संसार में नहीं है और न प्रसन्नता के समान—आनन्द के समान—जीवनदान देनेवाली कोई औषधि ही है। अतएव दीर्घजीवन देनेवाले संगीत का अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। आर्यों ने अपने प्रत्येक कार्य में जो वेदों के सस्वर पाठ का क्रम रक्खा है, उसका यही कारण है। आर्य लोग दिन भर किसी न किसी वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान में ही रहते थे और कोई न कोई वेदमन्त्र गाया ही करते थे। परन्तु आजकल विद्वानों ने स्वर-ज्ञान को खो दिया है, इसलिए वेदों का पाठ उतना आनन्द नहीं देता जितना संगीत के साथ देता था। इसलिए दीर्घजीवन चाहनेवाला प्रत्येक आर्य को उचित है कि वह परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से सम्बन्ध रखनेवाले वेदमन्त्रों को सदैव स्वरों के साथ क़ायदे से गाने का अभ्यास करे। वैदिक गान से हृदय को आनन्द और मस्तिष्क को उच्च ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे उसको अपने समस्त कामों को नियमपूर्वक करने की सूचना मिलती रहेगी और वह दीर्घजीवन के उपायों से कभी विचलित न होगा।

दीर्घजीवन का अन्तिम और सातवाँ उपाय प्राणायाम है। क्योंकि प्राणियों की आयु प्राणों पर ही अवलम्बित है। जो प्राणी जितने ही कम श्वास लेता है, वह उतना ही अधिक जीता है। कछुवा सबसे श्वास लेता है, इसलिए वह सबसे अधिक जीता भी है। प्राणायाम से दूसरा लाभ प्राणप्रद वायु का संग्रह है। प्राणप्रद वायु के अन्दर जाने से रक्त बहनेवाले मलों की शुद्धि हो जाती है। इसीलिए मनु भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि धातुओं के मलों को जला देती है, उसी तरह प्राणायाम से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं। मलों के नष्ट होते ही शरीर निरोग हो जाता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। प्राणायाम की ये खूबियाँ अब पश्चिम के विद्वानों को भी मालूम होने लगी हैं। इसीलिए वहाँ अब प्राणायाम का खूब प्रचार हो चला है। वहाँवालों को प्राणायाम से दीर्घजीवनप्राप्ति के अनेकों प्रमाण मिल चुके हैं +। हमारे देश में तो अगले जमाने में

\+ "Young at sixty again." In an American monthly named Physical Cultuae, one writer under the above heading has written an elaborate article, the gist of which is that he suffered all sorts of ailments upto sixty, but when he took to deep breathinS as advised by Dr. Bernard Mocfadden, the premier physical culturist and prescriber of nature cure, he was fresh again. (दिग्विज्ञान पृ० ७१)

प्राणायाम का बहुत ही अधिक प्रचार था। प्रत्येक आर्य को सायं प्रातः प्राणायाम करना ही पड़ता था। यही कारण है कि यहाँ प्राणायाम की अन्तिम सीमा समाधि तक लोगों की पहुँच हो गई थी। पंजाबकेसरी राणा रंजीतसिंह के समय में हरिदास वैरागी ने श्वासरहित होकर और चालीस दिन तक जमीन में गड़कर दिखला दिया था कि किस प्रकार बिना श्वास के मनुष्य जी सकता है। यह चमत्कार उस समय जिन अँगरेजों ने अपनी आँखों से देखा था, वह उन्होंने इतिहास में लिख रक्खा है ×। इसी तरह मद्रास के एक योगी ने आकाश में उड़कर और कलकत्ता के भूमिकैलास के एक योगी ने बिना श्वास के मृतवत् होकर कितने ही योरपनिवासियों को चकित किया है। इसलिए आर्यों की प्राणायामविद्या बिलकुल ही सिद्ध है। दीर्घजीवन बनाने का यह उनका अन्तिम उपाय है। इस उपाय से वे इस लोक में दीर्घजीवन प्राप्त करते थे और इसी से समाधिस्थ होकर परमात्मा का दर्शन करके परलोक का दीर्घातिदीर्घ जीवन—मोक्ष—भी प्राप्त करते थे। कहने का अभिप्राय यह कि इन सातों उपायों से दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। पूर्वकाल में इन्हीं के द्वारा आर्यों ने दीर्घजीवन प्राप्त किया था और इस समय भी प्राप्त किया जा सकता है।

× Dr. McGregor says in his History of the Sikhs ' A novel scene occurred at one of these garden house in 1837. A fakir who arrived at Lahore engaged to bury himself for any length of time shut up in a box,. without food or drink. Ranjit disbelieved his assertions and determined to put them to proof; for this purpose the man was shut up in a wooden box which was placed in a small apartment bellow the level of the ground. There was a folding door to the box which was secured by a lock and key. Surrounding this apartment there was the garden house, the door of which was likewise locked and outside of this a high wall having the door built up with bricks and mud. Outside the whole there was placed a line of sentries, so that no one could approach the building.

The strictest watch was kept for the space of forty days and forty nights, at the expiration of which period the Maharaja attended by his grandson and several of his sirdars as well as General Ventum, Captain wade and myself proceeded to disinter the fakir. After the disenternment when the fakir was able to converse, the completion of the feat was announced by the discharge of guns and other demonstrations of joy, while a rich chain of gold was placed round his neck by Ranjit himsalf. (Reproduced from Hindu Superiority.)

इन दीर्घजीवन के उपायों में यद्यपि लोक के ही दीर्घजीवन का उपाय दिखलाई पड़ता है, पर यदि विचार से देखा जाय तो यही उपाय परलोक का दीर्घजीवन—मोक्ष—भी प्राप्त करा सकता है। मोक्षप्राप्ति के साधन भी तो यही हैं। फलाहार, सदाचार, अखण्ड ब्रह्मचर्य, वेदपाठ और प्राणायाम (समाधि) ही तो मोक्षप्राप्ति के भी उपाय हैं। मोक्षप्राप्ति भी तो उन्हीं उपायों से होती है। इसका कारण यही है कि दोनों लोकों का उद्देश्य दीर्घजीवन ही प्राप्त करना है। यहाँ भी लोग दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहते हैं और यहाँ से भी कभी मरने के लिए नहीं आना चाहते। यह इच्छा केवल मनुष्यों की ही नहीं है, प्रत्युत प्राणीमात्र का यही उद्देश्य है कि सबको दीर्घातिदीर्घजीवन प्राप्त हो। इसीलिए लोक और परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले दोनों दीर्घजीवन एक ही प्रकार के उपायों से मिल सकते हैं। जो उपाय दोनों प्रकार के दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिए बतलाये गये हैं, उन उपायों का व्यवहार करने से न किसी प्राणी की आयु और भोगों में अन्तर पड़ता है और न मनुष्यों में असमानता ही उत्पन्न होती है, प्रत्युत सबको एक समान दीर्घातिदीर्घजीवन प्राप्त होता है और सब शान्ति के साथ मोक्षाभिमुखी हो जाते हैं।

इस लोक और परलोक की अमर जीवनधारा एक में मिलाने के लिए और अनन्त जीवन प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त जिन सात उपायों का वर्णन किया गया है, वे समस्त उपाय सारे मनुष्यसमाज को सरलता से तभी मिल सकते हैं, जब संसार में आर्यसभ्यता का प्रचार हो। आर्यसभ्यता के जिन प्रधान प्रधान अंगों से प्राणिमात्र को लोक—परलोक का अनंत जीवन प्राप्त हो सकता है, वे गणना में आठ हैं और ब्रह्मचर्य, सादगी, पशुपालन, जंगलरक्षा, यज्ञ, सार्वभौम राज्य, युद्ध और धर्मप्रचार से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ क्रम से इन आठों अंगो का वर्णन करते हैं।

ब्रह्मचर्य।

आर्यसभ्यता का सबसे प्रधान अङ्ग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा एक आर्य बाल्यावस्था से ही गुरु के पास जाकर चार बातों का अभ्यास करता है। वह अनेक प्रकार की विद्याएँ पढ़ता है वह वीर्यरक्षा के द्वारा बल प्राप्त करता है, वह सादे और तपस्वी जीवन के साथ रहने का अभ्यास करता है और वह नित्य सन्ध्योपासन तथा प्राणायाम के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अभ्यास करता है। आर्यसभ्यता की सारी इमारत इन चार ही अभ्यासों पर स्थिर की गई है। इनमें विद्यासे ज्ञान की वृद्धि होती है और धर्म जाग्रत होता है, जिससे समस्त प्राणियों के साथ प्रेम, दया और समता के भाव पैदा होते हैं उससे किसी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न नहीं पड़ता। वीर्यरक्षा से बल, अमोघवीर्यत्व और तपस्वी—जीवन बनता है, जिससे मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से अपने आवश्यक अर्थों को उत्पन्न कर सकता है, सन्ततिनिरोध की शक्ति उत्पन्न होती है और ब्रह्मवादिनी, पतिव्रता, सती और विधवाधर्म-पालन करनेवाली स्त्रियों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे संसार में चारों ओर धार्मिक वायुमण्डल तैयार हो जाता है। तपस्वी—जीवन से शृंङ्गार का अभाव हो जाता है, लोगों में असमानताजन्य ईर्षा, द्वेष और मद, मत्सर का तिरोभाव हो जाता है और संसार से रोग, दोष, दुःख, दारिद्र का अन्त हो जाता है और सब प्राणी आनन्द से अपना जीवन बिताते हैं। सन्ध्योपासन और प्राणायाम से सदाचार की वृद्धि होती है और परमात्मा का साक्षात्कार होता है, जिससे सब शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं और अन्त में मोक्ष हो जाता

है। अर्थात् ब्रह्मचर्य के उक्त चार साधनों से मनुष्य के जीवन को सफल बनानेवाली जितनी बातें हैं, सब प्राप्त हो सकती हैं, इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता की इमारत इस ब्रह्मचर्यव्रत की मज़बूत आधारशिला पर स्थिर की है और ब्रह्मचर्यव्रत को सुदृढ रखने के लिए बहुत ही कड़ा नियम है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् जो आर्य बालक नियत समय के अन्दर गुरु से दीक्षित होकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन नहीं करता वह व्रात्य हो जाता है और आर्यसमाज से निकाल दिया जाता है। इसका मतलब यही है कि आर्य सभ्यता बिना ब्रह्मचर्याश्रम की प्रतिष्टा के पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती। यही कारण है कि आर्यों ने सबसे प्रथम इसी को अपनी सभ्यता का प्रधान अङ्ग माना है।

सादगी।

आर्यसभ्यता का दूसरा प्रधान अङ्ग सादगी है। आर्यों के तीनों आश्रम सादे हैं। ब्रह्मचारी बानप्रस्थी और संन्यासी मिलकर समस्त आर्यजनसंख्या का तीन चतुर्थांश भाग बिलकुल सादा है। यहाँ तक कि उसके पास घर भी नहीं है। वह हर प्रकार के शृङ्गार और बिलास से–पोशाक अथवा ठाट बाट से–दूर है। अब रहा गृहस्थों का चौथाई भाग, सो वह भी विलासी नहीं है। क्योंकि ब्रह्मचर्य–आश्रम से आने और वानप्रस्थ–आश्रम में शीघ्र ही जाने के कारण तथा रातदिन उसके घर में ब्रह्मचारी और संन्यासियों का निवास होने के कारण वह विलासी और शृङ्गारप्रिय हो ही नहीं सकता। वह तो उक्त तीनों प्रकार के तपस्वी आश्रमियों, बाल, वृद्ध, रोगी और हीनगुण मनुष्यों और पशु, पक्षी, कीट, पतंग, तृण, पल्लवों की सेवा करने और आगे इन सबकी सेवा करनेवाले केवल एक पुत्र को उत्पन्न करके उसे योग्य बनाने में ही रातदिन लगा रहता है। इसलिए आर्यगृहस्थ को सादगी से हटने का मौक़ा ही नहीं होता। फल यह होता है कि इस सादगी से सारा मनुष्यसमाज समता के अलौकिक सुख का उपभोग करता है और भूख तथा ईर्षाद्वेषादि दुःखों से मुक्त हो जाता है।

पशुपालन।

आर्यसभ्यताका तीसरा प्रधान अङ्ग पशुपालन है। जिस प्रकार की सादगी से मनुष्य-समाज को सुख मिलता है, उसी प्रकार पशुपालन से ग्राम्य पशुओं को सुख मिलता है। अतः ग्राम्य पशुओं की सेवा करना आर्यों ने अपना विशेष कर्तव्य समझा है। यह कर्तव्य आर्यों ने निरर्थक ही नहीं मान लिया था, प्रत्युत इसके दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि आर्यों के विश्वासानुसार समस्त पशु पूर्वजन्म के मनुष्य हैं और पापों के कारण इन योनियों में उत्पन्न होकर पाप का प्रायश्चित कर रहे हैं और दूसरा कारण यह था कि जिनके साथ इन्होंने पूर्वजन्म में अनुचित व्यवहार किया था और हानि पहुँचाई थी, उनको इस जन्म में उस हानि का प्रतिफल देने के लिए आये हैं, इसलिए इनको इनके भोगों को देते हुए पूर्ण आयु जीने का मौक़ा देना चाहिए और थोड़ा सा काम लेकर इनको पूर्वऋण से उद्धार करना चाहिए। इन विश्वासों से प्रेरित होकर आर्यों ने पशुपालन को अपना धर्म मान लिया था और उनकी सहायतासे अपनी आर्थिक समस्या को सहज ही हल कर लिया था। पशुओं से आहार और वस्त्रों के लिए दूध, दधि, घृत, हविष्यान्न और ऊन

आदि को लेकर तथा उनको सवारी, बारबरदारी, कृषि, पहरा और सफ़ाई के काम में लगाकर अपने सादे और तपस्वी-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी अर्थों को सिद्ध कर लिया था ।

जङ्गलों की रक्षा ।

आर्यसभ्यता का चौथा प्रधान अङ्ग जंगलों की रक्षा और वाटिकाओं का लगाना है। जंगलों और वाटिकाओं से फलों, अन्नों और पशुओं के चरने योग्य तृणों की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि आर्यों का तपस्वी समाज वनस्थ होकर जंगलों में ही निवास करता है और उनके पशु भी जंगलों में ही चरते हैं। इसके अतिरिक्त जंगलों से जो दूसरा लाभ है वह हवा की शुद्धि का है। संसार में जितनी प्राणनाशक वायु उत्पन्न होती है, उसको सब वृक्ष ही खाते हैं और बदले में प्राणप्रद वायु देते हैं। यही कारण है कि वायु की अशुद्धि से उत्पन्न होनेवाली बीमारी जंगलों में नहीं होती। इसी तरह जंगलों से तीसरा लाभ वर्षा से सम्बन्ध रखता है। जंगल वर्षा के भी कारण हैं। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ़ दि वर्ल्ड' में लिखा है कि वर्षा में न्यूनाधिकता उत्पन्न कर देना मनुष्य के हाथ में है। यदि वर्षा कम करना हो तो जंगलों को काट दीजिये और यदि वर्षा अधिक बरसाना हो, तो जंगलों को लगा दीजिये *। जैसे जैसे जंगल कटते जाते हैं और खेती बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे वर्षा कम हो रही है और संसार से जलसम्बन्धी आर्द्रता नष्ट हो रही है। 'ज्योति' नामी मासिक पत्रिका के ज्येष्ठ संवत् १९७९ के अंक में लिखा है कि 'मि० मार्टल का कथन है कि पानी कम पड़ रहा है, भूमि सूख रही है और पानी उड़ रहा है। सहारा में जो बड़े बड़े द्राह थे और जिनमें पानी हमेशा रहता था, वे सूखते जाते हैं। Grand Canou की नदियों का सूखना और उनके स्थानों में केवल Great Salt Lake का रहना, तथा प्रावेन्स की तराइयों, अफ्रिका के कई स्थानों और मध्य एशिया के जलों का सूखना आगे आनेवाली दुर्घटना के चिह्न हैं। यद्यपि कई स्थानों में तो लाखों वर्षों से अथवा भूविद्या के त्रेतायुग (Quaternary period) से सूखने की क्रिया जारी है; किन्तु कई स्थानों में तो देखते देखते अर्थात् ऐतिहासिक समय से ही जल का सूखना आरम्भ हुआ है। पानी के सूखने के तीन ही कारण अर्थात् वर्षा की कमी, जंगलों का नाश और खेतों का विस्तार ही बतलाये जाते हैं'। जंगलों से अधिक वृष्टि होने का प्रमाण वेद में भी मिलता है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः ।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥ (ऋग्वेद १।२४।७)

अर्थात् अवर्षण के समय में पवित्र करनेवाला वरुण (राजा) वन के ऊपर स्तूप—जलराशि—देता है और नीचे गिरती हुई जलधाराएँ उस स्तूप के ऊपर ठहरती हैं। जिनको अन्तरिक्ष में ठहरी हुई किरणें लाती हैं। तात्पर्य यह कि सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में जल का संचय करके अवर्षण के समय मे भी वर्षा को वनों के ऊपर गिरने की प्रेरणा करती हैं। इसीलिए जंगलों में कभी अवर्षण नहीं होता। परन्तु जहाँ जंगल नहीं हैं, केवल खेती

---

* Those features are permanent qualities which man can effect only to a limited extent as when he reduces the rain fall a little by cutting down forests or increases it by planting them. (Harmsworth History of the World, P. 33)

ही होती है, वहाँ जिस प्रकार अनावृष्टि से दुष्काल हो जाता है, उसी तरह अतिवृष्टि से भी दुष्काल हो जाता है। परन्तु जंगलों में अनावृष्टि तो होती ही नहीं, प्रत्युत अतिवृष्टि से भी दुष्काल नहीं होता। क्योंकि अतिवृष्टि से घास और वनवृक्ष खूब बढ़ते हैं, जिनसे फल प्राप्त होते हैं और गोचारन से दूध प्राप्त होता है। इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में जंगलों की रक्षा को महत्त्व दिया है।

यज्ञ।

आर्यसभ्यता का पाँचवा प्रधान अङ्ग यज्ञ है। यद्यपि यज्ञ का अर्थ बहुत विशाल है, किंतु यहाँ यज्ञ का अर्थ इच्छानुसार पानी बरसाना है। आर्यों की सभ्यता में इच्छानुसार पानी बरसाना एक विशेष आविष्कार है। आर्यसभ्यता में इस आविष्कार की महत्ता इसलिए है कि मनुष्य का निर्वाह पशुओं पर, पशुओं का वृक्षों पर और वृक्षों का वर्षा पर अवलम्बित है। यदि पानी न बरसे, तो वृक्षों का अभाव हो जाय और वृक्षों के अभाव से पशुओं का और पशुओं के अभाव से मनुष्यों का अभाव हो जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणिमात्र का निर्वाह केवल वर्षा पर ही अवलम्बित है। इसीलिए आर्यों ने इच्छानुसार पानी बरसाने की विद्या का आविष्कार किया था। इस विद्या का आविष्कार आर्यों के मौलिक ज्ञान—यज्ञ—के द्वारा हुआ था। यज्ञ के द्वारा ही इच्छानुसार पानी बरसाया जाता था। शतपथ ब्राह्मण ५।३ में लिखा है कि 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' अर्थात् अग्नि से धूम, धूम से बादल और बादलों से वृष्टि होती है। इसी बात को मनुस्मृति ने इस प्रकार कहा है कि—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३।७६)

अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य की किरणों में पहुँचती हैं और सूर्य की किरणों से वृष्टि होती है, तथा वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। यही बात भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् इस प्रकार कहते हैं कि—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (भगवद्गीता ३।१४)

अर्थात् अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होते हैं, वर्षा यज्ञों से उत्पन्न होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इन वर्णनों से पाया जाता है कि आर्यों ने किसी खास प्रकार के यज्ञ से इच्छानुसार पानी बरसाने की विद्या ढूँढ निकाली थी। इस प्रकार की विद्या असम्भव नहीं है। इस ज़माने में भी कुछ लोग इच्छानुसार पानी बरसा सकते हैं। 'ऋग्वेदिक इंडिया' में बाबू अविनाशचन्द्र दास कहते हैं कि 'इस समय भी जंगली जातियों में वर्षा बरसानेवाला मौजूद है। यह वर्षा बरसाने के लिए कुछ क्रिया करता है और वर्षा बरसा लेता है। जंगली जातियों में इनका बड़ा मान है' +। इसी

+ Even in modern times, the rain-maker is the most important person among savage tribes. He pronouoces incantation and performs mysterious rites with the object of bringing down rain form the heaven. He is the priest in embryo and wilds great influence in savage society, (Rigvedic India, p. 555.)

तरह का एक वर्णन लाहौर के 'कर्मवीर' पत्र के २४ मार्च सन् १९२८ के अङ्क में छपा है। उसमें लिखा है कि 'सन् १९२१ में केलिफ़ोर्निया में मिस्टर हैटफ़ील्ड ने कहा कि मैं आकाश से पानी बरसा सकता हूँ। वहाँ के किसानों ने दो हज़ार पाउण्ड देकर अपने यहाँ पानी बरसाना मंजूर किया। लिखा पढ़ी हो गई और रुपया बैंक में जमा कर दिया गया। मिस्टर हैटफ़ील्डने एक झील के किनारे सुनसाम स्थान में अपनी झोपड़ी बनाई और अपनी क्रिया आरम्भ की। तीसरे ही दिन पानी बरसना शुरू हो गया और उन्होंने दो हजार पाउण्ड बैंक से ले लिए। मिस्टर हैडफ़ील्ड ने पानी बरसाने की विद्या को सिद्ध कर लिया है। वे पानी बरसाने के पाँच सौ प्रयोग कर चुके हैं। प्रत्येक बार उनको सफलता हुई है। वे ऊँचे ऊँचे टीलों या मिनारों पर आग जलाकर कुछ ऐसे पदार्थ डालते हैं, जिनके योग से वाष्प सघन होकर बरसने लगती है'। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि खास प्रकार की क्रिया—यज्ञ—से इच्छानुसार पानी बरस सकता है। इसी प्रकार की किसी क्रिया के द्वारा पूर्वकालीन आर्य भी इच्छानुसार पानी बरसाते थे। वेदमें जो 'निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु' लिखा है, उसका यही मतलब है कि जब जब वर्षा की कामना की जाती है, तब तब यज्ञ के द्वारा पानी बरसता है।

पानी बरसानेवाले यज्ञों में घी का बहुत बड़ा खर्च होता है। क्योंकि घी में हवा के रोकने और दूसरे तरल पदार्थों को अपने साथ जमा देने का गुण है। इसीलिए अग्नि के द्वारा आकाश में घी इतना अधिक फेंक दिया जाता है कि वह घृत बाष्प ऊपर की ओर अपना एक सीधा मार्ग बना लेता है जिसमें वायु प्रवेश नहीं कर सकता। घी का वायुप्रतिरोधक गुण हम रोज अपने अनुभव मे देखते हैं। हम देखते हैं कि सर्दी के दिनों में वायुप्रवेश से बचने के लिए लोग घी, मक्खन, मलाई या मोम को चेहरे और हाथ पावों में लगाते हैं, जिसके कारण वायु से खाल नहीं फटती। दूसरा तजुरबा हम घी को एक कटोरी में भर-कर और आग में चढ़ाकर देख सकते हैं। एक ही साथ एक कठोरी म पानी भरकर और दूसरी में घी भरकर आग में चढ़ाने से हमको दिखलाई पड़ेगा कि घी शान्तरूप से धीरे धीरे जलकर कम हो रहा है, पर पानीवाली कटोरी की पेंदी में छोटे छोटे बुदबुदे उत्पन्न होते हैं। बुदबुदे बढ़ते हैं, फूटते जाते हैं और पानी कम होता जाता है। पानी में बुदबुदे के उत्पन्न होने का कारण पानी में हवा का प्रवेश है, और घी में बुदबुदों के न होनेका कारण हवा का प्रतिरोध है। पानी में हवा प्रवेश हो जाती है, पर घी में प्रवेश नहीं कर सकती। इन दोनों अनुभवों से ज्ञात होता है कि घी में हवा के प्रतिरोध करने का गुण है। यही कारण है कि अग्नि के द्वारा जब आकाश में घी फेंका जाता है तो वह अपने अन्दर वायु को नहीं घुसने देता और दूर तक ऊपर की ओर एक सीधा स्तूपाकार मार्ग बना देता है। फल यह होता है कि नीचे की सघन वायु विरल होकर उड़ जाती है और उस घृतमार्ग में आकाशस्थित जलबाष्प भर जाता है और घी में पानी को जमा देने की शक्ति होने के कारण जलबाष्प सघन हो जाता है और पानी होकर बरस पड़ता है। घी में पानी के जमाने की शक्ति भी सबके अनुभव में है। हम देखते हैं कि सर्दी के दिनों में घी के साथ छाँछ का पानी भी जम जाता है। जिस तरह सर्दी से घी जम जाता है, उसी तरह ऊपर के जलवाष्प की ठंडक से घृतबाष्प भी जम जाता है और अपनी जमावट के साथ साथ जलबाष्प को भी सघन बना देता है और पानी के रूप में बरसा देता है। अनुमान होता है कि प्राचीन आर्यों ने घृत के

इन गुणों के साथ अन्य ऐसे ही पदार्थों के गुणों का संग्रह करके किसी विशेष प्रक्रिया के द्वारा जल बरसाने की विद्या सिद्ध कर ली थी जिससे वे इच्छानुसार जल बरसा लेते थे और जल से वनवृक्षों, वनवृक्षों से पशुओं और पशुओं तथा वनवृक्षों से समस्त मनुष्यों के अर्थकष्ट को दूर कर देते थे।

सार्वभौम राज्य।

आर्यों की सभ्यता का छठा प्रधान अङ्ग सार्वभौम राज्य है। आर्यों के विश्वासानुसार जब तक समस्त संसार के मनुष्यों का शासन एक ही राज्य के द्वारा न हो और जब तक समस्त संसार के मनुष्य एक ही रीतिनीति के न हो जायँ और जब तक सब मनुष्य एक दूसरे के लिए त्यागभाव से बर्ताव न करें, तब तक किसी को भी सुख शांति नहीं मिल सकती और न आर्यों की आदर्श नीति ही जगद्व्यापी हो सकती है। यह जगद्व्यापी ऐक्यता सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य से ही स्थापित हो सकती है। यही कारण है कि पूर्वकाल मे आर्यों ने सार्वभौम राज्य स्थापित करने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। उनके आदिम-कालिक इतिहास में अनेकों चक्रवर्ती राजाओंका वर्णन मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि वे अपने शुभ संकल्प में कृतकार्य हुए थे और जगद्व्यापी सभ्यता स्थापित कर सके थे।

युद्ध।

आर्यों की सभ्यता का सातवाँ प्रधान अङ्ग युद्ध है। यह आपद्धर्म माना गया है। जिस प्रकार अन्य आपत्तियों के समय अन्य आपद्धर्मों की योजना होती है, उसी प्रकार असभ्य बर्बरों को शिक्षित करने के लिए युद्ध का प्रयोग भी स्वीकार किया गया है। युद्ध के द्वारा आर्यों ने सदैव आततायी बर्बरों को वश में किया है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता में युद्धनिपुण योद्धा का बड़ा मान रहा है। जो आर्य युद्ध से घबराता था, वह आर्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता था। यही कारण है कि श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को युद्ध से हटते हुए देखकर कहा था कि '**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन**' अर्थात् हे अर्जुन! तुम्हारी ये बातें अस्वर्ग्य, अप्रीतिकर और अनार्यों की सी हैं। यहाँ कृष्ण भगवान् के द्वारा कायर को अनार्य कहा गया है और दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और ऐसे ही अन्य आततायी कौरवों बर्बर समझा गया है। इससे ज्ञात होता है कि युद्ध आर्यों की सभ्यता का विशेष अङ्ग है। क्योंकि विना युद्ध के—विना बर्बरों को शिक्षा दिए—सीधे सादे आर्यसमाज को सुखशान्ति मिल ही नहीं सकती और न चक्रवर्ती राज्य ही स्थापित हो सकता है। यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में युद्ध को आवश्यक समझा है।

धर्म-प्रचार।

आर्यों की सभ्यता का आठवाँ और अन्तिम अंग धर्म-प्रचार है। धर्मप्रचार के द्वारा आर्य लोग अपने विचारों और आचारों का संसार में प्रचार करते थे। जिस प्रकार युद्ध के द्वारा आततायी बर्बरों को आर्यों का सम्राट् शिक्षित करता था, उसी प्रकार धर्मप्रचार के द्वारा सभ्य मनुष्यों को आर्यों का परिव्राट् शिक्षित करता था। जब कोई बर्बर उनको सताता था तो उसे वे युद्ध के द्वारा परास्त करते थे और कोई सभ्य जाति किसी राजनैतिक चातुर्य से

उनका या उनकी सभ्यता का नाश करना चाहती थी, तो वे उसे अपने धार्मिक आचार प्रचार से वश में करते थे और अपनी सभ्यता की रक्षा कर लेते थे। इस बात का नमूना हम आज अपनी आँखों से देख रहे हैं। आज हमने प्राचीन आर्यसभ्यता के केवल एक छोटे से अंग चर्खा और खद्दर की पुनः प्रतिष्ठा करके योरप की सभ्यजातियों के यान्त्रिक कुचक्र को ढीला कर दिया है। इसी तरह यदि हम वैदिक आचार व्यवहार के अनुसार अर्थ और काम सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार में अपने प्राचीन आर्यों की सी सादी रहनसहन बना लें और अपने प्राचीन आर्यों की भाँति तपस्वीजीवन बिताने लगें तो बिना किसी तोप बन्दूक के, बिना किसी युद्धोपकरण के हम न केवल योरप की वर्तमान नीति को परास्त करके उसके चंगुल से निकल सकते हैं, प्रत्युत संसार की अर्थ और काम संबंधी एक बहुत बड़ी और आवश्यक समस्या को हल करने में भी समर्थ हो सकते हैं, जिस हल के खोज में योरप के उच्च मस्तिष्क एक शताब्दी से व्यग्र हैं और नाना प्रकार की शिक्षा, सभ्यता और व्यवस्था का प्रचार कर करके संसार को उलझनों में डाले हुए हैं।

यही वैदिक आर्य सभ्यता के प्रधान अंग हैं और इन्हीं अंगों को स्वीकार करने से आर्य लोग अपनी रक्षा करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करते थे और इस समय भी प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए हमने इस पुस्तक के उपक्रम में जिन नेचरवादियों की रीति नीति, आचार व्यवहार और रहन सहन का उल्लेख किया है और उसमें जो त्रुटियाँ बतलाई हैं, उनकी पूर्ति बिना वैदिक आर्यों की इस सभ्यता को पूर्णरूप से स्वीकार किये और बिना आर्यों की वर्णाश्रमव्यवस्था को अपनाए, नहीं हो सकती। चाहे जितने प्रकार की व्यवस्थाएँ और स्कीमें तैयार की जायँ और चाहे जितने प्रकार की शिक्षाएँ प्रचलित की जायँ, उनसे संसार के समस्त मनुष्यों और अन्य समस्त प्राणियों को लोक से संबंध रखनेवाली दीर्घजीवन-समस्या और परलोक से संबंध रखनेवाली अनंत जीवनसमस्या प्रलयपर्यंत हल नहीं हो सकती। इन समस्याओं को आर्यों की वर्णाश्रमव्यवस्था ही सरलता से हल कर सकती है और एक ऐसा मार्ग बना सकती है जिसके द्वारा आसानी से अपने अपने समाज की रक्षा करते हुए मनुष्यादि समस्त प्राणी लोक और परलोक के संपूर्ण सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। यही शांति का सच्चा उपाय है और यही इस पुस्तक के उपक्रम का उपसंहार है। अतएव प्राचीन आर्यसभ्यता के प्रेमियों को चाहिये कि वे अपने विचार, आचार और प्रचार से इस परमेश्वरप्रदत्त वैदिक सभ्यता को संसार भर में फैला दें और सबको सबसे लाभ पहुँचाकर इस संसार को एक बार फिर आर्य आदर्श से पूर्ण कर दें। परमात्मा की अतुल दया और विद्वानों की असीम सहानुभूति से हमारी यह अन्तरेच्छा शीघ्र पूर्ण हो।

॥ इत्योम् शम् ॥